



स्त्री नैतिकता
का
तालिबानीकरण

स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण

सम्पादक

रमणिका गुप्ता • विमल थोराट

सह-सम्पादक

अनिता भारती • प्रोमिला

ISBN 978-81-89006-30-3

© रमणिका फाउण्डेशन

संस्करण : 2009

प्रकाशक

नवचेतन प्रकाशन

जी-5, गली नं. 16, राजापुरी

उत्तमनगर, दिल्ली-110059

प्रमुख वितरक

10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032

मूल्य : 300.00

आवरण : उमेश शर्मा

लेजर कम्पोजिंग : उमेश लेजर प्रिंटर्स, दिल्ली

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032



STRI NAITIKTA KA TALIBANIKARAN

Edited by Ramnika Gupta / Vimal Thorat

अनुक्रम

संपादकीय : खरी-खरी बात

रमणिका गुप्ता : नंगा हो मत नाच!	7
विमल थोरात : 'मनुस्मृति' का तालिबानी विस्तार	19
अनिता भारती : अन्याय के खिलाफ लड़ना ही नैतिकता है	28
प्रोमिला : बड़ी लकीर खींचना सीखिए	34

आधी दुनिया का जवाब

सुशीला टाकभौरे : स्त्री विरोधी पुरुषों की विकृत मानसिकता का खण्डन	37
करुणा : विवाह, सन्तान और उत्तरदायित्व	50
डॉ. कुसुम मेघवाल : बुद्धिहीनता और कृतघ्नता का परिचायक	59
उपासना गौतम : दलित स्त्रियों पर ही व्यभिचार का आरोप क्यों?	64
अनामिका : साहित्य का मातृ-शिशु कल्याण विभाग	66
पुष्पा विवेक : दलित स्त्रियां सबक सिखाने का हौसला रखती हैं	70
वन्दना मिश्र : मर्यादा और अपमान का युद्धक्षेत्र स्त्री-देह ही क्यों?	73

चिन्तक का यथार्थ

प्रो. तुलसीराम : दलित समाज के नए 'साई बाबा'	78
सूर्यनारायण रणसुभे : जो बलात्कार के दृश्य पर भी खुशी से सीटी बजाए...	97
श्रीधरम : जारकर्म के 'वास्कोडिगामा'	106
बजरंग बिहारी तिवारी : साखी सबदी गावत भूले	114
भागीरथ : शत्रु को नामजद किये बिना युद्ध कैसे लड़ सकते हैं?	120
ओमप्रकाश वाल्मीकि : ...के आलोचक का फासीवाद	127
डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना : बेधर्मवीर और बेशर्मवीर बनने की दास्तान	130
हरीश मंगलम् : जारकर्मी दार्शनिकता का दस्तावेज	136
रमेश निर्मल : यह 'दलित' से 'हरिजन' हो जाना है	144

रामचन्द्र : तनी मुट्टियाँ और प्रतिरोधी स्वर की अहमियत	151
राजकिशोर : दलित स्त्रियाँ किसकी संपत्ति हैं	157
अरुण माहेश्वरी : दलित चिंतन का वितंडावाद	162
सुनील कुमार 'सुमन' : पहले आत्मालोचन कर लें	166
कफन : तर्क या कृतर्क?	
वेद प्रकाश : आप किधर हैं?	170
रणेन्द्र : कफन : हंगामा है क्यों बरपा?	177
द्वारिका प्रसाद चारुमित्र : अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते	180
जय कौशल : पाठ या कुपाठ	186
डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त : दलित विमर्श के भंवर में पड़ी 'कफन' कहानी का व्यंग्य, विद्रूप और विडम्बना	189
फोबिया-कथा	
ओमराज : प्रेमचंद फोबिया और कफन-मीनिया की व्याधि	195
अरुण कुमार गौतम : तेरा क्या होगा कालिया!	201
परिचर्चा	
चमन लाल : गाली-गलौज करना असभ्यता की निशानी है	209
कृष्ण कुमार 'आशु' : स्त्री की कोई जाति नहीं	212
सन्तोष खरे : जारसत्ता के महान खोजी	214
निर्मल मिलिंद : रघुवीर काठ की हांडी	218
खुदेजा खान : कि मिटे आपस का भेद	220

खरी-खरी बात

नंगा हो मत नाच!

रमणिका गुप्ता

छली, प्रपंची तू बड़ा, है कपटी मक्कार ।
महायुद्ध के नाम पर अपनों से ही रार ॥
पावन 'बुधिया' चरित को, ठीक-ठीक तू जांच ।
जारकर्म की आड़ में नंगा हो मत नाच ॥

(सूरजपाल चौहान)

इस पुस्तक में आलेखों के माध्यम से हम जो बात आपके सामने रखने जा रहे हैं, उस बात को सूरजपाल चौहान ने गागर में सागर भर कर इन दो छोटे दोहों की शक्ति में प्रस्तुत कर दिया है। बहरहाल सूरजपाल चौहान का मत तो स्पष्ट हो गया। राजेन्द्र यादव ने तो 'हंस' का पूरा एक संपादकीय ही डॉ. धर्मवीर के विचारों के खंडन में समर्पित किया था। इनके अतिरिक्त डॉ. अजय तिवारी, राजकिशोर, अरुण माहेश्वरी के विचार 'जनसत्ता' तथा 'राष्ट्रीय सहारा' आदि में, उन दिनों जब डॉ. धर्मवीर की पुस्तक आई और महिलाओं ने उसका विरोध किया प्रकाशित हुए थे, जिनमें उनकी दृष्टि स्पष्ट होती है। डॉ. तुलसीराम ने तो आज से कुछ बरस पहले ही डॉ. धर्मवीर के इन स्त्री विरोधी विचारों के खिलाफ एक लम्बा लेख लिखा था, जिसे इस पुस्तक के लिए उन्होंने भेजा। राजकिशोर और अरुण माहेश्वरी के प्रकाशित लेख हम इस पुस्तक में पुनः प्रकाशित कर रहे हैं।

यह तो हो गया हमारा आभार-खुशी या गुस्सा-गिला अथवा उलाहना, जिसका इजहार करना हमारा हक बनता है। आज तक लोग औरतों को 'फॉर ग्राटेड' ही लेते रहे हैं, इसलिए अपने इस गुस्से के इजहार से हम यह बता देना चाहते हैं कि अब और 'फॉर ग्राटेड' नहीं चलेगा। गंभीर मुद्दों पर महिलाएँ स्वयं विचार-विमर्श और बहस करना जानती हैं और अनेक लेखक व चिंतक हैं, जो उनके साथ खड़े हैं, भले अपवाद-स्वरूप कुछ साथ न दें।

सच है कि सृष्टि का आरंभ ही जारकर्म से हुआ और सदियों क्या लाखों बरस बाद जब से सभ्यता का विकास होना शुरू हुआ, तब से आज तक जारकर्म

बदस्तूर जारी है। दरअसल जारकर्म मनुष्य और मनुष्य के बीच आपसी रिश्ते या सलूक की परिभाषा का एक आदिरूप या परफार्मा है (बशर्ते आप स्त्री को मनुष्य समझें)। जब तक स्त्री-पुरुष दोनों मनुष्य माने जाते रहे, जारकर्म एक स्वाभाविक प्रक्रिया मानी जाती रही। यह नर और मादा का स्वाभाविक रिश्ता माना जाता था। जब से नर पुरुष और मादा स्त्री बना दी गई, तब से जारकर्म का अर्थ बदल गया। पहले नर-मादा का यह रिश्ता सृष्टि-सृजन, सन्तति और प्रेम का स्वाभाविक प्रतीक था। बाद में जब नर-पुरुष ने मादा-स्त्री पर अपना कब्जा जमा लिया तब इस रिश्ते का अर्थ बदल गया और उसे व्यभिचार या बलात्कार का प्रतीक बना दिया गया। दुनिया भर में आज भी जारकर्म कई रूपों में मौजूद है कहीं सम्मानित तो कहीं अपमानित होकर। कई समाजों की आचारसंहिताओं में भी यह शामिल है। मनुष्य ही समाज का निर्माण करता है और उसके नियम भी वही बनाता है। जो नियम स्त्री-पुरुष दोनों की सहमति से बनते हैं, वे समानता, उदारता और सहयोग को प्रोत्साहित करते हैं। जहाँ पुरुष हावी हो जाता है, वहाँ स्त्री गुलाम होकर रहती है।

दरअसल सृष्टि की शुरुआत में जब मनुष्य जन्मा और उसमें सोचने की शक्ति आई, शायद सबसे पहले उसने जो सीखा होगा या कहें कि सीखा था वह विनाश और निर्माण की प्रक्रिया ही हो सकती है। बोलने की ताकत तो उसमें बहुत बाद में आयी। पहले वह इशारों में ही संवाद करता होगा। वैसे निर्माण और विनाश एक-दूसरे के पूरक होते हैं। कुछ नया गढ़ने के लिए कुछ पुराना तोड़ना ही पड़ता है। विनाश नये रूप के निर्माण के लिए स्थान और वातावरण तैयार करता है। ये दोनों प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं। जैसे ही कोई एक प्रक्रिया रुकती है, जड़ता आ जाती है। यह जड़ता वर्चस्ववादी रुझान को जन्म देती है। जो भी हो, इन दोनों प्रक्रियाओं में मनुष्य की अहम् भूमिका होती है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक बदलावों का सूत्रधार मनुष्य ही रहा है। सारे धर्म, सारे ईश्वर, मनुष्य की देन हैं। जब मनुष्य-मनुष्य में, जिसमें स्त्री भी शामिल है प्रेम, स्नेह, सहयोग, सम्मान, आदर, कल्याण और भाईचारे की भावना व्याप्त होती है, तो वर्चस्व की भावना कमजोर पड़ जाती है और जैसे ही वर्चस्व की भावना सिर उठाती है, तो उपरोक्त सारी सद्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। रह जाता है केवल वर्चस्व, कब्जा, स्वार्थ, जिसे लालच पुष्ट करता रहता है।

हालांकि स्त्री और पुरुष मानव समाज के दो पूरक अंग हैं। बावजूद इसके पुरुष ने स्त्री पर आधिपत्य जमाने के लिए अनेक कानून गढ़े, नियम बनाए, फतवे और संहिताएँ सिरजीं। उन्हें धर्म सम्मत बनाकर स्त्री को गुलाम बनाया।

ऐसे तो मनुष्य ने अपने से कमजोर पुरुषों को भी गुलाम या दास बनाया है लेकिन उनकी मुक्ति के रास्ते खुले थे।

8 • स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण

दुर्भाग्यवश भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ मनुष्य जन्म के कारण मनुष्य का गुलाम है, दास है, अछूत है। यहाँ दलित और स्त्री के लिए मृत्यु से पहले मुक्ति का रास्ता नहीं है। स्त्री को भी स्त्री होने के कारण गुलाम की श्रेणी में ही रखा जाता है, वैसे स्त्रियाँ तो सारी दुनिया में ही दूसरे दर्जे की नागरिक मानी जाती हैं। उन्हें देवी बनाकर पूजा तो जाता रहा है, मगर जहाँ तक मानवीय अधिकारों की बात है, वे कभी भी समाज द्वारा स्त्री को सहजता से नहीं दिए गए। मातृसत्तात्मक समाज में भी कहीं न कहीं, किसी न किसी ढंग से परोक्ष या अपरोक्ष रूप से मामा या चाचा का दखल रहता ही है, भले वहाँ पिता, पुत्र या पति गौण होते हैं।

सभी धर्मों ने स्त्री को नकारा है और अपमानजनक शब्दों से पुकारा है। पुरुष प्रधान समाज ने तो सारी की सारी अश्लील और अभद्र गालियाँ स्त्री के अंगों से जोड़ कर गढ़ी हैं। उसने स्त्री को बराबर तो कभी माना ही नहीं। संहिताओं में कभी ढील दे दी गई, तो कभी उन्हें कस दिया गया। संकीर्णता कभी घटा दी गई तो, कभी बढ़ा दी गई। औद्योगिक युग के बाद जब भगवान का मिथक टूटा तो मनुष्य केन्द्र में आया। पूंजी को मनुष्य के श्रम की दरकार थी, इसलिए मनुष्य का श्रम पूंजी के मुनाफे के लिए महत्वपूर्ण बन गया। कृषि प्रधान समाज में, जो सामंती व्यवस्था के अधीन होता है, स्त्रियाँ ही ज्यादा श्रम करती हैं। मनुष्य की स्वतन्त्रता के साथ-साथ स्त्री की आजादी का सवाल भी इसी युग में उठा। इससे पहले के युगों में गौतम बुद्ध के युग को छोड़ कर भारत में स्त्रियों की समानता का सवाल कभी सामने नहीं आया। स्त्री गुलाम रही अनुगामिनी रही, जीती जाती रही हारी जाती रही पुजती रही या पूजी जाती रही। वह द्रौपदी बन कर पांच पतियों को झेलती रही और सदैव दांव पर लगाई जाती रही। वह न तो बराबर समझी गई और न ही अपना निर्णय खुद ले सकने में सक्षम। जो रजिया, अनारकली, हीर, लैला या शीरीं बनीं, वे मार डाली गई या गार्गी की तरह धमकाई जाती रहीं।

सृष्टि के आरम्भ में भले स्त्रियाँ स्वतन्त्र थीं। अभी भी जहाँ कबीला या आदिम समाज है, वहाँ स्त्रियाँ तथाकथित मुख्यधारा के समाज से अधिक स्वतन्त्र हैं। जिन महान पुरुषों, सन्तों, योगियों, ऋषियों, अवतारों, मसीहों, पैगम्बरों या धर्म गुरुओं के निर्देश से समाज चलता है, वे अपनी तथाकथित महानताओं के बावजूद, इतने क्षुद्र, संकीर्ण और बौने क्यों थे? क्या यह उनकी हीन-भावना थी या हीन-भावना के चलते पैदा हुई बड़प्पन की भावना (Superiority Complex) अथवा उनकी कायरता? हो सकता है कि स्त्री को लेकर उन्हें खुद अपने पर ही विश्वास न हो। यह खोज का विषय है। स्त्रियों के प्रति मनु की आचार संहिता की संकीर्णताएँ हों या इस्लाम के तालिबानी मुल्ला-मौलवियों या उनके पर्सनल लॉ की संहिताएँ अथवा इसाई धर्म के पोप के स्त्रियों के खिलाफ गर्भपात, तलाक या दूसरे विवाह को लेकर बनाये गए निर्देश, एक बात जो सभी में समान है, वह यह कि किसी

भी धर्म ने स्त्री को न तो निर्णय लेने का अधिकार दिया और न ही उसे स्वावलम्बी बनने दिया। इससे बड़ा मानवीय अधिकारों का उल्लंघन और क्या हो सकता है? सच तो यह है कि धर्म भेदभाव करता रहा है। मनुष्य को प्रेम, बराबरी और मुक्ति देने की बजाय वह आपसी दुश्मनी, ऊंच-नीच, भेदभाव पैदा करने तथा गुलाम बनाने का दोषी भी है। चाहे कबीर हों, चाहे तुलसी जैसे भक्त कवि या घोषाल जैसे किस्मतवादी आजीवक, चाहे वेदों की ऋचाएँ गाने वाले ऋषि अथवा पुराणों की कथाएँ सुनाने वाले पाण्डे या कुरान की आयतें या बाइबिल पढ़ने वाले मुल्ला-पादरी, सभी के सभी औरत को पुरुष के अधीन रहने की हिदायत ही नहीं देते, बल्कि वे उन्हें 'नरक का कुण्ड', 'माया', 'महाठगनी' व 'ताड़न की अधिकारी' बताते रहे हैं। पश्चिमी धर्मों में तो औरत को आदिम की 'पसली' से बना बताया गया है। वैदिक धर्म में ब्रह्मा ने जबरन अपनी पुत्री सरस्वती से ही संभोग कर सृष्टि रच डाली। यानी सृष्टि भी बलात्कार की उपज है। ठीक इसके विपरीत आदिवासी मिथकों में स्त्री-पुरुष दोनों हंस के अण्डे से एक समान बराबर-बराबर पैदा हुए। कोई किसी के अधीन नहीं। दोनों ने मिलकर सृष्टि रची।

गौतम बुद्ध ही तो थे, जिन्होंने सर्वप्रथम स्त्रियों को अपने आश्रम में स्थान दिया था। विश्व में पहली बार अगर कहीं स्त्रियों की संगठित शक्ति खड़ी हुई, जो अपने निर्णय खुद ले सकती थी स्वावलम्बी थी शिक्षित थी चैतन्य थी वह रोम की स्त्री परिषद् के बाद गौतम बुद्ध द्वारा प्रेरित थेरी-शक्ति ही थी, जिसने पुरुष के अत्याचारों का विरोध करते हुए गृहस्थी त्याग कर, समाज सेवा का निर्णय लिया था। मनु की आचार-संहिता के विपरीत बुद्ध ने स्त्री को ज्ञान और तर्क से तो लैस किया ही, उसे अन्याय के विरुद्ध खड़े होकर समाज को शिक्षित करने उनमें ज्ञान बांटने और अपना निर्णय खुद लेने का मार्ग भी दिखाया। थेरियों ने पारिवारिक अन्याय का भी विरोध किया था। विडम्बना तो यह है कि ठीक मनु के सुर में सुर मिलाते हुए या इस्लाम के कठमुल्ले तालिबानों की तर्ज पर खुद को अम्बेडकरवादी और दलित-विमर्श का बड़ा चिंतक बताने वाले डॉ. धर्मवीर थेरियों पर तो उंगली उठाते ही हैं वे गौतम बुद्ध और बाबा साहब अम्बेडकर पर भी आरोप लगाने से नहीं चूकते। और तो और, वे बाबा साहब द्वारा दिये गए धर्म, भाग्य, भगवान, देवी-देवता, अन्धविश्वासों व रुढ़ियों के 'नकार' का निषेध करते हैं। वे तो एक नया धर्म बना कर एक सौ पूंछ वाले बजरंगबली को भी स्वीकार करने को तैयार हैं। जाति तोड़ने की बजाय वे जाति का उन्नयन चाहते हैं।

वे बाबा साहब अम्बेडकर के इस कथ्य को कि बुद्ध को भारत लौट आना चाहिए काटते हुए कहते हैं कि बुद्ध की भारत में कोई दरकार नहीं। उनका मानना है कि गौतम बुद्ध ने स्त्रियों को गृहस्थ धर्म के खिलाफ भड़काया और परिवार त्याग कर उन्हें थेरी बनने को उकसाया। उनका यह भी कहना है कि बुद्ध जब अपनी

पत्नी के पास नहीं लौटे तो उन्हें भारत आने की क्या दरकार है? वे यह आरोप भी लगाते हैं कि थेरी बनने से स्त्रियों के नाचने-गाने पर रोक लगी, जिससे कला और कविता की हत्या हुई, जबकि डॉ. सुरेन्द्र अज्ञात के अनुसार तथ्य यह है कि “वे जिन तिहत्तर थेरियों के प्रति ‘थेरी गाथा की स्त्रियाँ और अम्बेडकर’ पुस्तक में चिंता जताते हैं कि थेरियों की कविता और कला की हत्या हो गई उन्हीं थेरियों की कविताओं की गाथा व कविताओं को वे इसी पुस्तक के हर पृष्ठ पर दर्ज भी करते हैं।” (भीम पत्रिका, फरवरी, 2007) कुछ उद्धरण नीचे दे रही हूँ।

इसी पुस्तक के अध्याय दो में दर्ज है “जब सुमेधा के माता-पिता ने उसे घर लौटने का आग्रह किया तो सुमेधा ने कहा ‘मैं इसी स्थान पर पड़ी-पड़ी भूखी रह करके मर जाऊंगी और यह मेरे लिए अच्छा ही होगा, किन्तु गृह-वास में रह कर मैं आहार ग्रहण नहीं करूँगी।’”(थेरी गाथा की स्त्रियाँ और डॉ. अम्बेडकर, अध्याय दो)

पुणिका अपनी गाथा में कहती है “मैं पनहारिन थी। सदा पानी भरना ही मेरा काम था। स्वामिनियों के दण्ड के भय से, उनकी क्रोध भरी गालियों से पीड़ित होकर, मुझे कड़ी सर्दी में भी सदा पानी में उतरना पड़ता था।”(थेरी गाथा की स्त्रियाँ और डॉ. अम्बेडकर, अध्याय दो)

सुमंगल माता अपनी गाथा में कहती है “अहो! मैं मुक्त नारी हूँ। मेरी मुक्ति कितनी धन्य है! पहले मैं मूसल ले कर धान कूटा करती थी, आज मैं उससे मुक्त हो गई हूँ। मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे (खाना पकाने के) भांडे-बरतन, जिनके बीच मैं मैली-कुचैली बैठती और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों (छतरी) से भी तुच्छ समझता था, जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था।”(थेरी गाथा की स्त्रियाँ और डॉ. अम्बेडकर, अध्याय दो)

“मैं अच्छी तरह से मुक्त हो गई हूँ। ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से, मैं अच्छी तरह मुक्त हो गई हूँ। मैं आज... (जाति) और मरण से भी मुक्त हो गई हूँ। मेरी संसार-तृष्णा ही समाप्त हो गई है।”(थेरी गाथा की स्त्रियाँ और डॉ. अम्बेडकर, अध्याय दो)

“प्रव्रज्या लेकर मैंने घर छोड़ा, अपनी प्रिय सन्तान को छोड़ा, अपने प्रिय पशुओं को छोड़ा। राग और द्वेष को छोड़ा, अविद्या को छोड़कर विरक्त हुई। तृष्णा को समूल नष्ट कर अब मैंने निर्वाण की परम शक्ति का अनुभव किया है। निर्वाण का अनुभव करके मैं परम शान्त हो गई हूँ।”(थेरी गाथा की स्त्रियाँ और डॉ. अम्बेडकर, अध्याय दो)

ये उक्तियाँ शान्त, चैतन्य एवं सन्तुष्ट स्त्रियों की हैं जो ज्ञान प्राप्त कर चुकी हैं और अपना निर्णय खुद ले सकती हैं। किसी दासी या गुलाम-सी पत्नी, बेटी या माँ की नहीं।

“डॉ. धर्मवीर का कहना है कि इन धेरियों को वैवाहिक जीवन बिताना चाहिए था, पर वे यह नहीं बताते कि कृतघ्न, धूर्त, शराबी या किसी दूसरी स्त्री के प्रति आसक्त पति के साथ ये पत्नियाँ, जो धेरियाँ बनीं कैसे रहतीं? (भीम पत्रिका, फरवरी 2007) धर्मवीर धेरियों के खिलाफ या उनके व्यक्तिगत जीवन के बारे में कुछ सिद्ध नहीं कर सके। ये धेरियाँ राजवंश से लेकर साधारण लिच्छवी, वैश्य, ब्राह्मण, लोहार, बहेलिया, मोची, धोबी तक के परिवारों से आई थीं। यहाँ तक कि वेश्याएँ भी धेरियाँ बनी थीं।

“डॉ. धर्मवीर ने जानबूझकर बाबा साहब और बौद्ध धर्म पर कीचड़ उछालने के लिए पुस्तक का नाम ‘धेरीगाथा की स्त्रियाँ और डॉ अम्बेडकर’ रखा है। बौद्ध सभ्यता और संस्कृति में ‘धेरी’ शब्द उतना ही सम्मानजनक है, जितना ‘धेर’। ‘धेर’ विशिष्ट व्यक्ति होता है, जिसे बुद्ध धम्म में आदमी कहना उतना ही आपत्तिजनक होता है, जितना कि धेरियों या भिक्षुणियों को स्त्री कहना।” (भीम पत्रिका, फरवरी 2007) बौद्ध, धर्म नहीं ‘धम्म’ शब्द का प्रयोग करते हैं, जो जीवन-शैली के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

दरअसल बाबा साहब अम्बेडकर और गौतम बुद्ध का विरोध करने को डॉ. धर्मवीर इतने उतावले हो गए कि वे तर्क की बजाय फासिस्ट जातिवादी सवर्णों की तरह परस्पर विरोधी तर्क देने पर उतर आए हैं। वे खुद को दलित साहित्यकार भी कहते हैं जिसका डॉ. अम्बेडकर की अवधारणाओं पर आधारित होना अनिवार्य होता है दूसरी तरफ वे सवर्ण हिन्दुत्ववादियों की तरह सभी दलित स्त्रियों को वेश्या भी ठहराते हैं और मनुवादियों व मक्खलि घोषाल के आजीवकों की तरह वे उन्हें न तलाक की छूट देना चाहते हैं, न तलाक के बाद भरण-पोषण के लिए गुजारे-भत्ते की! स्त्रियों को बराबरी का हक, सम्पत्ति में हिस्सेदारी और पतियों को बहु-विवाह करने से रोकने के लिए तो बाबा साहब ने बकायदा कानून बनवाए थे। उनके द्वारा प्रस्तावित स्त्री-अधिकारों संबंधी संशोधन नहीं माने जाने पर उन्होंने मन्त्रीपद से इस्तीफा तक दे दिया था।

डॉ. धर्मवीर स्त्रियों के वैवाहिक जीवन के लिए चिन्तित दिखते हैं, मगर पता नहीं क्यों वे स्वयं अपना वैवाहिक जीवन नहीं निभा पाए? अपने बच्चों का डी.एन.ए. टेस्ट कराने के लिए तो वे कोर्ट तक जा पहुँचे थे पर पिता के नाते उन्होंने अपनी किसी बेटी की शादी करवाने की जहमत तक नहीं उठाई। एक बेटी ने खुद से शादी कर ली। बड़ी बेटी 36 वर्ष की हो गई पर शादी नहीं हो पाई है चूँकि पिता का कहना है यह उसका जिम्मा नहीं है। वे आई.ए.एस. अफसर हैं पैसे की कोई कमी नहीं पर परिवार को कितना खर्च भेजते हैं ज़रा वे खुद ही बताएँ तो अच्छा हो। यही डॉ. धर्मवीर धेरियों को वैवाहिक जीवन निभाने की नसीहत देते हैं पर कबीर की यह वाणी भी गा-गाकर सुनाते रहते हैं

“एक कनक अरू कामिनी, विष फल कीएऊ पाई।

देखै ही थै विष चढ़ै, खायें सूं मरि जाई॥”

अर्थात् स्त्री और सोने को वे ऐसा फल मानते हैं, जिसे देखने से ही विष चढ़ जाता है, जो इन्हें खाता है, भोगता है वह तो मर ही जाता है।

वे कबीर के भक्त ही नहीं बल्कि उन्हें अपना धर्मगुरु भी मानते हैं। हम कबीर का बहुत आदर करते हैं, जिन्होंने जाति-पाति तोड़ने की बात की और धर्म के आडम्बरों, अनुष्ठानों, और धार्मिक कुरीतियों का विरोध किया। पता नहीं कैसे स्त्री जाति के विरोधी और स्त्री को नर्ककुण्ड और तीनों लोकों में काली नागिन कहने वाले उस कबीर को विवाह या गृहस्थ जीवन का ढिंढोरा पीटने वाले धर्मवीर कैसे स्वीकारते हैं, समझ से परे है? ये विरोधाभास क्या डॉ. धर्मवीर का अवसरवाद नहीं है? कबीर के अनुसार

“नारी नसाबै तीनि सुख, जा नर पासैं होई।

भगति मुकति निज ग्यान में, पैसि न सकई कोई॥”

नारी जिस नर के पास होती है, उसके तीन सुखों को नष्ट करती है। उसे न मुक्ति मिलती है और न ही ज्ञान। भक्ति भी वह कर नहीं पाता।

कबीर मानते हैं “नारी पराई आपणी, भुगत्या नरकहिं जाई।” नारी चाहे पराई हो या अपनी हो उसका भोग करने से आदमी नरक जाता है। (भीम पत्रिका, फरवरी, 2007)

डॉ. धर्मवीर थेरियों को गलत ठहराने के लिए गृहस्थ जीवन पर जोर देते हैं पर पत्नियों को नकारने के लिए कबीर के जाप का सहारा लेते हैं। दरअसल वे पूरी स्त्री जाति को व्यभिचारिणी कहते हैं।

वे विवाह की बात तो करते हैं परन्तु उसे निभाने का जिम्मा नहीं लेते। कट्टर ब्राह्मणवादियों व मक्खलि घोषाल के कठपुतलीवादी, किस्मतवादी आजीवक धर्म की तरह, वे भी स्त्रियों को घर और विवाह की कारा से मुक्त नहीं होने देना चाहते। वे कबीर का नाम लेकर उन्हें ऐसी कारा में कैद रखना चाहते हैं, जिसमें न कोई खिड़की हो, न रोशनदान। वे स्त्री को धूर्त, कृतघ्न पतियों और अकृतज्ञ पुत्रों के भरोसे छोड़ देना चाहते हैं। “ब्राह्मणवादी व तथाकथित आजीवक विवाह पद्धति में तलाक का प्रावधान नहीं था। कबीर की पद्धति में स्त्री को त्यागने की, घर से निकालने की, एक को तज कर दूसरी लाने की, निरंकुशता मान्य है परन्तु पुरुषों (धर्मवीरों जैसे) की सतायी औरत जब उन्हें तजने पर आती हैं, तो डॉ धर्मवीर को घर व विवाह की याद सताने लगती है।” (भीम पत्रिका, फरवरी, 2007)

डॉ. धर्मवीर तो कहते हैं गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे, इसलिए वे दलितों को स्वीकार्य नहीं हो सकते। दलितों के लिए उन्होंने किसी दलित धर्मगुरु की खोज शुरू की, तो खोज निकाला मक्खलि घोषाल को। हालांकि घोषाल कहार थे पर उन्हें वे इसलिए

सूट करते हैं क्योंकि वे स्त्री विरोधी थे।

जिस प्रकार डॉ. धर्मवीर ने स्त्रियों को घर की कैद में रखकर उनसे हर अधिकार छीनने की बात कही है, उससे तो लगता है कि वे मनु से होड़ लगा रहे हैं। मनु सौ पवित्र स्त्रियों को भी एक पुरुष के बराबर नहीं मानते। हिन्दू धर्म के अनुसार कोई स्त्री स्वतन्त्र रह ही नहीं सकती। उसे किसी न किसी पुरुष पर आश्रित रहना ही होगा। इस्लाम दो स्त्रियों की गवाही को एक पुरुष के बराबर मानता है। डॉ. धर्मवीर सभी स्त्रियों को शंका के घेरे में डालकर मनुष्य का रुतबा देने से ही इंकार करते हैं। डी.एन.ए. टेस्ट करवाकर उसके गले में उम्र भर के लिए व्यभिचारिणी का तमगा बांध देना चाहते हैं। उसकी औलाद पर 'हरामी' का ठप्पा लगा देना चाहते हैं यानी स्त्री सदैव हीन-भावना से ग्रस्त रहे पति की शंका की शिकार अपने ही घर में सहमी-सहमी, डरी-डरी अपराधिनी की जिन्दगी बिताए, मनुष्य की नहीं। जब वे डी.एन.ए. टेस्ट की बात करते हैं, तो वे समूची स्त्री जाति को अपमानित करते हैं।

डॉ. धर्मवीर दलित आन्दोलन को किस तरफ ले जाना चाहते हैं? जाति तोड़ने की बजाय वे 'जार धर्म' की महिमा का गान कर रहे हैं या 'जारपन' से चिन्तित हैं। आज के नये मनु डॉ. धर्मवीर, दलित स्त्रियों को वेश्या करार देते हैं और उनपर यह आरोप लगाते हैं कि वे अपने पतियों से कपड़े-लत्ते मांग कर उन्हें भ्रष्ट बनाती हैं। वे तमाम स्त्री जाति को जारकर्म में लिप्त बताते हैं। उन्हें मालूम होना चाहिए दलित आन्दोलन का मुद्दा व्यभिचार नहीं, समानता है अस्मिता है आत्मसम्मान है स्त्री-पुरुष दोनों की आजादी है। उनका एजेन्डा भाईचारा है, जो पुरुष-पुरुष, स्त्री-स्त्री और स्त्री-पुरुष में वांछित है। स्त्री पर शंका करके तथा हिन्दुओं की तरह उसे पाप-योनी बताकर वे उसे मानव अधिकारों से ही वंचित नहीं करते बल्कि वे उसे अपराधी के कटघरे में खड़ा कर प्रायश्चित्त की मुद्रा में ला देते हैं और सम्मान की जिंदगी जीने से वंचित करते हैं। यही तो सवर्णों ने दलितों के साथ किया था। अब स्वयं दलित ही अपनी स्त्रियों को वही सजा देना चाहते हैं, जो सवर्णों ने दलित समाज को दी थी यानी दलित परिवार या स्त्री योनी में जन्म लेना पिछले जन्म के पापों का फल है! क्या यह ब्राह्मणवाद नहीं है? व्यभिचार या बलात्कार, सामाजिक नियमों के तहत आते हैं। दलित आंदोलन तो मानवता और मानव अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा है। उसमें व्यभिचार, दुराचार, विवाह नहीं आते। इनके परिणाम भले मानव अधिकारों पर प्रभाव डालते हैं। यदि बाबा साहब के तीन मूल मन्त्र आजादी-बराबरी-भाईचारा लागू हो जाएँ और जातियाँ टूट जाएँ, सामाजिक न्याय मिलने लगे, तो ये सभी विकृतियाँ खत्म हो जाएँगी या अप्रभावी हो जाएँगी।

मैं मो. इकबाल की कुछ कविताओं को नीचे उद्धृत करना चाहूँगी, जिसमें उन्होंने इस्लाम धर्म की नए तरीके से व्याख्या की है। खुदा और इंसान का वार्तालाप

दिखाते हुए उन्होंने मनुष्य के महत्व और खुराफाती दिमाग, दोनों का जिक्र किया है। श्री धर्मवीर उस खुराफाती दिमाग के प्रतीक हैं, जो शैतान बनकर स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे का विरोधी बनाता है, दुश्मन बनाता है साथी नहीं। “एशिया के उर्दू, फारसी भाषाओं के महान शायर व दार्शनिक डॉ इकबाल के वंशज किसी समय बौद्ध से मुसलमान बने थे। उन पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव था। अपनी बहुत सी नज़्मों में उन्होंने गौतम बुद्ध की महानता तथा बौद्ध दर्शन की व्याख्या की है। इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि उन्होंने इस्लाम की नये ढंग से व्याख्या की तथा मुसलमानों में उत्साह, वीरता व उद्यम की नई रौशनी पैदा की।” (भीम पत्रिका, फरवरी, 2007) बाबा साहब की सोच के केंद्र में मनुष्य था उसी तरह इकबाल साहब भी मनुष्य की अहमियत के महत्व को समझते थे। वे मनुष्य की निर्माण व विनाश की शक्तियों से परिचित ही नहीं, उनके कायल भी थे। उनके अनुसार मनुष्य के बिना खुदा भी पूर्ण नहीं, वह अधूरा है। उन्हीं इकबाल ने अपनी एक नज़्म में खुदा की इंसान से और इंसान की खुदा से बात करवाई है। यह वार्तालाप इस प्रकार है

खुदा इंसान से

“मैंने मिट्टी और पानी से ये संसार बनाया/ तूने मिश्र, तुर्की, इरान, और तातार बना दिए/ मैंने धरती की छाती से लोहा उत्पन्न किया/ तूने उससे तीर, खंजर, तलवार और नेज़े ढाल दिए/ तूने हरी शाखाएँ काट डालीं और फलते-फूलते पेड़ तोड़ गिराए/ गाते हुए पक्षियों के लिए तूने पिंजरे बना डाले।”

इस नज़्म में शायर मनुष्य की विध्वंसक, शैतानी व खुराफाती प्रवृत्तियों को लेकर उसे चेताता है।

इंसान खुदा से कहता है

“तूने ए मेरे मालिक! रात बनाई, मैंने दिए जलाए।
तूने मिट्टी उत्पन्न की, मैंने उससे प्याले बनाए।
तूने धरती को वन, पर्वत, मरूस्थल प्रदान किए।
मैंने उनमें फूल खिलाए, हंसती हुई वाटिकाएँ सजायीं।”

यह नज़्म मनुष्य की सृजनात्मक (Constructive) प्रवृत्तियों का बखान है, जिसके बूते वह विकास की प्रक्रिया को सतत आगे बढ़ाता है। जो भी उपलब्ध है, उसे वह खूबसूरत बनाता है कल्याणकारी बनाता है। धर्मवीर विध्वंसक प्रवृत्ति को लेकर चल रहे हैं। यह उनकी अपनी सोच या विचारधारा भी हो सकती है और यह भी संभव है कि उनकी इस सोच के पीछे कोई मनोवैज्ञानिक कारण हो। एच.एल. दुसाध ने तो अपनी पुस्तक में उन्हें एक मनोरोगी सिद्ध किया है। डॉ. इकबाल मनुष्य की सृजनशक्ति को किस सुन्दरता से व्याख्यायित करते हैं यह इस नज़्म में देखते ही बनता है। जरा देखें

“मैं विष से तिर्याक बनाता हूँ और पत्थर से आईना।

ऐ मालिक! सच-सच बता तू बड़ा है या मैं॥”

उपरोक्त नज़्म में इकबाल ने मनुष्य की सृजन-शक्ति और निर्माण की ऊर्जा को इतना ऊंचा उठाया है कि वह ईश्वर से भी बड़ा नज़र आता है। उसके सामने ईश्वर भी छोटा पड़ गया है।

काश! धर्मवीर स्त्री-पुरुष के बीच सुन्दर रिश्ते का सृजन करते, उन्हें परस्पर विरोधी नहीं बनाते, एक को सदैव गलत और दूसरे को सदा सही साबित नहीं करते। ऐसे डॉ. धर्मवीर ने बहुत सुन्दर-सुन्दर प्रेम कविताएँ भी लिखी हैं। मैंने वे कविताएँ पढ़ी हैं। पता नहीं उनकी कविताओं के वे सुन्दर फूल, धतूरे की विष भरी डोडियाँ कैसे बन गए? उनके भीतर तो कभी प्रेम की सोती बहा करती थी वह घृणा के स्रोतों की बाम्बी कैसे बन गई?

सत्य यह है कि धर्म-ग्रन्थों, धर्मस्थानों का निर्माण तथा धर्म के प्रति जो कुछ भी हो रहा है, वह सब कुछ इन्सान ही करता है। नीचे की पंक्तियों में डॉ. इकबाल ने इन्सान की निर्माण कुशलता को सराहा है। वे किसी तीसरी शक्ति की बात नहीं करते।

“वही जहाँ है तेरा, जिसको तू करे पैदा

यह संगो खिश्त नहीं, जो तेरी निगाह में है”

शायर के अनुसार संसार का सृजन इन्सान ने ही किया है और वह खुद ही अपनी ज्योति, खुद अपना नेता है। उसे स्वयं ही सब करना है। वह सुधरे या बिगड़े। इसके लिए वही जिम्मेवार है। कोई बाहरी या तीसरी शक्ति नहीं।

“तेरी कंदील है तेरा दिल,

तू आप है अपनी रोशनाई।”

यानी कि इन्सान को खुद ही समझना है और सुधरना है।

गौतम बुद्ध ने भी यही तो कहा था ‘अप्य दीपो भवः’ यानी अपना दीपक खुद बनो। गौतम बुद्ध ने इन्सान को बुद्धिमान बनाने तथा सुधारने का मार्ग दर्शाया है। धम्मपद में कहा गया है कि :‘मन पर नियंत्रण रखो’।

“क्लेमेंट ऐटले ने बुद्ध की शिक्षाओं का अनुसरण करते हुए कहा है

Since wars begin in the minds of men. It is in the minds of men that the defence of peace must be constructed.

चूँकि जंगों का आरम्भ इन्सान के अंतर्मन से होता है, इसलिए अमन की रक्षा की रचना भी इन्सान के अंतर्मन में ही होनी चाहिए।” (भीम पत्रिका, अंक फरवरी 2007)

डॉ. धर्मवीर को भी अपने मन पर काबू करना होगा। उनके निजी जीवन के अनुभव, व्यक्तिगत कुठाएँ इतनी बड़ी नहीं कि पूरी स्त्री जाति की आजादी और

मानवाधिकारों का हनन करने की उन्हें छूट दे दी जाए। इसलिए स्त्रियों के खिलाफ जंग छेड़ने वाले धर्मवीरों को अपना मन बदलने की जरूरत है। खुराफात इनसान ही करता है। ऐसे मनुष्यों की धार्मिक व्याख्या 'शैतान' है। डॉ. धर्मवीर को अपने मन के 'शैतान' को खत्म करने के लिए सदबुद्धि की जरूरत है। उन्हें हम रास्ता दिखा सकते हैं सुधरना तो उन्हें ही होगा। घोड़े को हम पानी के पास तो ले जा सकते हैं पर पानी पिला नहीं सकते। पानी तो घोड़े को ही पीना होगा।

गौतम बुद्ध का सूत्र 'अप्प दीपो भवः', को दलितों ने तो अपनाया ही है ताकि उनके भीतर की कायरता, हीनता या हिन्दू धर्म की कर्मवादी-भाग्यवादी शैतानी शिक्षा खत्म की जा सके। दलित स्त्री चौहरे, यानी चार तरह के शोषण की शिकार होती है। एक तो उसकी गुरबत, दूसरा उसका दलित होना। ये दोनों कारण उसके और उसके पति के दोहन में एक समान ही होते हैं। तीसरा सवर्णों द्वारा दलित स्त्री होने के कारण उसके शोषण को अपना अधिकार मानना और चौथा स्त्री के नाते उसके अपने पति, पिता और पुत्र द्वारा ही उसका शोषण किया जाना। इस प्रकार गुरबत, दलितत्व, गैर दलित पुरुषों का दृष्टिकोण और दलित पुरुष का पुरुषवाद चारों उसके शोषक हैं, जबकि दलित पुरुष केवल दो तरह के शोषण का शिकार ही होता है। एक गरीबी के चलते दूसरा दलित होने के नाते।

रह गया स्त्रियों का डॉ. धर्मवीर की सभा में उन पर जूता-चप्पल चलाने का सही या गलत होना। जब कोई तर्क न सुने अपनी ही बात को अकाट्य कह कर दूसरों पर थोपे, गाली-गलौज पर उतारू हो जाए, तो उस मनुष्य रूपी जानवर के आगे नम्रता या शीलता के प्रदर्शन के क्या मायने हैं? चुप रहना भी दरअसल अपना दूसरा गाल पेश करने जैसा ही होता है। इससे बड़ी मूर्खता क्या होगी? जानवर को काबू में लाने के लिए उसी की भाषा बोलनी पड़ती है। कायर होने से अच्छा होता है हिंसक होना। ऐसी हिंसा की इजाजत गौतम बुद्ध और गांधी दोनों ने दी है। गांधी जी ने कहा था "अगर मुझे कायरता या हिंसा दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो ऐसी स्थिति में मैं हिंसा चुनूंगा।" फिर जूता-चप्पल तो छोटी-सी यानी 'माइनर' हिंसा है। स्त्रियों ने धर्मवीर के कार्यक्रम में कोई तलवार तो नहीं चलायी थी! मगर जैसे हालत डॉ. धर्मवीर ने पैदा किए थे या हैं, वैसी स्थिति में चुप रहना सबसे बड़ी मूर्खता होगी।

गलत सरकारी नीतियों और सरकारी हिंसा के खिलाफ आज भारत के कई हिस्सों में जनता ने बन्दूक उठाई है। क्या इसके लिए सरकार जिम्मेवार नहीं है जो तर्क की बात मानती ही नहीं केवल हिंसा की भाषा सुनती-समझती है। यदि पुरुष हिंसा पर उतर आए गाली-गलौज पर उतर आए तो औरत क्या करे? उसके पास जूता-चप्पल, बेलन, कटोरी, थाली, गिलास ही तो है, जबान चलानी तो आपने अभी तक उसे सीखने नहीं दी।--- स्त्री को बोलने का अधिकार दो उसे सुनने की

हिम्मत रखो तब देखो औरत की हिम्मत-हौसला-प्यार-उदारता, आंतरिक ज्ञान और समझ! किसी को काली बिल्ली, दुश्चरित्र, ठाकुर का बच्चा पेट में रखने वाली कहकर, इस हद तक उसके मन में अपने प्रति घृणा मत पैदा कर दो कि उसका हाथ उठ जाए। डॉ. धर्मवीर जिस रफ्तार से स्त्री-विरोधी मुहिम में जुटे हैं उससे उनके अपने बच्चे भी विद्रोही बन कर पिताओं को उनकी जिम्मेवारी का अहसास दिलाने लगे हैं। उनकी पुत्री सुश्री करुणा का इसी पुस्तक में प्रकाशित आलेख यही सिद्ध करता है।

हम श्रीधरम के सहयोग को हम मन से सराहते हैं। हम 'भीम पत्रिका' के भी बहुत आभारी हैं, जिसमें छपे कुछ आलेखों से हमें बहुत जानकारियाँ मिलीं और जिनका प्रयोग हमने अपने संपादकीय में भी किया।

जिनसे हमने टिप्पणियाँ मांगी, उनकी चुप्पी का हम क्या अर्थ लगाएँ? क्या वे इस विषय पर बोलना गैरजरूरी समझते हैं? शायद उन्हें याद दिलाने की जरूरत है कि इससे दलित आन्दोलन गुमराह ही नहीं, भटक भी सकता है। तटस्थ रहने से अच्छा होता है, पक्षधर होना या खिलाफ होना। वे ध्यान से सुनें, हमारे समय के एक अत्यंत प्रखर और साहसी कवि पाश ने कहा था 'बीच का रास्ता नहीं होता!'

संपादक

‘मनुस्मृति’ का तालिबानी विस्तार

विमल थोरात

भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्री की दोगुनी स्थिति केवल स्त्री-पुरुष लैंगिक विभेद से ही तय नहीं होती, बल्कि सामाजिक सांस्कृतिक, राजनीतिक क्षेत्र और आर्थिक व्यवहार में स्त्री की भागीदारी से निश्चित होती है। पितृसत्ता ने आधिपत्य और अधीनता के संबंध निर्धारण में बड़ी आसानी से व्यावहारिक और भौतिक स्तर पर असमानता के संबंधों का उपयोग किया। हैरत की बात है कि वैदिक काल से आज तक लगभग सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों में यही स्थिति स्वीकार्य रही है। स्त्री-पुरुष संबंध को सत्ताधारी और सत्ताहीन के संबंधों में परिवर्तित करने में पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक संदर्भों की महत्वपूर्ण भूमिका रही, जिसने सदियों से संस्कृति और सभ्यता को नियोजित किया है। दरअसल हिन्दू संस्कृति अनेक संस्कृतियों का ऐसा समुच्चय है जिनमें आपसी भेदभाव के अलावा विचारधारात्मक विरोध भी रहे हैं। अलग-अलग विचार रखने वाले असंख्य पंथ, संप्रदाय जिसमें ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, द्वैत-अद्वैत, वैदिक-अवैदिक शामिल हैं और जिनके उपास्यों, आचारपद्धतियों, चिन्तन पद्धतियों में भिन्नता होने पर भी स्त्री संबंधित विचारों में अद्भुत समानता दिखती है। स्त्री पर पुरुष के आधिपत्य का समर्थन, स्त्री स्वतन्त्रता का कट्टरता की हद तक विरोध, स्त्री को मात्र भोग की वस्तु में तब्दील करने वाली सोच के पीछे पुरुषसत्ता का अपना निजी स्वार्थ था। इसी अधीनतावादी विचारधारा के संयोजन ने मातृसत्ता पर विजय हासिल करके पुरुषसत्ता की स्थापना की। हम सभी जानते हैं कि, जब से कृषि व्यवस्था से होते हुए पितृसत्ता के उद्भव ने आर्थिक संसाधनों पर पुरुषों का अधिकार जमाया तबसे स्त्री सत्ता का हास शुरू हो गया था। जब तक स्त्री की अपत्य निर्मिति में महान भूमिका को पृथ्वी की निर्मिति सामर्थ्य सदृश देखा जाता रहा तब तक मातृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था कायम थी। अपत्य निर्मिति में पुरुष के महत्व का अहसास और कृषि में ‘हल’ की खोज से पुरुष सत्ता का आगमन हुआ। बाद में भारत में आर्यों के आगमन और प्रभाव से पितृसत्ता और हिंसात्मक होती गई और इसने बाल विवाह, बहु पत्नी-प्रथा, विधवा-विवाह निषेध और सती प्रथा जैसी अमानुषिक रूढ़ियों की निर्मिति द्वारा मातृसत्तात्मक समाज

व्यवस्था को खत्म किया। एहरनफेल्स का मत है कि 'मातृसत्तात्मक समाज व्यवस्था की जबरदस्त मान्यता को नष्ट करके पुरुषसत्ता को स्थापित करने के लिए आर्यों ने कठोरता और क्रूरता का सहारा लिया।' इसलिए हम देखते हैं कि कठोर आचारसंहिता के निर्वाह के नियम-कानून हिन्दू धर्मग्रन्थों के पन्ने-पन्ने पर बिखरे हुए हैं।

मनु की आचार संहिता में स्त्री को शूद्रादिशूद्रों के लिए तय किए गए नियम, कानून तथा नैतिक मूल्यों, को बाद के कट्टर पुरोहितों ने यथावत लागू किया। तीन हजार वर्ष बाद भी ऐसी घृणित प्रथाओं का आज के वैज्ञानिक युग में अविरोध निर्वाह, उसी नृशंसता का कारण है। दमनकारी पितृसत्ता में स्त्री के देवी रूप की मान्यता है, स्वतन्त्र चेतना मानवी की नहीं। धर्मशास्त्रों ने दासता की बेड़ियों में जकड़कर उसकी स्वाधीनता पर कब्जा कर लिया। आज तक भी तीन हजार वर्ष पूर्व के नैतिक मूल्यों को अपनी मानसिकता और व्यवहार में यथावत संजोए रखना पितृसत्ता के स्वार्थ को ही दर्शाता है।

अस्वतन्त्रता स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्य संस्थाप्य आत्मनोवशे॥
पिता रक्षति कौमारे भर्तारक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

(मनुस्मृति 9.2-3)

मनुस्मृति स्त्री स्वाधीनता को नकारती है और स्त्री देह की पवित्रता को स्त्री की उच्च, उत्कृष्ट दैवीय छवि की अनिवार्य शर्त बताती है। इसीलिए पितृसत्ता ने स्त्री पर वर्चस्व के लिए परिवार संस्था की अक्षुण्णता और सामाजिक संरचना के स्थायित्व की मुख्य शर्त में स्त्री की यौन-शुचिता को रखा है। विवाह-संस्था ने यौन शुचिता को स्त्री-देह की पवित्रता का मानक बनाकर उसके सांस्कृतिक, सामाजिक अर्थ निर्मित द्वारा स्त्री पर आधिपत्य प्रस्थापित किया। स्त्री की स्वाधीनता छीनने के लिए बलात्कार को स्त्री देह की अपवित्रता के अर्थ में बदलकर, स्वयं स्त्री को पुरुषसत्ता का औजार बनाया। बलात्कार के लिए स्वयं स्त्री तथा उसकी देह ही जिम्मेदार है, जैसे राजनीतिक नारों की मार्फत स्त्री पर कब्जा जमाया। इससे सन्तोष नहीं हुआ, तो दंभ भरे निर्णय लिये गये जैसे विषयासक्त होना स्त्री का मूल स्वभाव है, इसलिए उसे नियंत्रण में रखना पुरुष का कर्तव्य है।

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुजन्ते॥

स्त्री किसी भी अवस्था में स्वतन्त्रता की अधिकारणी नहीं है।

भार्यायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षिता ।

प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः॥ (9-5-1)

पिछले दिनों मनु के उत्तराधिकारी स्वयं घोषित दलित धर्मगुरु के रूप में उभरे धर्मवीर, दलित स्त्री की स्वाधीनता छीनने और उन पर कब्जा जमाने के लिए मनु के इन्हीं फरमानों का इस्तेमाल करने लगे हैं। प्रेमचंद की 'कफन' कहानी में पितृसत्ता और सामंतवादी असहिष्णुता की अभिव्यक्ति ने धर्मगुरु को इतना आतंकित कर दिया कि ये मूल पाठ से बाहर एक नई कहानी लिखने को मजबूर हो गए। उनका कहना है कि बुधिया ठाकुर द्वारा किए गए बलात्कार के कारण गर्भवती हुई, जिसकी जानकारी घीसू-माधव को पहले से थी। धर्मगुरु के अनुसार उन दोनों ने अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ने की पहल की है लेकिन उनका सीधा संघर्ष सामंत से नहीं; बल्कि बलात्कार से अपवित्र हुई शोषण की शिकार बुधिया से है। इसीलिए पाप को जन्म देने से पहले उसे मरते देखने की उन्मादी इच्छा उन दोनों ने मनु से ग्रहण कर ली। ऐसी अनोखी ब्राह्मणवादी इच्छा और सोच के धनी धर्मगुरु के अलावा और कौन हो सकता है, जो दलित चिन्तन में तथाकथित नई दार्शनिक समझ पैदा करके दलित वर्ग का कल्याण करने का बीड़ा उठा चुके हैं? घीसू-माधव प्रसव पीड़ा से तड़प-तड़प कर दम तोड़ती बुधिया को देखते रहे क्योंकि वे बुधिया के पाप का इसी में प्रायश्चित मानते हैं और दलित धर्मगुरु को इससे बड़ा सन्तोष हुआ कि पति और ससुर ने व्यभिचारिणी बुधिया को प्रसव पीड़ा से मरने दिया, उसकी सहायता के लिए दायी नहीं बुलाई गई और पाप को जन्म से पहले गर्भ में ही दफना कर, ब्राह्मणवादी नैतिक मूल्यों की रक्षा की। इनकी नज़र में दो दलित पुरुषों (घीसू-माधव) द्वारा जातीय अस्मिता के खातिर किया गया वह प्रथम विद्रोह है। बुधिया की पवित्रता को लेकर उठी आशंका घीसू-माधव के कथित विद्रोह का कारण बनी। सही मायने में यहाँ धर्मगुरु ने दलित वर्ग के घीसू-माधव की मार्फत, हिन्दुत्ववाद के समर्थन में मनु द्वारा बनाए विधान का समर्थन किया है।

मूल कहानी में इस सच्चाई को प्रेमचंद ने सामंतवाद और जातिगत शोषण की नृशंसता के परिप्रेक्ष्य में रेखांकित किया है। आर्थिक अभाव और वंचना ने घीसू-माधव को बुधिया के लिए दायी तक का इंतजाम करने नहीं दिया। उन दोनों की विवशता को न समझने का ऐसा नाटक आज के आधुनिक मनु धर्मगुरु ही कर सकते हैं। स्त्री द्वेष में अंधे विवेकहीन अवैज्ञानिक सोच की यह मिसाल है। बुधिया को लांछित करके मनुधर्मियों के साथ प्रतिबद्धता दर्शाना, ऐसे लोगों की प्राथमिकता है। स्त्री द्वेष का आलम यह है कि इनके भक्तों की एक विशाल टोली भी दलित स्त्री को व्यभिचारिणी सिद्ध करने में जुट गई है। श्योराजों, अजयों तथा दिनेशों की बेचैनी इतनी बढ़ी की जनतांत्रिक अधिकारों की हकदार नारी के मनु-धर्मशास्त्र का प्रतिरोध करने से दुखी होकर कीचड़ उछालने की आपस में ही होड़ मच गई। कुछ ने परमगुरु की भक्ति में सराबोर होकर स्त्री विद्रोहिणियों को

आधी रात में फोन पर 'रंडी' की गालियाँ दे डालीं। मनु के समर्थकों द्वारा ब्राह्मणवाद की ऐसी पैरवी, अम्बेडकरवादी चेतना का विरोध, अपमान तथा उपहास है। शायद इस प्रकार का बौद्धिक दिवालियापन मात्र हिंदी पट्टी में ही संभव है। 'कलियुग' में बलात्कारित स्त्री को जाति में शामिल न करने का ऐलान तीन हजार वर्ष पहले ही मनु ने दर्ज कर दिया था। निर्णय सिंधु में इसकी पहले ही पुष्टि की गई है।

न काश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरूपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥

मनुस्मृति (9.10)

मनु के बनाए नियमों को लागू करना है, तो स्त्री के प्रति तिरस्कार, घनघोर घृणा 'नारी तू महाठगिनी' है, तू नर्क का द्वार है, कहकर उसके अस्तित्व को खारिज़ किए बिना, पितृसत्ता स्त्री पर आधिपत्य कैसे जमा सकेगी? बलात्कार संबंधी पहले से मौजूद सामाजिक नैतिक मान्यताओं को और बर्बर बनाया जा रहा है। इस स्त्री विरोधी फासीवादी निर्णय में घीसू-माधव को शामिल करने के पीछे दलित वर्ग में स्त्री के प्रति दुर्भावना पैदा करना और साथ-साथ अम्बेडकरवादी दलित चिन्तन में ब्राह्मणवाद की घुसपैठ बढ़ाना भी एक मकसद है। जबकि आज दलित आंदोलन, दलित साहित्यिक आंदोलन और दलित स्त्री आंदोलन ब्राह्मणवाद को खत्म करके नया समतावादी समाज बनाने की हर संभव कोशिश कर रहा है, अम्बेडकर दर्शन के प्रकाश में जातिवादी व्यवस्था को समूल नष्ट करके समानतावादी समाज व्यवस्था के निर्माण के लिए जुटा हुआ है, तब फासीवाद ब्राह्मणवाद अपना जाल फैला रहा है, जिसमें धर्मगुरुओं जैसे स्वार्थनिष्ठ चेले जातिनिर्मूलन के लिए एकजुट होने की बजाए हिन्दुत्व के लिए अपनी प्रतिबद्धता जताने में कृतकृत्य हो रहे हैं। वर्चस्व की अधिसत्ता सदियों तक ज्ञान की परंपरा से वंचित दलित वर्ग में फिर भाग्यवाद और कर्मवाद में विश्वास पैदा करके उनमें हीनताबोध बढ़ाने में सफलता हासिल कर सकती है। ऐसे प्रयास पिछले दो दशकों से निरंतर जारी हैं। बाबरी मस्जिद ढहाकर देश को दंगों की आग में झोकने का फासीवादियों का मकसद साफ है, मुस्लिम वर्ग को हिन्दुत्व के अधीन रखा जाए, उनकी अस्मिता को कुचलकर उन पर वर्चस्वादियों की संस्कृति, इतिहास, और कानून थोपे जाएँ तथा उन्हें बार-बार बाहरी बता कर उन पर शक की सुई टिकाए रखे। उनमें अपराधबोध भरने की कोशिश पिछले दो दशकों से निरंतर चल रही है। गुजरात की सामूहिक हत्याएँ उसी मानसिकता की चरम परिणती थीं। आजादी के साठ वर्षों के दौरान होती रही अनगिनत दलितों की हत्याएँ और पिछले दिनों हुए झज्जर, खैरलांजी के सामूहिक हत्याकांड, गोहाना, करनाल, कैथल, सलवान की दलित बस्तियों को उजाड़ने, जलाने की घटनाएँ, इसी हिन्दू फासीवाद की आतंकवादी कार्यवाही थीं। इस हिन्दू समाज

व्यवस्था में दलित केवल अधीन बने रहें, हिन्दू धर्म की मर्यादाओं का पालन करें, अपने आर्थिक, सामाजिक बदलाव का स्वप्न नहीं देखें लेकिन सवर्ण उनके श्रम से हासिल संपत्ति को पलभर में नष्ट करके उन्हें बेघर, बेगांव करके खदेड़ सके, जैसी परम्परा व अवधारणाएँ ही प्रमुख हैं। यही वे क्रूरतम परम्पराएँ हैं, जिन्हें धड़ल्ले से इस्तेमाल करके दलितों को धर्म, वर्ण, जाति श्रेष्ठता के हाथों मजबूर किया जाता रहा है। इस जनतांत्रिक देश में मुस्लिम और दलित, कुल जनसंख्या के एक चौथाई से अधिक होते हुए भी फासीवादी क्रूरता के शिकार हैं। यह इसलिए संभव है क्योंकि बर्बर आतंक को जीवित रखने वाला ब्राह्मणवादी हिन्दुत्व फोर्स, सांप्रदायिकता और जातिवाद को इस्तेमाल करने में कामयाब हो जाता है। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक मुद्दों पर देशव्यापी चेतना फैलाने तथा देश के संसाधनों में अपनी भागीदारी की मांग लेकर आंदोलन गोलबंद होने लगे हैं, तो यथास्थितिवादी बेचैन होने लगे हैं। धर्मगुरु की दंभी लेखनी ने इधर जो कुछ अनाप-शनाप लिखना शुरू किया वह उसी सोच की अगली कड़ी है।

‘दलित-स्त्री की कोख से गैर-दलितों की सन्तानें पैदा होती हैं’, शंकराचार्यों जैसी ऐसी घोषणाएँ मनोरुग्णता का ही परिणाम हैं। धर्म गुरु ने दलित स्त्री को व्यभिचारिणी, चरित्रहीन सिद्ध करने के लिए डी.एन.ए. टेस्ट किए जाने का फरमान भी जारी कर दिया है। श्रेणीगत व्यवस्था में हर समय वर्ण-जाति उत्पीड़न और यौन हिंसा की शिकार असुरक्षित दलित स्त्री आर्थिक रूप से सामंतों, पूंजीवादियों पर निर्भर है, जिसे काम की तलाश में दर-दर भटकना पड़ता है और अपने परिश्रम का मूल्य मांगने पर प्रताड़ित एवं अपमानित होना पड़ता है। उस दलित स्त्री के चरित्र-हनन द्वारा, एक शिक्षित और भारत सरकार के उच्च प्रशासनिक पद पर कार्यरत व्यक्ति अपनी जय-जयकार करवा रहा है। वह इस सोच के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताने के लिए बाहरी और घरेलू हिंसा की शिकार स्त्री को ब्राह्मणवादी नैतिक मूल्यों के घेरे में घेरकर, क्रूर मर्दवाद के आखेट द्वारा क्षतविक्षत देखना चाहता है। बीजेपी, आरएसएस, विश्व हिन्दू परिषद की नजरों के तारे बनकर शोहरत कमाना है तो मनुवादी प्रपंच करना ही होगा। यह कोई मज़ाक नहीं, यह तो प्रतिबद्धता का प्रश्न है। इसे सिद्ध करने के लिए धर्मगुरु ने बलात्कार के लिए स्त्री को जिम्मेदार बताने वाली ब्राह्मणवादी सोच का ही सहारा लिया है।

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।

अतोऽर्यान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपाश्चितः॥

(मनुस्मृति 2.213)

समस्त दलित स्त्री वर्ग को व्यभिचारिणी, चरित्रहीन, अपवित्र, कामातुर, कामचोर, धूर्त, घातक, अविश्वसनीय सिद्ध करने के लिए दलित धर्मगुरु ने भी धार्मिक हताशा में मनुवादी सिद्धांतों की नई व्याख्या लागू कर दी, जो पुरुष प्रधानता

की हिमायती है। स्त्री द्वेषी सोच स्त्री की अस्मिता को ध्वस्त करने वाले वहशी बलात्कारी को छूट देकर दलित स्त्री को शक के घेरे में घेरती है और जातिमद में चूर जातिवादियों को कानून से छूटने का पूरा अवसर देती है।

डॉ. अम्बेडकर ने कहा है 'स्त्री के बारे में मनु के विधि विधान विशिष्टता के प्रमाण हैं, मनु को कानून बनाते समय न्याय-अन्याय के प्रति लगाव नहीं था। शोषित को दोषी करार देने की जघन्य वैचारिक परंपरा निरंकुश ब्राह्मणवाद की मूल प्रवृत्ति में शामिल है। वेद, पुराण, स्मृति, धर्मग्रन्थों द्वारा रचा गया एक झूठ जो पुनर्जन्म और कर्मफल में अंधविश्वास पैदा करके अछूतों को गुलाम बने रहकर, हर जुल्म सहते रहने को मजबूर करता है। इसे अभी तक दलित लेखक चिंतक धर्मगुरु नहीं समझ पाए हैं। क्या यह उनकी प्रतिबद्धता का तकाजा है?

चौतरफा शोषण की शिकार दलित स्त्री को न्याय मिलने की रत्तीभर भी आशा इस हिन्दू समाजव्यवस्था ने नहीं छोड़ी। जब हिन्दू धर्म की रखवाली करने वाले न्याय-पालिकाओं में भी मौजूद हों और धर्मगुरुओं जैसों ने उनका रास्ता अधिक आसान कर दिया हो, तो सोने जैसी चमक वर्णवादियों की मुस्कान में दमक उठेगी। जयपुर हाईकोर्ट के हिन्दू जज ने भारतीय संविधान प्रदत्त कानूनों की सिरे से अवहेलना करके, धर्म प्रणीत मनु के कानून से, भवरी देवी को झूठा साबित किया और सर्वण बलात्कारियों को खुला छोड़ दिया। आज तक भवरी देवी न्याय की आशा में अत्याचार के विरोध में खड़ी है। एक तरफ अनपढ़ दलित तेजस्विनी स्त्री अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्षरत है, तो दूसरी तरफ धर्मगुरु दलित स्त्री को वेश्या, बदचलन, चौबीस घंटे सैक्स की बकवास चाहने वाली मादा बताकर, उसके मार्ग में कांटे बिखरने में अपनी धन्यता मान रहे हैं। अवैज्ञानिक सोच के कट्टरवादियों के साथ शामिल होकर वे संविधान-प्रदत्त स्त्री के अधिकारों की खिल्ली उड़ाने में अपने जीवन को सार्थक मान रहे हैं। स्त्री और अतिशूद्रों के गुलामी के दस्तावेज़ मनुस्मृति के समर्थन में दलित स्त्री विरोधी नैतिक मूल्यों के नए मनुवादी संस्करण की छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के लेखन में धर्मगुरु मनोयोग से जुटे हैं। जिन दमनकारी पितृसत्तात्मक धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं ने स्त्री की मानवीय गरिमा को ध्वस्त किया, उन्हीं के ताल पर ताल मिलाकर दलित स्त्री के प्रति तिरस्कार फैलाने के इस काम में स्पष्ट रूप से रुग्ण मानसिकता झलकती है।

विवाह संस्था की दमनकारी संरचना स्त्री को आर्थिक सुरक्षा देने से इन्कार करती है। जिससे स्त्री की पितृसत्ता पर निर्भरता सुनिश्चित हो जाती है। विवाह संस्था की दमनात्मक स्थिति से स्त्री को आजादी देने के उद्देश्य से डॉ. अम्बेडकर हिन्दू कोड बिल लेकर आए थे। स्त्री को आर्थिक सुरक्षा बहाल करके पितृसत्ता पर उसकी निर्भरता कम करने के उद्देश्य से बनाए इस क्रांतिकारी बिल का उस समय के कट्टर हिन्दुओं ने विरोध किया था। विरोध करने में शिक्षित हिन्दू नारियाँ

भी शामिल थीं, स्त्री स्वाधीनता के लिए उठाए गए कानूनी कदम का स्वतः स्त्री द्वारा विरोध करवाना पितृसत्ता की ही चाल थी, जिसमें कुछ हद तक हिन्दुत्व को सफलता भी मिली थी। डॉ. अम्बेडकर की अथक कोशिशों और संसद में बिल के पक्ष में प्रस्तुत अकाट्य युक्तियों के बाद अनेक विधेयकों के रूप में यह बिल पास हुआ। हिन्दू कट्टरवाद से लड़ते हुए, मन्त्रीपद से इस्तीफा देकर भी डॉ. अम्बेडकर स्त्री स्वाधीनता के इस बिल के पक्ष में अविचल खड़े रहे।

भारतीय इतिहास में स्त्री सशक्तिकरण की दिशा में उठाया गया यह प्रथम क्रांतिकारी कदम था। हिन्दू कोड बिल पुरातनपंथी रुढ़िवादी हिन्दूवर्ग को झट से बदलने की मात्र एक जादू की छड़ी नहीं थी, बल्कि स्त्री के प्रति असहिष्णु पितृसत्ता की तानाशाही को कम करने का एक कारगर कानून था। हिन्दू कट्टरवादियों की वैचारिक दरिद्रता को अम्बेडकर के अलावा दूसरा कौन जानता था? हिन्दू कोड बिल का प्रखर विरोध करने वाले डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने सरदार वल्लभ भाई पटेल को लिखे एक पत्र में कहा था “हिन्दू-धर्मशास्त्रों में इतना बड़ा मूलभूत परिवर्तन करने का अधिकार जनता से नहीं मिला।” (डॉ. अम्बेडकर एक चिन्तन, पृ. 89 मधुलिमये) वे हिन्दू धर्मीय कानून में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। लगातार विधेयक पर हुई गंभीर बहसों के बावजूद हिन्दू कोड बिल पूर्ण रूप में मंजूर हुआ। इस बिल के कारण ही हिन्दू स्त्री को पितृसत्ता पर आर्थिक निर्भरता से मुक्ति मिली। दलित धर्मगुरु जिसे अकल्पनीय और असम्भव बताते हैं वह आज स्त्री अधिकारों के कानूनी प्रावधान की सच्चाई में मौजूद है। डॉ. अम्बेडकर पुरातनपंथियों और कट्टर हिन्दू नेताओं के विरोध से हतोत्साहित हो जाते और उनकी मनमानी चलने देते; तो आज भारतीय स्त्री आर्थिक-सामाजिक समानता और स्वाधीनता का अर्थ भी समझ नहीं पाती और मनु के बंधनों से मुक्त होने में न जाने और कितनी सदियाँ बीत जातीं। आज भी स्त्री पर आधिपत्य की नकेल कसने के लिए जब-तब पुरोहितवाद सर उठाता है, तो उसके कई कूपमंडूक समर्थक हर्षोल्लास में उछलते हुए एक टांग पर नृत्य करने लगते हैं। कूपमंडूक सनातनी धर्मगुरु की ऐसी ही नृशंस होती जा रही टर्-टर् की आवाजें इधर छपीं, कुछ पुस्तिकाओं में सुनाई देती हैं।

हिन्दू कोड बिल हिन्दू स्त्री (जिनमें दलित स्त्री भी शामिल है) के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक अधिकारों की व्यापक चिन्ता के तहत संवैधानिक अधिकार के रूप में पारित हुआ था। इसका एक हिस्सा हिन्दू विवाह की पुरुषवादी अधिसत्ता से छुटकारा दिलाकर स्त्री को समाज की एक इकाई के रूप में देखे जाने का सम्मान देता है उसकी अधीनता को स्वाधीनता में बदल देता है। उसे यौन शोषण, बेवजह पीटने, अपमानित होने, घर से निकाले जाने, गाली-गलौज से, असम्मान से बचाकर एक इंसान के रूप में जीने का अवसर देता है। अपने अस्तित्व के प्रति सचेत

होकर लड़ने की क्षमता पैदा करता है। स्त्री के आत्मनिर्भर बनने से वह आत्मसम्मान से जी सकती है। मानव अधिकार को कानूनी वैधता देने की जनतांत्रिक प्रक्रिया के रूप में हिन्दू कोड बिल को, देखा जाना चाहिए। इस सदी का सबसे क्रांतिकारी प्रावधान, कानूनी हिन्दू कोड बिल को, स्त्री के आर्थिक स्वाधीनता का ऐतिहासिक निर्णय मानकर, हिन्दू स्त्री द्वारा इसे उत्सव के रूप में मनाया जाना चाहिए। कुछ संकुचित स्त्री विरोधी लोग इस कानूनी प्रावधान को स्त्री को उच्छृंखल होने का अवसर देने के संवैधानिक कानून के रूप में देखते हैं। यह भारतीय संविधान और जनतन्त्र का उपहास और अपमान है, जो प्रशासनिक पद का दुरुपयोग करके केवल हिन्दुत्व की चाकरी के लिए किया जा रहा है। हिंदी पट्टी के कुछ दलित पुरुष चिंतक, लेखक, बुद्धिजीवी इसे अनदेखा करके अभी तक खामोश तमाशा देखते रहे हैं। समतावादी समाज रचना के सपने का इससे अधिक घोर विरोध क्या हो सकता है? इसलिए जारकर्म को जातिवाद से अधिक महत्व देकर ये जार-जार रो रहे हैं। जारकर्म को जातिवाद से भी बड़ी समस्या मान कर ये जाति प्रथा की सच्चाई को झुठला रहे हैं। किसकी सहायता कर रहे हैं ये? डॉ. अम्बेडकर ने दलित मुक्ति आंदोलन में जाति निर्मूलन को केंद्र में रखा था। उन्होंने सदियों से छीन लिए गए मूलभूत अधिकार और सम्मान से जीने के हक के लिए जीवनभर संघर्ष किया। वर्ण श्रेष्ठता की नृशंसता इंसान के हक और गरिमा को पैरों तले कुचलने में ही गौरवान्वित होती रही है। जाति की शोषण मूलक संस्थाओं को नष्ट किए बिना इस हिन्दू समाजव्यवस्था को बदलना असंभव है। इस हिन्दू समाजव्यवस्था की नज़र में दलित मुक्ति आंदोलन की कोई अहमियत नहीं है। ये धर्मगुरु अगले ही पल हिन्दू कोड बिल को छूमन्त्र की छड़ी से हिन्दुओं को सुधारने, जैसी निहायत टुच्ची, अवैज्ञानिक पुरोहिती टिप्पणियाँ करते थे। डॉ. अम्बेडकर को छोटा करने की कोशिश करते हैं।

स्त्री स्वाधीनता के प्रथम प्रणेता तथागत बुद्ध ही थे, जिन्होंने भिक्षुणी संघ में स्त्रियों को प्रवेश देकर पहली बार उन्हें ज्ञान की परंपरा से जोड़ा था। इस ऐतिहासिक सत्य को कौन झुठला सकता है कि, बौद्ध धम्म ग्रन्थों त्रिपिटक के सुत्त पिटक के खुद्यक निकाय की थेरी गाथाओं की सभी रचनाकार स्त्रियाँ थीं। इतिहास की प्रथम लेखिकाएँ बौद्ध भिक्षुणियाँ थीं, जिन्हें थेरी कहा जाता था। थेरी गाथाओं की संख्या तिहत्तर है, जिसमें प्रवेश मिलने और बुद्ध की समतामूलक दृष्टि के कारण भिक्षुणी संघ में उदात्त जीवन जीने के अवसर प्राप्ति के सुखद अनुभवों की अभिव्यक्ति हुई। उस युग में स्त्री को बौद्धिक स्वतन्त्रता के दुर्लभ जीवन अनुभव की कल्पना करना भी संभव नहीं था। पाश्चात्य लेखिका श्रीमती रिस डेव्हिड ने इन 'थेरी गाथाओं को बुद्ध धम्म में स्त्री मुक्ति का प्रथम आविष्कार माना है।' स्त्री को शोषण से मुक्ति का एक सम्यक् मार्ग बुद्ध के समय प्राप्त हुआ, जिसने उसमें आत्मबोध जगाकर

स्वयंनिर्णय लेने तथा स्वाधीन होने का एक बहुमूल्य अवसर दिया। दूसरी बार डॉ. अम्बेडकर द्वारा तैयार किए हिन्दू कोड बिल द्वारा स्त्री को मुक्ति का अधिकार मिला। स्त्री मुक्ति के इतिहास में स्त्री मुक्ति का पहला अवसर बुद्ध के सम्यक मार्ग से संभव हुआ तो दूसरी बार आधुनिक स्वतन्त्र भारत में हिन्दू कोड बिल के बहाने आर्थिक स्वाधीनता से मिला। स्त्री की इस मुक्ति को 'उत्पीड़ित की मुक्ति' के दो ऐतिहासिक प्रसंगों के रूप में जब तक मान्यता नहीं मिलती, तब तक स्त्री मुक्ति आंदोलन, दलित आंदोलन, आदिवासी आंदोलन, मानवाधिकारवादी आंदोलन की मुक्ति की भूमिका अधूरी रहेगी।

संपादक

अन्याय के खिलाफ लड़ना ही नैतिकता है

अनिता भारती

कवि मुक्तिबोध स्वयंभू नैतिकतावादियों पर चोट करते हुए कहते हैं
लोकहित पिता को घर से निकाल दिया,
जन-मन करुणा सी माँ को हंकाल दिया,
स्वार्थों के टेरियार कुत्तों को पाल लिया,
भावना के कर्तव्य त्याग दिए
हृदय के मन्तव्य मार डाले।
बुद्धि का माथ ही फोड़ दिया,
तर्कों के हाथ उखाड़ दिए,
जम गए, जाम हुए, फँस गए,
अपने ही कीचड़ में धँस गए ॥
विवेक बघार डाला स्वार्थों के तेल में।
आदर्श खा गए।

कवि मुक्तिबोध की नैतिकता की यह अभिव्यक्ति काल सापेक्ष है, जो कहीं भी, कभी भी और किसी पर भी फिट बैठ सकती है। पिछले दिनों इसकी सीधी-सीधी सोच उन दलित साहित्यकारों (अपवादों को छोड़कर) पर सटीक, बैठती है जो अपनी उच्च नैतिकता का ढिंढोरा दलित, गैर-दलित साहित्य की गली-गली, चौराहे-चौराहे पर पीट रहे हैं। एक सुखद पक्ष यह भी था कि दलित, गैर-दलित स्त्री-पुरुष 'संघर्षकर्मियों' ने इन छद्म उच्च नैतिकियों के खिलाफ लिंग और जाति के तमाम भेद तोड़कर एक स्वर में उनके तालिबानी किले की एक-एक ईंट को न केवल जार-जार निन्दित किया, अपितु उसे तार-तार भी कर दिया।

इस बार भी इन सामंती पितृसत्ता के पैरोकारों के निशाने पर दलित या गैर-दलित स्त्री ही थी। ये साहित्यकार उस शोषित, दमित, स्त्री के खिलाफ जहर उगल रहे, जो पैदा होने से लेकर मरने तक अपने को तिल-तिल गलाती हुई दूसरों के लिए रोशनाई का काम करती है।

आज के इस घोर वैज्ञानिकता के युग में भी दलित स्त्री अभाव, गरीबी में जीती हुई, अपने आगे बढ़ने के सारे रास्ते बंद कर परिवार की तरक्की की सीढ़ियाँ

बनने का कार्य कर रही है। भारत में अभी भी कई जिले, कस्बे, गांव, कुनबे, परिवार ऐसे हैं जहाँ दलित बच्चियाँ स्कूल की पहुँच से बहुत दूर हैं। वे अभी भी पढ़ने के सपने देखती हैं पर अपने नहीं अपने पति के, अपने बेटे के और अपने भाई के पढ़े-लिखे होने के। “मैं ले दूंगी किताब बन्ना कॉलिज पढ़ने जाना।” लेकिन समाज को पढ़ाते-पढ़ाते उनकी अपनी पढ़ाई कहाँ छूट गई, उन्हें पता ही नहीं चला। आज भी अनेक दलित स्त्रियाँ मिल जाएँगी जो अपने सारे सपने, सारी आकांक्षाएँ दलित पुरुषों के नाम होम कर, रात-दिन परिश्रम की भट्टी में सुलग गांवों, कस्बों, शहरों में उपले पाथकर, लिफाफे बनाकर, बिन्दी चिपकाकर, जूतियाँ गांठकर, कपड़े सिलकर अपने भाई व पतियों को पढ़ा रही हैं। वे अशिक्षा के साथ-साथ परिश्रम और शोषण की दोहरी-तिहरी मार से भी पीड़ित हैं। दलित स्त्री के साथ पीड़ा हमेशा जोंक की तरह चिपटी रही है। उसने इसके खिलाफ ठीक सुमंगला की तरह चीत्कार भी किया है। छाता बनाने वाले कुबड़े पति के अत्याचारों से त्रस्त सुमंगला परिवार के नर्क को त्याग थेरी सुमंगला में परिणत होकर मुक्ति का गीत गा उठी

अहा! कितनी आजाद हूँ मैं!

कितनी अनोखी है आजादी!

तीन तुच्छ वस्तुओं से मुक्त

मुक्त ओखली, मूसल और अपने टेढ़े मालिक से

पुनर्जन्म और मृत्यु से मुक्त हूँ मैं

जिस समाज ने दबाए रखा मुझे

वो सब अब दूर फेंका जा चुका है।” (‘थेरी गाथा’ से उद्धृत)

बंगाली कवयित्री धोबिन रामी को जब वैष्णव कवि चंडीदास बिना कारण छोड़कर चला गया तो रामी को लगा कि चंडीदास ने उसके गर्व से उन्नत माथे और स्वाभिमान को सबके सामने लज्जित कर दिया

तुम्हारे द्वारा त्यागी गई मैं

शर्म से खड़ी हूँ

तुमने अपने हाथों से

कुचल दिया मेरा स्वाभिमान।

बार-बार दलित स्त्रियाँ अत्याचार और अपमान का जहर पीकर भी अमरबेल की तरह जीती रही हैं। खड़ी होने की कोशिश करती रही हैं। अन्ततोगत्वा सन्त कवयित्री और कश्मीरी कविता की जनक ललदेह भी अपने बलबूते प्रकाश-स्तम्भ-सी अपने अस्तित्व का अहसास बराबर कराती रहीं

‘हम ही थे, होंगे हम ही आगे भी

विगत कालों से चले आ रहे हम ही।’

समय-समय पर कहा जाता रहा है कि ‘दलित महिलाएँ अपेक्षाकृत अन्य

महिलाओं की तुलना में स्वतन्त्र होती हैं, उन्हें अनेक विवाह करने की छूट है, विवाह पूर्व और विवाह पश्चात् विवाहेतर सम्बन्ध बनाने व मौज-मस्ती करने की उन्हें आजादी है।' दलित स्त्रियों के खिलाफ पुरुषों द्वारा थोपा गया यह कोरा मिथक है। इसमें रस्तीभर भी सच्चाई नहीं है। आज भी दलित स्त्री पर गरीबी, अशिक्षा, जातीय व समाजिक हिंसा की उतनी ही मार पड़ रही है जितनी पूर्व में। आज भी दलित-महिला सरपंच 'गुदया बाई' झण्डारोहण करने पर सरेआम बेइज्जत की जाती है। आज भी दलित-आदिवासी महिलाएँ 'हल' नहीं छू सकतीं। छू देने की स्थिति में उन्हें बैल की जगह जोत कर भूसा खाने पर मजबूर किया जाता है। आज भी दलित स्त्रियों को डायन, चुड़ैल, डाकिनी कहकर सरेआम पत्थरों, लाठियों से मार डाला जाता है। सजा के तौर पर उनकी योनि में लठ तक ठूस दिया जाता है। खैरलांजी कांड में प्रियंका और सुरेखा के साथ सरेआम सामूहिक बलात्कार कर उनकी योनि में लोहे की छड़ें घुसेड़ दी गईं। हकीकत तो यह है कि दलित स्त्री स्वतन्त्रता का मजा नहीं वह बल्कि सदियों से सजा पा रही है। इस सजा में उसके परिवार के साथ पूरा समाज भी उसके खिलाफ शामिल है। दलित स्त्री होने की सजा तो सामान्य औरतें क्या पढ़ी-लिखी विदुषियों तक को झेलनी पड़ी। सन्त ललदेह का पति कड़के की सर्दी में उसके सिर पर रखा पानी का घड़ा फोड़ देता था। स्वयं हमारे सामने कितने दलित साहित्यकार हैं जो दलित महिलाओं की गरिमा और उनके अस्तित्व को महत्व देते हैं, अपवाद अवश्य हैं परन्तु उंगलियों पर गिनने लायक। अधिकतर तो दलित साहित्य का 'आईकन' बनने की फिजूल कोशिश करते हुए उन्हें बुधिया, देवदासी, रखैल जैसे शब्दों से ही सम्बोधित कर रहे हैं और जो कृपा करके नहीं कर रहे हैं, वे उनकी पीठ ठोंक रहे हैं। वे उनका निजी व पारिवारिक मामला बना कर दलित महिलाओं के लेखन, संघर्ष और विचारधारा को प्रायोजित, षड्यंत्रकारी, बिकाऊ और बौना सिद्ध करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं।

दलित स्त्रियों के संघर्ष का एक पहलू जहाँ अपनी मानवीय गरिमा को प्राप्त करना है, वहीं दूसरी ओर अपने अस्मिता संघर्ष को समानता और न्याय के संघर्षों से जोड़ना भी है। दलित स्त्रियों के लेखन में क्रांतिधर्मिता है, मौलिकता है और समसामयिकता भी है। यही कारण है कि प्रतिक्रियावादी लोग ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की बेड़ियाँ खनखनाती दलित स्त्री को रोज नये-नये फतवों से उच्छृंखल और चरित्रहीन घोषित कर उसे नैतिकता के मैदान में अभिमन्यु की तरह घेर साजिशपूर्वक मार गिराने के लिए तैयार हैं। डॉ. धर्मवीर और उनके 'इलहाम' से अभिभूत चेले स्त्रियों पर, खासकर दलित स्त्रियों पर आरोपों के गोले पर गोले दाग रहे हैं। आखिर इन मनुवादियों का गुस्सा दलित स्त्रियों पर क्यों? शायद ये अपनी कूपमंडूकता के चलते दलित स्त्रियों की जीवटता, उसके अथक परिश्रम करने की शक्ति, उसके संघर्ष करने की जिजीविषा से डरे, भविष्य में मातृसत्ता की कल्पना मात्र से ही अनर्गल

प्रलाप करने लगे हैं।

विवाह के अवसर पर दलित स्त्रियाँ गाती हैं “मेरे लम्बे काले बाल सैंया क्यों लाया सौतनियां, मैं नई नवेली नार, सैंया क्यों लाया सौतनियां?”

सीताराम बंजारा जब अपनी दुल्हन लाने ससुराल गया तब तालाब किनारे अपनी दुल्हन नगेसर को देखकर, जो उस वक्त नहाने आई थी, वह कुछ कहना चाहता था, पर नगेसर के

**‘ददा के रहिते जान-पहचान
भइया के रहिते मितान’**

कहने पर पुरुष अहम् से पीड़ित सीताराम बंजारे को यह बात चुभ गई। उसने नगेसर की इस बात का बदला उसे जीवन भर तंग और उत्पीड़ित करके लिया। यह ठीक उसी प्रकार था जिस प्रकार दलित लेखिका कौसल्या बैसन्त्री का अपने अम्बेडकरी आन्दोलन के साथी उपेन्द्र के सामने विवाह के लिए पहले प्रस्ताव रखना ही उसके लिए अभिशाप बन गया और उन्हें जीवन भर ताने सुनने पड़े कि तू ही मेरे ऊपर आ पड़ी थी।

दलित स्त्रियों के सामाजिक शोषण का कोई अन्त नहीं है। वे जाति के नाम पर, महिला के नाम पर, मजदूरी के नाम पर, सुन्दरता के नाम पर कभी भी अपमानित और बलात्कृत हो सकती हैं। सरकारी आंकड़े बताते हैं सामाजिक शोषण और अत्याचार में दिनोंदिन बढ़ोत्तरी हो रही है। ऊंची जाति की नफरत, हिंसा, उत्पीड़न, अत्याचार और क्रूरता की शिकार दलित स्त्रियाँ ही सर्वाधिक हैं।

दलित स्त्रियाँ घर में भी अत्याचार और अपमान का दंश सहती हैं। अम्बेडकरवादी विचारधारा से जुड़े चेतनाशील परिवारों में भी उनको मात्र प्रदर्शन की वस्तु बना कर रखा गया है। दलित समाज के क्रियाकलापों में उनको लाया, ले जाया नहीं जाता। खूब पढ़-लिख लेने के बाद सुयोग्य वर व परिवार का सपना पाले दलित लड़कियाँ जेवरों और सुन्दर घरों में कैद कर दी जाती हैं या हो जाती हैं। परम्पराओं के नाम पर एक चुटकी मांग का सिन्दूर उनके जीवन पर ताला लगा देता है।

दलित पुरुष स्वतन्त्र है बाहर घूमने के लिए, शराब पीने के लिए, पर स्त्री के हाथ केवल पराधीनता के कंगन हैं। दलित स्त्रियाँ पुरुष सत्ता के घूँघट में ढकी चूल्हा, चक्की संभालती हुई अपनी अस्मिता और जीवन को उसमें झोंकने पर भी घृणा की पात्र बनी हुई हैं।

वे चूल्हे-चौके, खेत-खलिहानों, फैक्ट्रियों में लुट रही हैं, देह की मंडियों में बिक रही हैं। देह और मन की पीड़ा से दलित स्त्री करुणा से पुकार रही है

**‘न दे बाबा आदमीपन
अऊर बना कछू जात रे’**

(रे बाबा, मुझे आदमी का जन्म न देना, कोई और जन्म दे देना।)

अन्याय के खिलाफ लड़ना ही नैतिकता है 31

घर-बार, बचपना, संगी-सहेली, भाई-बहना का प्यार, धोती के पल्लू में बांध नैतिकता के हजारों पाठ पढ़ी कन्या देहरी लांघ ससुराल के बड़े-बड़े सीखचों में डाल दी जाती है। पुत्री होने पर कोपभाजन बनना, बांझ होने पर उत्पीड़ित होना, अच्छा खाना न बनाने पर मार खाना उसकी दिनचर्या होती है। काली, मोटी, बदसूरत, अनपढ़, गंवार, पेटपूजक की संज्ञा से लदी-फदी लकड़ी काटने की मशीन में टुकड़ा-टुकड़ा होती दलित स्त्री, रीति-रिवाजों की चक्की में निर्वस्त्र कर घुमाई जाती है। नैतिकता की बोरी में ठूस-ठूसकर दबा-दबाकर भरी जा रही है दलित महिलाओं की अस्मिता। बोरी से सिर तानकर निकालती महिला को पुरुषों द्वारा नैतिकता के कोड़े मार-मारकर जानवरों की तरह संस्कारों और मर्यादा के बाड़े में ठूस दिया जाता है।

आखिर इस नैतिकता की परिधि क्या है? नैतिकता के बंधन का तालिबानी फतवा सिर्फ औरतों के लिए ही क्यों? नैतिकता सिर्फ विवाह और सैक्स के लिए ही क्यों? दिन-रात खटती स्त्री के श्रम के लिए नैतिकता क्यों नहीं? बच्चों के पालने-पोसने में नैतिकता कहाँ कुँ में पानी भरने चली जाती है? पुरुषों द्वारा तैयार की गई नैतिकता पर मात्र स्त्रियों के लिए बंधना, मर्यादा, बस इसलिए कि पुरुषों को 'जूठन' पसंद नहीं, फिर पुरुष चाहे जहाँ मुंह मारे पर सारे बंधन सिर्फ दलित स्त्री के लिए। नैतिकता के तालिबानीकरण का फरमान पुरुषों के लिए क्यों नहीं? हालांकि मैं किसी के लिए भी लगाए जाने वाले फरमान व फतवे के खिलाफ हूँ। देश भर में चल रहे मंडी बाजारों और अनाथाश्रमों की बढ़ती संख्या के लिए क्या केवल स्त्री ही जिम्मेदार है?

सदियों से बार-बार मनुवादी शोषणकारी नैतिकता स्त्री, शूद्रों और दलितों को अपने नागपाश में जकड़ने का प्रयास धर्म आदि के माध्यम से करती रही है। उस नागपाश को तोड़ना शोषितों की अपनी नैतिकता है। दलितों-शोषितों द्वारा शोषकों की मनुवादी नैतिकता के जहर को भरकर अपने ही शोषित-दलित भाई-बहनों पर जहरीली फुंकार फेंकना शोषकों के षड्यंत्र का हिस्सा होना ही माना जाएगा। मनुवादी नैतिकता ऐलान करती है कि औरतों का काम सिर्फ पुरुषों की सेवा करना है, उसे खुश रखना है। तब क्या इस नैतिकता के पोषण में नए फतवे गढ़ना मनुवादियों के सहोदरों के रूप में फिर जन्म लेना नहीं है?

नैतिकता काल, स्थान और परिस्थिति-सापेक्ष होती है। समयानुसार उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन वाजिब है। क्या हम उन क्रांतिकारी परिवर्तनों की सुखद बयार के खिलाफ, अपने सिर पर कठमुल्लेपन का ताज पहने नंगई का नाच करने वालों का विरोध नहीं करेंगे?

आज जब शोषितों, दलित स्त्रियों द्वारा अपनी पहचान के लिए अपने श्रम, अपने जल-जंगल-जमीन की लड़ाई, के लिए जातीय भेदभाव, लैंगिक असमानता

के खिलाफ संघर्ष का बिगुल बज चुका है, थोथी नैतिकता का शुद्ध 'पाण्डा' के अंदाज में गाल बजाना उनके संघर्ष की महत्त व उसके विरोध की धार को कुंद करने का रोड़ा एक रोड़ा है। यह रोड़ा धार से ही टुकड़े-टुकड़े होकर बह जायेगा उसका अवशेष मात्र भी नहीं रहेगा, यह दलित, शोषित, वंचितों का ऐलान है।

सह-संपादक

बड़ी लकीर खींचना सीखिए

प्रोमिला

कहने के लिए हम इक्कीसवीं शताब्दी में पहुँच गये हैं। आजादी मिले भी साठ साल बीतने को आए। इस सबके बावजूद स्त्री के प्रति पुरुषवादी दृष्टिकोण में बहुत फर्क नहीं आया है। आज भी भारतीय जनमानस में पितृसत्तावादी मानसिकता कूट-कूटकर भरी हुई है। मनु ने कहा था कि स्त्रियों को बचपन में पिता, जवानी में पति और बुढ़ापे में पुत्र के अनुशासन में रखो। उसे किसी भी कीमत पर स्वतन्त्र मत करो। आज मनु के मानसपुत्रों की कमी नहीं है। फर्क सिर्फ इतना है कि उसने अपना चोला बदल लिया है। सदा से सवर्णवादी मानसिकता दलित और स्त्री विरोधी रही ही है पर दुख की बात यह है कि बाबा साहब अम्बेडकर की कृपा से पढ़ लिखकर मुख्यधारा में शामिल होने वाले कुछ दलित भी सवर्णवादी मानसिकता के शिकार हो रहे हैं। अब चूँकि वे बुद्धिजीवी हैं इसीलिए दलित स्त्रियों को गुलाम बनाकर रखने के लिए नये-नये हथकण्डे अपनाने लगे हैं। ऐसे लोग दलित समाज में मनु के अवतार हैं। अब वह तय करेंगे कि दलित स्त्रियों को उनकी आज्ञा के बिना एक कदम भी नहीं रखना चाहिए। अगर उनकी बात न मानें तो वह जारकर्म का मन्त्र-जाप करते हुए डी.एन.ए. टेस्ट करवाएँगे। झूठा इल्जाम लगाकर तलाक देगे। भरण-पोषण का अधिकार मांगने पर डंडा से पीटेंगे और प्रेम-विवाह करने पर टुकड़े-टुकड़े करके कुत्ते से खिलवाएँगे। तात्पर्य यही कि वर्णवादी सामंतवादी समाज में स्त्रियों पर जो-जो जुल्म होते रहे हैं, वह सब अपनाएँगे क्योंकि वह नए युग के नये सामंत हैं। भगवान बुद्ध और बाबा साहब अम्बेडकर ने जो समता और बंधुत्व का नारा दिया, उस पर वे हमला कर रहे हैं। ये स्वयंभू अवतारी धर्माचार्य अगर सचमुच दलितों का और दलित स्त्रियों का कुछ भला चाहते हैं तो इन्हें बड़ी लकीर खींचनी चाहिए। वैसे तो पूरी औरत जाति हमेशा से शोषण का शिकार रही है परन्तु दलित स्त्रियों की हालत उससे भी दयनीय है। वह एक तरफ सवर्णों के शोषण की शिकार होती रही है, दूसरी ओर अपने पति की। निःसंदेह ऐसे सताने वाले पुरुषों में पढ़े-लिखे लोग अधिक हैं। अभी भी गांव में दलित स्त्रियों का एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो अनपढ़ है। वह अपने पति के साथ मिलकर मजदूरी करती है। शारीरिक श्रम के साथ खाना बनाना, बच्चों को संभालना और फिर शाम होते

ही नशेड़ी पतियों को झेलना, यही उनकी नियति है। जमींदार लोग अलग शारीरिक शोषण करते हैं। ऐसे में पति भी उसकी सहायता नहीं कर पाता क्योंकि कल से उसे फिर उसी जमींदार के यहाँ काम पर जाना होता है।

दूसरे स्तर पर ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनके पति चार-छह बच्चे पैदा कर परदेस कमाने चले जाते हैं, कुछ महीनों तक तो दो-चार सौ रुपये भेजते रहते हैं पर अचानक किसी दूसरी स्त्री से शादी कर पहली को भूल जाते हैं। इधर पढ़े-लिखे दलित पुरुषों का एक ऐसा वर्ग (जो सवर्ण काम करते रहे हैं) सामने आया है जो गांव में मां-बाप का प्यारा बेटा बनकर शादी कर दो-चार बच्चे पैदा कर देता है फिर शहरों में आकर दूसरी बीवी की तलाश शुरू कर देता है।

अब जो पढ़ी-लिखी दलित महिलाओं की एक पीढ़ी सामने आने लगी है, वह अपनी मर्जी से फैसले लेने लगी है। वह पढ़ाई, लिखाई, नौकरी के चुनाव सहित विवाह के लिए स्वतन्त्र निर्णय लेने लगी है तो धर्मवीर जैसे दलित पुरुष फन काढ़ रहे हैं कि 'तुम हमारी गुलाम हो। अब हमारे पास भी पैसा है, सुरा है, हम तुम्हें मादा बनाकर अपने हरम में रखेंगे।' इस तरह की बाजारवादी-भागवादी मानसिकता को ध्वस्त करने की जरूरत है। उनके फन को कुचलने की जरूरत है, वरना ये हमारा जीना मुश्किल कर देंगे। कुछ लोगों (पुरुषों) ने धर्मवीरीय सुर में ताल मिलाते हुए कहा कि साहित्य में वाद-संवाद होने चाहिए न कि जूते-चप्पल चलने चाहिए। ऐसे लोगों से हमारा कहना है कि क्या उन्होंने एक पंक्ति लिखकर भी इस दलित स्त्री-विराधी मानसिकता का विरोध किया? जब लिखित विरोध के बाद भी कोई गाली-गलौच पर उतर आए तो रास्ता क्या बचता है?

एक जातिविहीन, धर्मविहीन, समतामूलक समाज की स्थापना के लिए अन्तर्जातीय विवाह एक कारगर कदम साबित हो सकता है। दुःख की बात यह है कि सवर्ण लोग इसके विरोध में बंदूक उठाते ही रहे हैं अब दलित पुरुष भी डंडा लेकर खड़े हो गए हैं क्योंकि इससे उनका हिटलरी अहं तुष्ट होता है। दिक्कत यह है कि वह किसी समस्या पर गंभीरता से सोचना नहीं चाहते, मानवीय रुख नहीं अपनाना चाहते हैं। अम्बेडकर और बुद्ध जैसे दलितों के मसीहा पर प्रहार कर दलितों को दिक्प्रमित करना चाहते हैं। दरअसल औरत के लिए फतवेबाजी की परंपरा पुरानी रही है। मनु से लेकर धर्मवीर तक की शब्दावली में आप उन फतवों की समानता ढूँढ सकते हैं। सीमोन द बोउआर ने ठीक ही लिखा है कि, 'चूंकि गाय-बछड़ों और गुलामों की तरह स्त्री भी पुरुष की सम्पत्ति थी अतः पुरुष के लिए बहुविवाह की छूट थी। विवाहों पर प्रतिबंध स्त्री की भावना के कारण नहीं, बल्कि आर्थिक कारणों से लगे।'।

(स्त्री उपेक्षिता, पृ. 57)

ध्यान देने की बात यह है कि चाहे जमींदार हो, धीसू-माधव हो या फिर

धर्मवीर उन सभी के लिए बुधिया मात्र एक स्त्री है। उसकी यौनिकता बहस का मुद्दा है। धर्मवीर यह अलौकिक तर्क देते हैं कि चूंकि बुधिया के पेट में जमींदार के बेटे का बच्चा था इसीलिए घीसू-माधव ने उसे मरने के लिए छोड़ दिया। कैसा संवेदनहीन और बचकाना तर्क है यह कि बलात्कारी अगर सवर्ण है तो अपनी बीबी को मरते देखेंगे या मार देंगे। एक पल के लिए इसे सही भी मान लें तो आज भी हम देखते हैं कि स्त्रियों का यौन-शोषण करने वालों में अधिकतर उसके रिश्तेदार होते हैं। यहाँ तक कि भाई और बाप भी उसमें शामिल होते हैं। बुधिया के साथ चाहे बलात्कार करने वाला कोई भी हो वह एक स्त्री के लिए सिर्फ बलात्कारी ही होगा। अगर हमारे परिवार में किसी के साथ बलात्कार हो जाए तो क्या उसे सचमुच बुधिया की तरह मरते छोड़ दिया जाए? धर्मवीर जैसे स्त्री-विरोधी लोग यही कहेंगे। यह कैसा अमानवीय तालिबानी और सांप्रदायिक विचार है, यह सोचने की बात है। इसीलिए जरूरत है कि अधिक से अधिक दलित स्त्रियाँ शिक्षित हों ताकि इन ढोंगियों को जवाब दिया जा सके। इस बात को हमारे महापुरुष जानते थे, इसीलिए ज्योतिबा फुले ने कहा था कि “काफी परिपक्व सोच-विचार के पश्चात मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि कन्या पाठशालाओं की स्थापना बाल-विद्यालयों से भी अधिक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक है क्योंकि शिक्षा की जड़ें सामान्यतया स्त्रियों में अधिक गहरी होती हैं।”

यह पुस्तक किसी व्यक्ति विशेष के खिलाफ नहीं है बल्कि उस दूषित मानसिकता के खिलाफ है जो स्त्री को अपना उपनिवेश मानने की सदियों पुरानी विचारधारा को पुष्ट करती है दूसरी बात हम यह भी कहना चाहेंगे कि व्यक्ति समाज की पहली इकाई है। एक मरी हुई मछली पूरे तालाब को प्रदूषित कर देती है और इस तरह की स्त्री विरोधी मानसिकता रखने वालों की हमारे समाज में कमी नहीं है। धर्मवीर तो खुलकर मैदान में उतरे हैं पर छद्म लोगों की भी एक बड़ी संख्या हमारे समाज और साहित्य में है।

इसीलिए इस पुस्तक को स्त्री-विरोधी, बुद्ध और अम्बेडकर विरोधी मुहिम के प्रतिकार के रूप में देखा जाना चाहिए। यह एक प्रतीकात्मक विरोध हम दर्ज कराना चाहते हैं कि अब स्त्री किसी पुरुष का उपनिवेश बनकर नहीं रहेगी चाहे वह पति दलित हो या सवर्ण पति।

सह-सम्पादक

आधी दुनिया का जवाब
स्त्री विरोधी पुरुषों की विकृत मानसिकता का खण्डन
सुशीला टाकभौरे

जो दलित साहित्य लेखन से जुड़ा है अथवा जो दलित आन्दोलन से यथार्थ रूप में जुड़ा है, जो स्त्री-पुरुष समानता का समर्थक है, जो स्त्री-पुरुष भेद को मिटाकर स्त्री-पुरुष समानता को स्थापित करना चाहता है, जो स्त्री अधिकारों का समर्थक है वह इन मुद्दों पर अपने विचार जरूर व्यक्त करना चाहेगा। जैसे क्या दलित पुरुषों को दलित स्त्रियों को अपने नियंत्रण में रखना चाहिए?

यदि कोई इस बात को पढ़कर भी अथवा जानकर भी इसका जवाब नहीं देता है अथवा जवाब नहीं देती है तो वे इसके समर्थक माने जायेंगे और इन बातों का समर्थन करने वाले लोग चाहे वे स्त्री हों या पुरुष दलित साहित्यकार कभी नहीं माने जा सकते। वे दलित आन्दोलन से जुड़े हुए भी नहीं माने जा सकते क्योंकि दलित साहित्य का लक्ष्य दलित आन्दोलन है और दलित आन्दोलन का लक्ष्य शोषण, उत्पीड़न, विषमता का विरोध है स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारे का समर्थन है।

जब कोई किसी को अपने नियंत्रण में रखता है तो वह अपने नियंत्रण के माध्यम से उसे गुलाम बनाकर रखता है। दलित पुरुष दलित स्त्रियों पर अपना नियंत्रण रखकर उन्हें अपना गुलाम बनाकर रखें यह बात बिल्कुल अनुचित ही नहीं बल्कि असहनीय और अशोभनीय भी है। जब स्त्री विरोधी मनुवादी विचारधारा का विरोध दलित पुरुष करते हैं तब दलित स्त्रियों पर नियंत्रण रखने या उन्हें बन्धन में रखने की बात वे कैसे सोच सकते हैं? 'दलित स्त्रियों को अपने नियंत्रण में रखना' यदि इस तरह का विचार भी दलित पुरुष अपने मन में या मस्तिष्क में लाते हैं तो यह उनके लिए निन्दनीय है। दलित स्त्रियाँ भी उन्हें ईंट का जवाब पत्थर से दे सकती हैं।

वह जमाना बीत गया जब सम्पूर्ण दलित समाज उच्च वर्ग के नियंत्रण में था, उनका गुलाम था। अब वे अपना समता, स्वतन्त्रता का अधिकार मांग रहे हैं तब दलित पुरुषों की तरह दलित स्त्रियों को भी समता-स्वतन्त्रता का अधिकार मिलना चाहिए। दलित स्त्री दलित पुरुष के नियंत्रण में क्यों रहे? दलित स्त्री से स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार कोई भी छीन नहीं सकता है।

अक्सर यह समझा जाता है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्रता का उपयोग स्वच्छन्दता के रूप में करती हैं। सामाजिक, नैतिक दृष्टि से स्वच्छन्दता को अच्छा नहीं माना जाता, इसलिए स्वच्छन्दता के भय से स्त्रियों को स्वतन्त्रता का अधिकार भी नहीं दिया जाता। समाज की यह संकीर्ण मानसिकता है कि स्त्रियाँ स्वतन्त्रता-स्वच्छन्दता से गैर मर्दों के साथ व्यभिचार करती हैं और मुक्त रूप से व्यभिचारी जीवन जीने लगती हैं।

यह बात तो पुरुषों पर भी लागू होती है मगर पुरुष स्वच्छन्दता को कभी बुरा नहीं कहा जाता। पुरुष स्वच्छन्दता या पुरुषों के व्यभिचारी-जीवन व्यक्तित्व को सामान्य रूप में लिया जाता है। समाज का यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार स्त्री-पुरुष के भेद को निरूपित करता है कि पुरुष स्वच्छन्द होकर व्यभिचारी जीवन जी सकता है किन्तु स्त्री की स्वच्छन्दता समाज को मान्य नहीं है। स्त्री यदि किसी एक पुरुष से भी प्रेम करती है तो उसे व्यभिचार कहा जाता है। यदि कोई स्त्री अपने पति से पीड़ित या दुखी होकर अकेली रहने का फैसला करती है तब इसको भी उस स्त्री का व्यभिचार माना जाता है।

सामाजिक मूल्यों के अनुसार कोई स्त्री नैतिकता, पवित्रता, त्याग, तपस्या से पूर्ण सदाचरण का जीवन बिताती रहे, यदि वही स्त्री किसी पर-पुरुष के साथ क्षणभर के लिए अकेली दिख जाए तो उसकी जीवनभर की त्याग-तपस्या का कोई मूल्य नहीं रह पाता। क्षणभर में वह कुलटा, कलंकनी, चरित्रहीन, व्यभिचारी मान ली जाती है। ऐसे सामाजिक मूल्य स्त्रियों का क्या मूल्यांकन करेंगे? और क्या कभी ये सामाजिक-मूल्य स्त्रियों को न्याय दे सकेंगे?

असल में वर्तमान सामाजिक मूल्यों का आधार पुरुषवादी मानसिकता है। जिनके आधार पर हमेशा पुरुषों का पक्ष लिया जाता है और स्त्रियों का विरोध किया जाता है। विषमतावादी लिंगभेद की नीति के आधार पर निश्चित किये गये इन सामाजिक मूल्यों और सामाजिक-नैतिक मानदण्डों को बदलने की आवश्यकता है। मनुवादी पुरुषवादी सामाजिक मूल्यों के स्थान पर निष्पक्ष मानवतावादी सामाजिक मूल्यों की स्थापना होनी चाहिए। तभी स्त्रियों को न्याय मिल सकेगा, तभी उन्हें सामाजिक समानता और स्वतन्त्रता का पूर्ण अधिकार मिल सकेगा। अन्यथा दलित स्त्रियों और सम्पूर्ण स्त्री वर्ग के साथ हमेशा अन्याय होता रहेगा। दलित स्त्रियों पर अन्याय के रूप में अक्सर अनेक निराधार प्रश्न उठाये जाते हैं जैसे दलित स्त्रियाँ गैर दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करती हैं ? दुष्ट प्रकृति के पुरुषों द्वारा इस तरह के प्रश्न उठाना ही सरासर गलत है, यह दलित स्त्रियों की अस्मिता के साथ अन्याय है। यह बात किस आधार पर कही जा सकती है कि दलित स्त्रियाँ गैर दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करती हैं?

सम्पूर्ण दलित समाज हमेशा शोषित-पीड़ित रहा है। गरीबी और अभावों में

रहकर, कठिन परिश्रम करते हुए दलित वर्ग हमेशा अन्याय और हिंसा का शिकार रहा है। ऐसे दलित वर्ग की महिलाएँ तो और अधिक शोषित-पीड़ित रही हैं। एक तो उच्च वर्ग द्वारा किया गया अन्याय-अत्याचार दूसरा अपनों द्वारा अपने घर-परिवार में किया गया शोषण और अन्याय। स्त्री होने के नाते दलित स्त्री हमेशा दोहरा सन्ताप भोगती रही है।

दलित पुरुषों से अधिक श्रम करने वाली दलित स्त्रियाँ सामाजिक-पारिवारिक और आर्थिक क्षेत्र में दलित पुरुषों से अधिक श्रम करने वाली और अधिक जिम्मेदारियाँ उठाने वाली दलित स्त्रियाँ क्या अपनी मर्जी से गैर दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करने जा सकती है?

कड़ी मेहनत से थकी, छुआछूत के भेदभाव से त्रस्त, बलात्कार-व्यभिचार से सदा भयभीत दलित स्त्री के विषय में यह सोचना भी निराधार है क्योंकि दलित स्त्रियों, जहाँ तक उनके बस में है का अपना स्वाभिमान है, उनका अपना अहंभाव है। वे भी अपने दुश्मनों को दुश्मन समझती हैं। वे भी शोषकों से बदला लेना चाहती हैं फिर भला वे गैर दलित मर्दों के साथ मनोरंजन करने, भोग-विलास करने या व्यभिचार करने कैसे जा सकती हैं?

स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध हमेशा रहे हैं और रहेंगे। ये सम्बन्ध सामाजिक-पारिवारिक स्तर पर होते हैं। कभी-कभी अपवाद रूप में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध असामाजिक या गैर पारिवारिक रूप में भी होते हैं लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इस बात को सामान्य रूप से इस रूप में उठाया जाये कि दलित स्त्रियाँ गैर-दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करती हैं।

यदि किसी पुरुष अथवा दलित पुरुष के मन में आम दलित स्त्री के चरित्र के प्रति शंका के रूप में यह प्रश्न उठता है तो यह उस पुरुष की मानसिकता की विकृति ही मानी जायेगी।

पहले मातृसत्ता थी। स्त्रियों को पुरुषों से अधिक मान-सम्मान और अधिकार प्राप्त थे। दलित जातियों के लोग ही यहाँ के मूलनिवासी हैं। मूलनिवासियों की संस्कृति में मातृसत्ता के कारण स्त्रियों को अधिक अधिकार प्राप्त थे। आदिवासियों की संस्कृति आज भी इसका प्रमाण है। आर्यों के आगमन और आक्रमण के बाद आदिवासी मूल निवासी संस्कृति पर धीरे-धीरे हिन्दूकरण का प्रभाव बढ़ता गया। मनुवाद-ब्राह्मणवाद के प्रभाव के कारण मूलनिवासी दलित जातियों में भी स्त्रियों पर अनेक बन्धन लगा दिये गये। उन्हें अधिकारहीन बनाकर दोगम (दूसरे) स्थान पर माना गया। पितृसत्ता पुरुष-सत्ता को प्रधानता दी गई। यह प्रथा या अवधारणा मनुष्य समाज में आज भी विद्यमान है जिसके कारण स्त्रियों को पुरुषों के समान या बराबरी के अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

देश के संविधान में, कानून की पुस्तकों में और आदर्श कथाओं में भले ही

स्त्री-पुरुष समानता दिखाई दे मगर व्यावहारिक जीवन में स्त्री-पुरुष समानता की भावना का अभाव दिखाई देता है। कोई भी पुरुष स्वेच्छा से किसी स्त्री को अपने से अधिक या अपने बराबर मानने के लिए तैयार नहीं मिलेगा, क्योंकि उसकी ऐसी मानसिकता ही नहीं है। अपने स्वार्थ और लाभ के लिए पुरुष यह मान बैठा है कि वह स्त्री से श्रेष्ठ है, वह स्त्री से महान है। अपनी इसी मानसिकता के कारण वह सामाजिक जीवन में कदम-कदम पर स्त्री के प्रति हीनता, उपेक्षा और नगण्यता का भाव प्रदर्शित करता है। कभी अपने मतलब या स्वार्थ के लिए वह स्त्री को सम्मान देता है मगर मतलब निकलने के बाद वह उसकी उपेक्षा करने लगता है। कोई पुरुष स्त्री को अपने बराबर मानता भी है तो जैसे उपकार के रूप में ही मान पाता है। इसके बदले में उसकी अपेक्षा रहती है कि स्त्री और अधिक विनम्र और अधिक मूक और अधिक कर्तव्यशील और अधिक अनुगामिनी बनकर रहे। तभी वह पुरुष की नजरों में सम्मान पा सकती है। स्त्री के इसी आदर्श रूप को देवी कहा गया है मगर सहज, समर्थ, सबल रूप में जीने वाली स्त्री को मानवी मानने से भी नकारा गया है।

स्त्री यदि पुरुष के समान अधिकार सम्पन्न होकर, आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ होकर, अपने हित में अपने लिए स्वयं निर्णय लेकर, अपनी इच्छा, खुशी और जरूरत के अनुसार अपना जीवन जीती है तब वह देवी नहीं स्वेच्छाचारिणी, व्यभिचारिणी मान ली जाती है। पता नहीं लोग स्त्री को जीवित इनसान या मानवी मानने के लिए तैयार क्यों नहीं होते? शायद इसलिए कि मानवी मानने के बाद वह मानव अधिकार की अधिकारिणी बन जायेगी।

इस दृष्टि से पुरुष वर्ग बहुत ही स्वार्थी-खुदगर्ज और बहुरूपिया है। वह दो चेहरे रखता है। ऊपरी चेहरे पर भले ही वह मानवता और सद्भावना की महानता के भाव प्रदर्शित करते हुए स्त्री सत्ता को स्वीकार कर ले मगर भीतरी चेहरे पर या उनके मन-मस्तिष्क के किसी कोने में ये भाव जरूर रहते हैं कि वे लोग स्त्री से कहीं अधिक ऊंचे हैं, बड़े हैं, महान हैं, अधिक अधिकार सम्पन्न हैं जैसे पुरुष रूप में पैदा होते ही उन्होंने यह अधिकार प्राप्त कर लिया हो।

पुरुष वर्ग बड़ी सहजता के साथ स्वयं को न्यायप्रिय मानता है। वह स्त्री के साथ कितना अन्याय करता है इस बात को कभी कबूल ही नहीं करता। उसकी महानता के ऐसे अनेक आयाम हैं, अनेक चरण हैं। किसी भी बात का दोषारोपण वह स्त्री पर बड़ी आसानी से कर देता है। चरित्र के नाम पर शुचिता की सम्पूर्ण जिम्मेदारी स्त्री पर ही लादी गई है। पुरुष स्वतन्त्र है, मुक्त है। वह जन्मजात श्रेष्ठ है। इस दृष्टि से दलित पुरुष भी स्वयं को पुरुष होने के कारण जन्मजात श्रेष्ठ मानते हैं। शुचिता का प्रश्न दलित पुरुषों के लिए भी नहीं है।

पुरुष के विषय में यह भी मनवाया गया है कि पुरुष कभी बूढ़ा नहीं होता।

वह हमेशा पौरुष से पूर्ण रहता है। स्त्री के स्त्रीत्व को मातृत्व में समेटकर रख दिया गया है। स्त्री के लिए कहा गया है कि वह जननी रूप में पूर्णता प्राप्त करे और पुरुष किसी भी उम्र में, किसी भी रूप में स्त्री पर विजय प्राप्त करके पूर्णता और श्रेष्ठा के पद पर आसीन रहे।

इक्कीसवीं सदी में, आज के वैज्ञानिक युग में यदि अभी भी स्त्रियों के प्रति इस तरह की भेदभावपूर्ण भावना और उपेक्षा है तो यह बात स्त्रियों के प्रति घोर अन्याय से कम नहीं मानी जा सकती।

स्त्रियों के प्रति अपमान की भावना रखने वाले पुरुष यह मानते हैं कि स्त्रियां, खासकर दलित स्त्रियाँ जारकर्म करके जारज सन्तानें पैदा करती हैं अतः डी. एन. ए. टेस्ट कानून लागू होना चाहिए। यह बात सोचने वाला पुरुष सहज सामान्य व्यक्ति नहीं हो सकता। अपवाद स्वरूप किसी स्त्री के कार्य-व्यवहार से अथवा अपने घर-परिवार की स्त्री से क्षुब्ध कोई पुरुष सम्पूर्ण स्त्री समाज पर अथवा सम्पूर्ण दलित स्त्री वर्ग पर यह दोषारोपण करने का अधिकार नहीं रख सकता। उसे कोई अधिकार नहीं है कि वह सम्पूर्ण दलित स्त्री वर्ग पर यह अपमान जनक दोष लगाये।

सर्वप्रथम तो स्त्रियाँ आक्रोश के साथ इस बात का और उस पुरुष वर्ग का खण्डन करेंगी। स्त्रियाँ इस बात को मनवाकर रहेंगी कि यह बात, यह दोषारोपण बिल्कुल गलत है। यदि वह पुरुष इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है तब स्त्रियाँ भी अगला कदम उठा सकती हैं। यदि सम्पूर्ण स्त्री वर्ग की सन्तान जारज सन्तान है तब डी.एन.ए. टेस्ट की भी जरूरत क्या है? पुरुष ही स्त्री से क्यों प्रमाण मांगता है? स्त्री भी बच्चों पर पुरुष के अधिकार को खारिज कर सकती है तब बच्चों की पहचान पुरुष (पिता) से नहीं माँ से होगी। फिर से मातृसत्ता का युग आयेगा तब पुरुष कहीं स्त्रियों के पैरों तले रौंदा जायेगा कहां तब कैसी रहेगी? डी.एन.ए. टेस्ट द्वारा जांच का अधिकार और पिता होने का प्रमाण मांगने वाले पुरुष कहीं अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी तो नहीं मार रहे हैं?

भारतीय हिन्दू संस्कृति में सामन्ती वर्ग में सनातन रीति चली आई है। धर्मग्रन्थों में इसके प्रमाण हैं। विवाह जैसे सामाजिक धार्मिक बन्धन में बंधने के बाद भी जारकर्म और जारज सन्तान के जन्म को कोई नहीं रोक पाया है। ऐसी स्थिति में लोग तसल्ली का ताना-बाना बुनने के लिए और अपने मन को समझाकर एक आदर्श का विश्वास ओढ़े रहने के लिए स्वयं ही ऐसी बातों पर पर्दा डाले रखते हैं।

दलित समाज में दलित स्त्रियों का दाम्पत्य जीवन तो खुली किताब की तरह होता है। उनकी हर बात डंके की चोट पर होती है। यहाँ छिपाव-दुराव की कोई बात नहीं है। दलित स्त्रियाँ स्वयं बेबस नहीं हैं। पति से झगड़ा, मारपीट और तलाक सबके सामने होता है। दलित स्त्रियाँ अपने पति को छोड़ सकती हैं और अपना पुनर्विवाह कर सकती हैं। विधवा-विवाह भी दलित समाज में बुरा नहीं माना जाता।

मेहनत करके अपना पेट खुद पालने वाली, अपने परिवार का पालन करने वाली दलित स्त्री अपने निर्णय खुद ले सकती है फिर उसे जारकर्म करके जारज सन्तान पैदा करने की जरूरत क्यों होगी?

सामन्ती सवर्ण समाज में स्त्रियों पर अधिक बन्धन हैं। सामाजिक सम्मान, पारिवारिक मर्यादा और वंश के लिए स्त्रियों का शोषण अधिक होता रहा है। सवर्ण सामन्ती और सामान्य गरीब स्त्रियों शोषण और अन्याय सहकर भी सामाजिक-पारिवारिक सम्मान और मर्यादा के लिए मूक रहकर अपनी आहुति देती रही हैं। इस दृष्टि से सवर्ण सामन्ती पुरुष वर्ग ने भी समझदारी और धैर्य का परिचय दिया है। 'नियोग प्रथा' से उत्पन्न सन्तान को स्त्री के पति ने पिता का प्यार और जायज सन्तान का मान-सम्मान दिया है।

अश्वमेध यज्ञ और घोड़ों से क्या सचमुच स्त्रियों को सन्तान पैदा हुई होगी? फिर भी यह विश्वास रखा गया कि पैदा होने वाली सन्तान जारकर्म से पैदा हुई जारज सन्तान नहीं बल्कि ईश्वर प्रदत्त पवित्र, सम्मानित सन्तान है। प्रजा वर्ग, समाज-परिवार ऐसा ही मानते थे, पिता पुरुष भी ऐसा ही मानता था क्योंकि वह स्वयं को या अपनी कमी को जानता था।

भारतीय संस्कृति की महानता के ऐसे एक से बढ़कर एक अनेक उदाहरण हैं। इस परिवेश में पैदा हुआ, इस संस्कृति को जीने वाला, इस संस्कृति से निर्मित मानसिकता का व्यक्ति यह प्रश्न कैसे उठा सकता है कि सम्पूर्ण स्त्री वर्ग अथवा विशेषकर सम्पूर्ण दलित-स्त्री वर्ग जारकर्म करके जारज सन्तान पैदा करती हैं?

इसके लिए डी.एन.ए. टेस्ट की जरूरत नहीं है बल्कि ऐसा कहने वाले पुरुषों के पुरुषत्व की जांच की जरूरत है कि क्या वे स्वयं अक्षम हैं? क्या वे स्वयं असमर्थ हैं? क्या वे स्वयं नपुंसक हैं? उनकी स्त्रियों को अन्य पुरुषों के साथ जारकर्म करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

कहीं यह उनकी खुद की अपाहिज मानसिकता तो नहीं कि वे सक्षम, सबल स्त्री को जारकर्म का दोष लगाकर दोषी बताना चाहते हों और अपनी कमजोरी को छिपाना चाहते हों?

स्त्री के अधिकार और अस्मिता से जुड़ा यह प्रश्न भी है कि क्या तलाक की व्यवस्था के बाद स्त्री को भरण-पोषण नहीं मिलना चाहिए? इसका उत्तर है क्यों नहीं मिलना चाहिए? जरूर मिलना चाहिए। अन्याय के अलग-अलग तरीके होते हैं। अनेक रूप में, कभी-कभी बहुत सुन्दर रूप में भी अन्याय किये जाते हैं। विवाह को जीवन की सबसे सुन्दर, सुखकारक घटना माना गया है। सात फेरों के साथ, सात सौगन्धों के साथ, सात जनम का साथ निभाने की बात के साथ किये गये विवाह का परिणाम तलाक हो जाता है। तलाक के बाद दुष्परिणाम यदि कोई भोगता है तो वह स्त्री ही होती है।

समाज व्यवस्था के अनुसार विवाह एक अनुबन्ध है जो समाज के द्वारा अनजान युवक-युवती अथवा स्त्री-पुरुष को एक सामाजिक बंधन में बांधता है। विवाह के रीति-रिवाजों और परम्पराओं के द्वारा विवाह का महत्व और समाज-विकास के दृष्टिकोण को बताया जाता है।

वर बारात लेकर वधू के घर जाता है और विवाह के बाद वधू को अपने घर ले आता है। सामाजिक मानसिकता के अनुसार कन्या वस्तु है जिसे उसके माता-पिता अथवा भाई कन्यादान के रूप में वर को सौंप देते हैं। निराश्रित कन्या धान (चावल) के पौधे की तरह अपने जन्मस्थान से दूर कहीं और रोप दी जाती है। वैसे भी कन्या अबला होती है। मनुस्मृति काल से, मनुवादी मानसिकता के साथ उसे अबला रूप में ही पाला जाता है। अबला रूप में ही वह बड़ी होती है। अबला रूप में ही उसे पति रूपी स्वामी को सौंप दिया जाता है।

पति स्वामी है, अधिकार सम्पन्न है। गेहूँ की फसल की तरह वह अपनी मूलभूत जड़ों से जुड़ा रहता है। उसके अपने सब साथ रहते हैं जिससे वह और अधिक शक्ति-सम्पन्न, सत्ता-सम्पन्न और मन का राजा बन जाता है। ऐसी स्थिति में अपनी अबला पत्नी के प्रति वह निरंकुश हो जाये तो क्या आश्चर्य? अपनी तानाशाही बताने लगे तो क्या असंभव? अपनी मनमानी करते हुए अबला पत्नी पर जुल्म ढाने लगे तो क्या विस्मय?

और अधिकतर ऐसा ही होता है। जुल्म सहते-सहते स्त्रियाँ मर जाती हैं। भूखी रहकर, मार खाकर, कमजोरी के कारण, कभी बच्चा पैदा होते समय और कभी जुल्म-सितम से तंग आकर वे स्वयं ही आत्महत्या कर लेती हैं।

माता-पिता उन्हें अपने घर से विदा करके जैसे गंगा नहा लेते हैं। जैसे कन्यादान करके ही वे सभी पापों से मुक्त हो गये हों। माता-पिता अपनी बेटियों को यही शिक्षा देते हैं “बेटी मर जाना मगर ससुराल से पलायन नहीं करना। अपने कुल का नाम और हमारा नाम रोशन करने के लिए दुख सहते रहना। कभी मुंह नहीं खोलना, कभी अपनी आवाज नहीं उठाना। कभी अपने अधिकार की बात मत करना। तेरे त्याग-तपस्या और समर्पण की आहुति में ही हमारा सम्मान है, अपने कुल की मर्यादा है। भले ही तेरे जिन्दा रहते तेरा पति दूसरा विवाह कर ले, वह चाहे अनेक प्रेम-प्रकरण रखे, चाहे वेश्यागमन करता रहे मगर तुम आदर्श पत्नी के रूप में सदाचारिणी, आज्ञाकारिणी, अनुगामिनी बनी रहना।”

स्त्री को कर्तव्यपरायण बनाये रखने के लिए समाज में कुछ इस तरह की मान्यताएँ भी व्याप्त हैं जैसे ससुराल में रहते हुए मरने वाली स्त्री स्वर्ग जाती है। पति के पहले मरने वाली स्त्री भाग्यवान होती है भले ही पत्नी के मरते ही पति दूसरी शादी कर ले। पुरुष को सब क्षमा है, स्त्री को कुछ भी क्षमा नहीं है। पति की मृत्यु के बाद विधवा का जीवन नर्क है। नर्क है नहीं बल्कि बना दिया जाता

है इस बात को स्त्री समझ नहीं पाती है। इसे वह अपने कर्मों का फल और भाग्य का दोष मानकर सब अन्याय सहती रहती है।

पुत्री को इस शिक्षा के साथ ही ससुराल भेजा जाता है कि “पिता के घर से पुत्री की डोली उठती है और पति के घर से उसकी अर्था उठती है।” पुत्री की डोली उठाकर ही यह मान लिया जाता है कि वह उनके लिए मर गई। तब ससुराल में वह जिये या मरे इसकी चिन्ता वे नहीं करते।

ऐसे उदार सास-ससुर के दामाद कितने भाग्यशाली होते हैं, साथ ही कितने कर्तव्यनिष्ठ होते हैं, वे हर क्षण याद रखते हैं कि “अब इस पत्नी रूपी वस्तु का मैं मालिक हूँ। मैं जो चाहूँ, इसके साथ चाहे जैसा व्यवहार कर सकता हूँ।”

दहेज के नाम पर जिन्दा जलाई जाने वाली स्त्रियों की कहानियाँ क्या इस देश में कम हैं?

ससुर, जेठ, देवर द्वारा बलात्कार और अत्याचार होने पर जुबान खोलने वाली स्त्रियों के प्रति हिंसा के किस्से क्या कम हैं? समाज में 90% महिलाएँ तरह-तरह के अन्याय, अत्याचार, हिंसा और शोषण की शिकार बनकर कष्ट भोगती हैं। कुछ स्त्रियों को पति द्वारा दिये गये कष्टों से मुक्ति मरने के बाद ही मिल जाती है।

स्त्रियों पर सदियों से अन्याय-अत्याचार होता रहा है। शायद अभी भी वैसा ही अन्याय होता रहता है। कुछ मानवतावादी समाज सुधारकों ने कानून के रूप में स्त्रियों को अपनी सुरक्षा के लिए कुछ अधिकार देकर उन्हें सबल बना दिया है। हिन्दूवादी समाजसुधारक दया और सहानुभूति का केवल संदेश देकर स्त्री के प्रति हिंसा का विरोध करते रहे मगर महात्मा ज्योतिबा फुले और डॉ. अम्बेडकर स्त्री विरोधी मनुवादी समाजनीतियों को उनका मानव होने का अधिकार दिलाने में सफल हुए। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल के द्वारा और भारत के संविधान में स्त्रियों के अधिकारों का स्पष्ट लिखित उल्लेख करके स्त्रियों को कष्टों से मुक्त जीवन जीने का अभयदान दिया है।

स्त्रियों के साथ होने वाली हिंसा, अत्याचार की घटनाओं से सन्तप्त शोषित-पीड़ित स्त्री को यह अधिकार मिल गया है कि वह चाहे तो अपने अत्याचारी, दुराचारी या अयोग्य पति से मुक्ति पा सकती है, उससे तलाक ले सकती है लेकिन तलाक लेकर वह जायेगी कहाँ? यह बात भी शासन को और कानून को पता है। स्त्रियों के हित में, स्त्रियों के हक में कानून बनाने वाले संविधान निर्माता बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर को मालूम था कि पति से तलाक लेने के बाद भारतीय अबला पत्नी पूर्णरूप से निराश्रित हो जायेगी इसलिए उन्होंने तलाक के बाद कानून के रूप में स्त्री के भरण-पोषण के अधिकार की बात भी रखी है। इस तरह सम्पूर्ण औचित्य के साथ स्त्रियों को तलाक के बाद अपने पति से कानून के द्वारा अपने भरण-पोषण का खर्चा प्राप्त करने का अधिकार दिया गया है।

यह कानून है पूरे देश के लिए, आम जनता के लिए और सम्पूर्ण स्त्रियों के लिए। अपवादस्वरूप कुछ घटनाओं अथवा सही बात को तोड़-मरोड़ कर बताने से स्त्रियों का यह अधिकार छीना नहीं जा सकता है। अक्सर कुछ पुरुष तलाक के बाद अपनी पत्नी से पूर्ण रूप से मुक्ति चाहते हैं। तलाकशुदा पत्नी को खाना खर्च देना या भरण पोषण की रकम देना उन्हें नागवार लगता है। इससे मुक्त होने के लिए वे पत्नी के चरित्र को कलंकित करते हैं, अनेक दलीलें देते हैं अन्य दूसरे कानूनों का हवाला देते हैं। कभी पत्नी को ही जान से मार देने की धमकी देकर, डरा-धमका कर भरण-पोषण पाने का अधिकार छोड़ने के लिए मजबूर करते हैं लेकिन जो स्त्री शिक्षित है, कानून की जानकार है, जुझारू है, संघर्षशील है, निडर, साहसी और प्रतिशोध लेने वाली है वह अपने जुल्मी बलमा को ऐसे ही नहीं छोड़ती है अपने अधिकार की लड़ाई में अन्त तक टिकी रहती है। निरंकुश पति को घुटने टेकने पर मजबूर कर देती है और अन्त तक उसको अपने पैरों की धूल चटवाती रहती है। गुस्सा-आक्रोश होने पर भी, नाराजी-प्रतिशोध होने पर भी पति अपनी पत्नी को तलाक के बाद भरण-पोषण की रकम देने के लिए मजबूर रहता है।

मुस्लिम धर्म में तलाक के बाद पत्नी का पति पर कोई अधिकार नहीं रहता। पति द्वारा मेहर लौटाने के बाद पत्नी उस पर कोई दावा नहीं कर सकती, भरण-पोषण की मांग भी नहीं कर सकती है मगर इसके बाद भी शहानूर बेगम को तलाक के बाद उनके पति से भरण-पोषण का अधिकार भारतीय संविधान के कानून द्वारा दिलाया गया यह स्त्री अधिकार की बहुत बड़ी जीत है, कानून की ताकत की जीत है, स्त्री शोषण के इतिहास को झकझोरने वाली बहुत बड़ी घटना है। सम्पूर्ण स्त्री वर्ग के शुभचिंतक डॉ. अम्बेडकर ने भारत देश के संविधान में कानून के रूप में स्त्रियों को तलाक के बाद अपने पति से भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार दिया है।

स्वतन्त्र देश के संविधान में स्त्रियों को संरक्षण के रूप में दिये गये अधिकारों ने पुरुष तानाशाही को तोड़ा है, पुरुष वर्चस्व को झकझोरा है उनके एकाधिकार को नकारा है। इससे क्षुब्ध होकर पुरुष निरंकुश रूप में नये-नये तरीके अपनाकर, नये-नये आरोप लगाकर स्त्रियों के अधिकारों का हनन करते हैं। इसके लिए वे बार-बार मुखौटे लगाते हैं, बार-बार अपना चेहरा बदलते हैं, स्त्रियों पर आरोप लगाकर उन्हें उनके मूलभूत अधिकारों से वंचित रखने की साजिश रचते हैं। फिर भी यह सर्व सामान्य बात है कि तलाक के अधिकार और पति से भरण-पोषण पाने के अधिकार प्राप्त करने के बाद स्त्री सबलता बढ़ी है और पुरुष निरंकुशता में कमी आई है।

अपवादस्वरूप ही कभी कोई स्त्री अपने पति को सताती होगी। अपवादस्वरूप ही कभी कोई पति खुशी के साथ अपना गुनाह कबूल करके स्त्री को उसका अधिकार

देता होगा। फिर भी पुरुष यह प्रश्न उठाते हैं कि तलाक के बाद पत्नी को भरण-पोषण क्यों दिया जाये? अपनी इस बात को जायज ठहराने के लिए वह अपनी पत्नी को चरित्रहीन बताता है। अन्य पुरुषों से उसका सम्बन्ध बताता है और कभी-कभी उसकी सन्तान को जारकर्म से उत्पन्न जारज सन्तान बताकर उसके भरण-पोषण के अधिकार को छीनना चाहता है अथवा उसे असहाय अवस्था में पहुँचा कर उससे बदला लेना चाहता है अथवा अपनी दुश्मन मानी हुई पत्नी को भरण-पोषण के अधिकार रूप में अपनी कमाई का एक हिस्सा लगातार देते रहने के दुख से मुक्ति पाना चाहता है।

विवाह के बाद तलाक के लिए दोषी पति को पत्नी के भरण-पोषण पाने के अधिकार के लिए बाध्य रखना जरूरी है। अन्यथा विवाह के बाद तलाक एक खेल बन जायेगा। पुरुष स्त्री पर मनमाने अत्याचार करके चाहे जब मर्जी हो तलाक ले लेगा, चाहे जब दूसरा विवाह कर लेगा, चाहे जब दूसरी पत्नी को तलाक देकर तीसरा विवाह कर लेगा। इस तरह स्त्रियों का जीवन और उनकी अस्मिता मिट्टी के खिलौनों की तरह टूटती रहेगी। स्त्रियों का संरक्षण असंभव हो जायेगा। पुरुषों की मनमानी के सामने स्त्रियों का मान-सम्मान बेमानी हो जायेगा।

तलाक के बाद पति से जीवन भर भरण-पोषण पाने का अधिकार यथार्थ में पुरुष की नाक में नकेल की तरह है जिसके द्वारा तलाक के बाद भी पत्नी अपने पति देवता को मुक्त नहीं होने देती। उससे अपनी जिन्दगी की कीमत, अपनी इज्जत-आबरू की कीमत, अपने वैवाहिक जीवन की कीमत वसूल करती रहती है।

स्त्रियों के इस अधिकार के भय से पुरुष विवाह करते हैं तो निभाते हैं। वे तलाक से डरते हैं अथवा विवाह करने से ही डरते हैं कि यह सात जनम का साथ भले ही न हो मगर इस जनम में तो निभाना ही पड़ेगा, जिम्मेदारी उठानी ही पड़ेगी। ऐसी स्थिति में स्त्री भी निश्चिन्त होकर जी सकती है। जो स्त्री कानून-कायदे जानती है वह अपने अधिकारों के साथ जीती है जो नहीं जानतीं वे आज भी प्रताड़ित होकर जीवन को दुख के रूप में भोगती रहती हैं। पुरुष ऐसी स्त्रियों को अच्छा मानते हैं और साहसी, निडर, जानकार स्त्रियों को बुरा कहते हैं लेकिन यह आवश्यक है जिस सामाजिक वातावरण में स्त्री की मानसिकता का निर्माण होता है और जिस रूप में विवाह के बाद स्त्री पुरुष पर आश्रित होती है, उस रूप में उसे तलाक के बाद पति से जीवन भर भरण-पोषण पाने का अधिकार होना चाहिए। अन्तर्जातीय विवाह जाति व्यवस्था और दलित आंदोलन ये सभी एक-दूसरे से जुड़ी कड़ी हैं।

क्या अन्तर्जातीय विवाह नहीं होने चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर सर्वसम्मति से यही होगा कि अन्तर्जातीय विवाह होना चाहिए। स्त्री-पुरुष विवाह के सन्दर्भ में अन्तर्जातीय विवाह करना निषिद्ध बताया गया है इस निषेध का उद्देश्य है जाति व्यवस्था की रक्षा करना। वर्ण-व्यवस्था जाति व्यवस्था के कारण जो सामाजिक विषमता

है उसको बचाये रखने के लिए उच्च वर्ण और सवर्ण जातियों के द्वारा समाज में अन्तर्जातीय विवाहों का विरोध किया जाता है। जाति भेद की भावना बहुजन और शूद्र वर्ण की जातियों में भी है। जाति व्यवस्था में हर जाति दूसरी जाति से या तो बड़ी है या छोटी है। किसी भी जाति के लोग स्वयं को दूसरी जाति के लोगों से कम नहीं समझते। ऐसी स्थिति में जातियों का भी अपना अहंभाव होता है। भले ही कोई जाति विषमतावादी जाति व्यवस्था में सबसे नीचे के पायदान पर हो फिर भी उस जाति के लोग अपनी जाति के नाम पर अपना गौरव मानते हैं। जाति के प्रति गौरव का अहंभाव उनके सिर पर चढ़कर बोलता है। जाति के नाम पर जाति व्यवस्था बचाने के लिए बड़े-बड़े हत्याकांड कर दिये जाते हैं। उच्च वर्ण की नकल करके निम्नवर्ण भी अपनी जाति के नाम पर मर मिटते हैं। छुआछूत, अभाव, गरीबी, अन्याय, अत्याचार सब कुछ होने पर भी वे उच्च जातियों के बहकावे में आकर अपनी जाति की रक्षा करते हैं और अपने सीमित घेरे में घिरे रहकर वर्ण और जाति व्यवस्था बनाये रखने में अपनी मूर्खता से पूर्ण सहयोग देते हैं।

जाति-व्यवस्था की रक्षा के लिए अमानवीय से अमानवीय, घृणित हृदय विदारक घटनाएँ घटती हैं जिसे देखकर कोई भी जातियों के घेरे को तोड़ने की हिम्मत नहीं कर पाता। मालती और महादेव की प्रेम कहानी का अन्त कितना वीभत्स और अमानवीय था कि याद करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हेंदेगढ़ा की इस प्रेम कहानी और हत्याकाण्ड ने पूरे देश को सोचने पर मजबूर कर दिया था।

भय के साथ जहाँ कार्य करवाये जाते हैं वहाँ कानून भी पंगु हो जाता है अथवा मात्र कागजी या दिखावटी बनकर रह जाता है। अन्तर्जातीय विवाह अक्सर प्रेम के आधार पर होते हैं और समाज प्रेम का दुश्मन है इसलिए अन्तर्जातीय विवाहों का और अधिक विरोध किया जाता है।

जहाँ वर्णभेद और जाति व्यवस्था ही संस्कृति की विशेषता हो वहाँ उच्च वर्ण की जातियों के हित में हिन्दू संस्कृति की रक्षा के लिए अन्तर्जातीय विवाहों का विरोध होना स्वाभाविक है। अन्तर्जातीय विवाहों का मूलाधार जाति व्यवस्था को तोड़ना है। यह आज की सबसे बड़ी जरूरत है। 'जाति तोड़ो समाज जोड़ो' डॉ. अम्बेडकर ने ही हिन्दू समाज व्यवस्था की वर्णवादी जातिवादी नीतियों के विरोध में समाज को यह नारा दिया था। जातियाँ समाज को सीमित घेरे में बांधती हैं। व्यक्ति अपनी जाति और जातिवाद से ऊपर उठ नहीं पाता है। वह अन्य जाति के लोगों से सहज रूप में जुड़ नहीं पाता है। राष्ट्रहित के लिए भी जातिवाद घातक सिद्ध होता है। मानवीय विकास, राष्ट्रीय विकास और वैश्वीकरण के लिए सर्वप्रथम जाति व्यवस्था को खत्म करने की आवश्यकता है। डॉ. अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था को तोड़ने का सबसे सरल तरीका यह बताया है कि अधिक से अधिक अन्तर्जातीय विवाह हों तब जातियाँ अपने आप टूटती चली जायेंगी इस आधार पर अन्तर्जातीय विवाहों

का अत्यधिक महत्व सिद्ध होता है।

पहले देश गांवों में बसता था। गांव स्वयंपूर्ण होते थे। गांव के जीवन की आवश्यकताओं के कार्य अलग-अलग जाति के लोग करते थे। वे हमेशा अपना काम करते रहें और समाज-व्यवस्था बनी रहे, इसके लिए नियम बना दिये गये कि जो जिस काम या रोजगार को करता है वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपना काम करता रहे। रोजगार पैतृक बना दिये जाने पर कार्य-रोजगार के आधार पर उनकी जातियाँ बन गईं।

यह सब कहने की बातें हैं कि पहले जातियों के बीच ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं था और लोग अपने काम बदलकर जाति और वर्ण भी बदल लेते थे। असल में उच्च वर्ग ने अपनी उच्चता और सर्वश्रेष्ठता बनाये रखने के लिए ही समाज को वर्ण और जातियों में बांटा। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में लिखी वर्ण और जातियों की बातें आदर्श रूप में बताई जाती हैं जबकि यथार्थ जीवन में इसकी सच्चाई कुछ और है। बौद्ध धर्म के ह्रास और बौद्ध धर्मावलम्बियों के साथ किये गये अन्याय रूप में निम्न दलित जातियाँ बनी जो आज भी मनुवाद से पीड़ित होकर विषमता और भेदभाव की पीड़ा भोग रही हैं। यथार्थ जीवन में जाति के नियम बन्धन हैं। उनका पालन कठोरता से होता है। हेंदेगढ़ा में कुर्मी जाति की मालती और निम्न अछूत (चमार) जाति के महादेव की हत्या जातिवाद के नाम पर इसका उदाहरण है। ऐसे हत्याकाण्ड का विरोध होना चाहिए। अन्तर्जातीय विवाह को संरक्षण देना चाहिए।

अब गांव शहर में बदल रहे हैं। देश-विदेशों के सम्बन्धों से विश्व छोटा होता जा रहा है। हमारी सांस्कृतिक विरासत पर दूसरे देशों की संस्कृति का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति स्वयं संस्कृति और जाति के बन्धन तोड़कर एक-दूसरे से मिल रहा है। बदलते सामाजिक मूल्यों, प्रगति और परिवर्तन की दिशा को देखते हुए यह निर्विघ्न रूप से कहा जा सकता है कि यह समय जाति व्यवस्था को मजबूत करने का नहीं बल्कि जाति व्यवस्था को तोड़ने का है। आज के समय की यह जरूरत है। जाति व्यवस्था को तोड़ने के लिए अन्तर्जातीय विवाह जरूर होने चाहिए। अन्तर्जातीय विवाह होने से लोग एक-दूसरे की जाति का सम्मान करेंगे, धीरे-धीरे जातिभेद मिटेगा और देखते-देखते विषमतावादी जाति व्यवस्था खत्म हो जायेगी। अन्तर्जातीय विवाहों से लोग सीमित जातिवादी मानसिकता के कटघरे से बाहर निकलकर मूल रूप से मानव रूप में एक-दूसरे से मिलेंगे और मानवता की कद्र करेंगे। जाति-व्यवस्था टूटने से समाज में फैली विषमता का भाव खत्म होगा। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच समानता का भाव जगेगा। इस रूप में स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारा का भाव सही रूप में विकसित होकर व्यावहारिक रूप में आ सकेगा।

दलित आन्दोलन का आधार 'जाति तोड़ो समाज जोड़ो' है। यह तभी हो सकेगा जब दलित समाज में आत्मसम्मान, स्वावलम्बन, सामाजिक न्याय, शिक्षा, दलित-पिछड़ों को आरक्षण, सुरक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, वैज्ञानिक सोच, स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारा की स्थापना होगी यही दलित आन्दोलन का लक्ष्य है। दलित आन्दोलन बहुत बड़ी लड़ाई है। इसका लक्ष्य सबके हित में है। शोषक आतताइयों को अन्याय करने से रोकना और शोषित-पीड़ित को अपना हक लेने के लिए खड़ा करना ही इसका लक्ष्य है। यह मानवता के हक की लड़ाई है। इसके उद्देश्यों को नकारना इनसानियत को नकारना है। यदि कोई दलित व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) दलित आन्दोलन के महान उद्देश्य को समझकर भी इस आन्दोलन को गलत दिशा देने का प्रयत्न करता है अथवा दलित आन्दोलनकारियों को गुमराह करने की कोशिश करता है तो वह इनसानियत का दुश्मन है। ऐसे व्यक्ति को समाज और समय कभी माफ नहीं कर सकता।

यह बड़ी कूटनीति की बात है कि जब किसी बात की ओर से समाज का ध्यान हटाना हो तो उस बात के समकक्ष कोई दूसरी बात का प्रचार शुरू कर दिया जाता है। तब लोगों का ध्यान प्रमुख बात से हटकर दूसरी बातों की ओर लग जाता है और पहली बात को लोगों के ध्यान से हटाने के लिए धीरे-धीरे नगण्य रूप में प्रस्तुत करते हुए खत्म कर दिया जाता है। यह इसी बात का उदाहरण है कि कभी हमारे देश में अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग स्थानों पर एक साथ गणेश जी दूध पीने लगते हैं तो कभी वानर मानव आकर दिल्ली की सड़कों पर धूम मचाने लगता है। ऐसे चमत्कारों की ओर जन सामान्य का ध्यान खींचा जाता है कि लोग महत्वपूर्ण बातों को छोड़कर इन्हीं बातों के चक्कर में फंस कर रह जाते हैं।

दलित आन्दोलन से जुड़ा यदि कोई साहित्यकार दलित आन्दोलन के लक्ष्य उत्पीड़न का विरोध, अस्मिता की लड़ाई, समता, सम्मान के लिए संघर्ष आदि मुद्दों को छोड़कर, व्यभिचार और सदाचार की बातों में समाज को उलझाने का प्रयत्न करने लगे तो समझ लेना चाहिए कि जरूर इसके पीछे कोई राज है। राज छोटा भी हो सकता है और बड़ा भी हो सकता है। अथवा राज जैसी कोई बात ही न हो। बस, लोगों को गुमराह करने के लिए साथ ही खुद की प्रसिद्धि पाने के लिए यह गुनाह हो सकता है। गुनाह छोटा हो या बड़ा, गुनाह गुनाह होता है। गुनाह करने वाले को गुनाहगार न कहें तो क्या कहें? गुनाहगार को सजा देने की बात न कहें तो क्या कहें?

विवाह, सन्तान और उत्तरदायित्व

करुणा

शादी विवाह नामक संस्था से सभी परिचित हैं, लिखने के लिए यह कोई नया विषय नहीं है। यह महसूस किया जाता है कि विवाह नामक संस्था ने बिचौलियों के माध्यम से वर-वधू एक दूसरे पर थोपे हैं जिसे अपना-अपना नसीब-भाग्य मानकर वर और वधू दोनों ने अपने-अपने गृहस्थ जीवन के पहिए खींचे हैं। खींचने से मेरा अभिप्राय दोनों पक्षों की अप्रसन्नता से है। मरने से पहले मेरी दादी जी ने मेरे दादा जी को हाथ के इशारे से बुलाकर विशेष तौर पर कहा था, जो उल्लेखनीय है कि “जा मैंने तुझे निभा दिया” यह बात मुझे विश्वसनीय सगे-संबंधी ने बताई थी। मेरी दादी जी के मन में संभवतः आरम्भ से ही यह बात रही होगी जिसे उसने अपनी मृत्यु निश्चित मानकर ही कही होगी। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि मेरी दादी जी विवाह नामक संस्था के धोखे की शिकार थीं। यही असहनीय समस्या विवाह संस्था द्वारा परम्परा से चली आ रही है। परम्परा से गृहस्थ जीवन की गाड़ी के दो ड्राइवर हैं, एक बाह्य ड्राइवर होता है और दूसरा आंतरिक ड्राइवर। मुख्य ड्राइवर बाह्य होता है और आन्तरिक ड्राइवर गौण।

प्रकृति के सृजन में अन्तर्निहित सौन्दर्य होता है। स्वास्थ्य और सौन्दर्य परस्पर एक-दूसरे के पूरक होते हैं। पशु जगत् को देखने पर यह सिद्ध हो गया है कि मादाएँ स्वस्थ, ताकतवर नर के साथ अपनी जोड़ी बनाना पसंद करती हैं, किन्तु वैवाहिक संस्था द्वारा बीमार, कुरूप, नाटे-लम्बे, गोरे-काले, पढ़े-लिखे अनपढ़ बिचौलियों द्वारा एक-दूसरे पर थोपे जाते हैं। विवाह नामक संस्था की कार्य शैली वर-वधू को एक-दूसरे पर थोपने के कारण चली आ रही है। अभिभावकों की दृष्टि में बिचौलिया बड़ा पवित्र काम कर रहा होता है। वह दोनों पक्षों के लिए बहुत अधिक सम्मान का पात्र होता है। भले ही इस पवित्र कार्य के लिए बिचौलिये को पुरस्कार राशि मिले अथवा नहीं किन्तु दोनों पक्षों की ओर से उसे सम्मान और खुशामदी भाषा का सम्मान मिलता है। बिचौलियों को दिया गया पुरस्कार वर-वधु के गृहस्थ जीवन को नरक बनाता चला आ रहा है जिसे बिचौलिया ने स्वर्ग परिभाषित करने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी है। बिचौलिये की अवधारणा, प्रादुर्भाव वर-वधू (माता की भूमिका गौण रहते हुए) पिता के असामाजिक होने से जुड़ी होती है। बिचौलिये

झूठे, जादूगर, विदूषक, जोकर, नौटंकीबाज़ प्रकृति के होते हैं। स्कूटर, मोटरसाइकिल, कार, नकद, जमीन-जायदाद, खाली जेबों से निकलवाने में माहिर होते हैं। वधु पक्ष को इतना अधिक निचोड़ लिया जाता है कि यदि वधू पक्ष के अभिभावक इतनी बड़ी रकम अपनी पुत्री के कैरियर बनाने पर खर्च कर देता तो वह अपनी पुत्री का जीवन स्वयं स्वर्ग बना सकता था। यह बिचौलिया नामक जोंक अभिभावकों से इस कदर चिपटता है कि इसे स्वयं देखते हुए भी अपने से दूर नहीं कर सकते। वह मान सम्मान, इज्जत का सवाल, नाक की बात आदि में उलझाकर मूर्ख बनाकर ही छोड़ता है। उसके बाद दूसरा शिकार ढूंढा जाता है या शिकार स्वयं चलकर बिचौलिये के पास आ जाता है। बिचौलिये की यह परिपाटी परम्परा से चली आ रही है। इस कड़ी का एक और पारम्परिक शत्रु शादी योग्य लड़के-लड़कियों के संबंध में शुभ-अशुभ का निर्धारण करने वाला ब्राह्मण होता है। यह उसका नैतिक कर्तव्य नहीं होता बल्कि उसका व्यवसाय होता है और व्यवसाय में लाभ सर्वोपरि होता है अर्थात् बिचौलियों द्वारा लड़के-लड़कियों की जिंदगी बरबाद करने के शेष बचे कार्य को ब्राह्मण सात फेरे कराकर पूरा कर देता है। इस संबंध में मेरे कहने का आशय यह है कि लड़के-लड़कियों की शादी-विवाह हेतु बिचौलिया एवं ब्राह्मण पुरोहित जैसे कीटाणुओं को हटाकर दोनों का वैवाहिक जीवन सुखमय बनाया जा सकता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि लड़के-लड़कियों की बेमेल शादी करने में बिचौलिया और ब्राह्मण दो पारम्परिक शत्रु रहे हैं। यह सच्चाई है कि ब्राह्मण और बिचौलिया, इन दो पाटों के बीच में वर-वधू हमेशा के लिए बेमेल युगल की तरह पीस जीवन जीते हैं दोनों पक्षों को बीमार करती चली आ रही इस संस्कृति पर जन हित में रोक लगाई जानी चाहिए। यह एक अच्छा सुझाव हो सकता है जिला अस्पतालों अथवा अधिक विश्वसनीयता के लिए सैनिक अस्पतालों में शादी से पहले (लड़का-लड़की) दोनों पक्षों का ब्लड ग्रुप आकलन सहित स्वास्थ्य परीक्षण प्रमाण पत्र प्राप्त करना अनिवार्य होना चाहिए ताकि स्वस्थ सन्तानें स्वस्थ सामाजिक जीवन के विकास में सहायक सिद्ध हो सकें।

विचारणीय है कि गृहस्थ जीवन का क्या उद्देश्य होना चाहिए। विद्वजनों के भिन्न मत हो सकते हैं। मेरे मतानुसार गृहस्थ जीवन का उद्देश्य विवाहित महिला-पुरुष का संयुक्त उत्स अपनी सन्तान को स्वस्थ, सुंदर, योग्यतम बनाने से है। उत्तरोत्तर सामाजिक, उत्तरदायी, जवाबदेह सन्तान निर्माण से है। संस्थागत विवाह की परिपाटी के अन्तर्गत अपवादों को छोड़कर गृहस्थ जीवन में यह व्यवस्था प्रायः देखने को नहीं मिलती। गृहस्थ जीवन में किसी भी एक के द्वारा की गई फूहड़ता गृहस्थ जीवन को नरक बना देती है जैसे पति के द्वारा अपनी पत्नी के समक्ष किसी दूसरे की पत्नी की सुंदरता, अक्लमंदी की प्रशंसा करना और ऐसा ही पत्नी के द्वारा पति के समक्ष किसी अन्य पुरुष की प्रशंसा करना। ऐसे महिला-पुरुष

अपनी-अपनी खुशियाँ अन्यत्र ढूँढ़ने में व्यस्त रहते हैं। सामाजिक बुराइयों की शुरुआत अन्य कारणों के साथ-साथ इस प्रकार भी होती है कि बिचौलिया अपनी कार्य कुशलता, योग्यता, मानसिकता, चतुराई उन प्रमाणों को मानता है कि वह अब तक अपने जीवन में कितने बेमेल विवाह करा चुका है।

जब कोई पति अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु अथवा परिवार की आवश्यकता के निमित्त अपनी पत्नी को पड़ोस अथवा पत्नी का जहाँ मेलमिलाप हो वहाँ से उधार पैसे मंगवाता है, ऐसा पुरुष अपनी पत्नी को दूसरे पुरुषों के साथ संबंध स्थापित करने के लिए विवश करता है जबकि घर खर्च चलाने की समस्त जिम्मेदारी पुरुष ने परम्परा से अपने हाथ में ले रखी है। महिला अपनी तथाकथित सहेली के घर जाती है और उसकी सहेली भी आर्थिक अभाव में ही अपना जीवन जी रही होती है क्योंकि पैसा तो अधिकारिक तौर पर पुरुष के अधिकार में अथवा उसकी जेब में होता है। वह महिला अपनी सहेली महिला को अपने पति से खुशामद कर इच्छित धनराशि उसे दिलाने में सफल हो पाती है। और देने वाला यह पुरुष यदि पैसे मांगने वाली महिला देखने में आकर्षक रूप-रंग वाली हो तो यह कहने में कतई नहीं चूकता कि आपको जब भी पैसे की जरूरत हो बेहिचक ले जाया करो। और जब यह दौर कई वर्षों तक चलता हो तो उस पति द्वारा मंगाए गए पैसों के लिए निरंतर जाते हुए उस महिला के पैसा देने वाले पुरुष के साथ विवशता में शारीरिक संबंध स्थापित होने की प्रबल संभावना होती है, क्योंकि इस अहसान के बदले बिना ब्याज का पैसा लेने पर उस पुरुष की इच्छानुरूप वह अपना शरीर ही समर्पित कर सकती है, क्योंकि महिला एहसानों से घिर जाती है।

सामाजिक बुराई के उत्पन्न होने के अनेक कारणों में कमजोर सन्तान उत्पन्न होना भी महती भूमिका निभाता है। जब पिता कमजोर सन्तान की शादी कर देता है तो कहने के लिए तो वह अपना सामाजिक दायित्व पूरा कर रहा होता है किन्तु वह अपने संज्ञान में अपने लिए ही अपने घर में अपनी एक दूसरी पत्नी लेकर आता है। वह अपनी कमजोर सन्तान को निठल्ला, निकम्मा, न कमाने वाला घोषित करते-करते उसके घर का खर्चा उसकी पत्नी के हाथों में देना शुरू कर देता है। धीरे-धीरे वह उसका चेहरा देखना शुरू कर देता है और निरंतर अभ्यास से दोनों ओर से मुस्कराना शुरू हो जाता है। वह पिता अपनी उस कमजोर सन्तान को बेगारी कराने के लिए शाम तक के लिए घर से बाहर भेज देता है। ऐसे अनेक उदाहरणों में ससुर और बहू के बीच संबंध स्थापित होना लाजमी है और इसकी परिणति यह होती है कि उसकी कमजोर सन्तान अपने पिता से उत्पन्न सन्तान को अपनी गोद में खिलाता हुआ मेरा बेटा-मेरा बेटा कहकर पुकारता फिरता है।

जीवन का हर विकसित होता हुआ क्षेत्र व्यवसाय का रूप धारण कर लेता

है। मनुष्य के साथ जुड़ी हुई हर समस्या का निराकरण व्यवसाय बन जाता है। खेलकूद का क्षेत्र लगभग व्यवसाय बन चुका है। उसी प्रकार विवाह की समस्या से निजात दिलाने के लिए शहरों में विवाह केंद्र स्थापित हो चुके हैं और उनके एजेंट जनसमुदाय से संपर्क स्थापित कर इस व्यवसाय में जुटे हैं। जरूरतमंद लोग इन विवाह केंद्रों की सेवाएँ प्राप्त कर रहे हैं। व्यवसाय में व्यवहारतः यह सच्चाई होती है कि व्यवसायी अपने सड़े-गले सामान की भी कीमत वसूलने में माहिर होते हैं। यह मात्र बिचौलिया प्रथा का नवीनीकरण है।

वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ब्लड ग्रुप भी स्वस्थ अथवा अस्वस्थ सन्तान उत्पन्न करने में सटीक भूमिका निभाता है। वर-वधू के बेमेल ब्लड ग्रुप ने बड़ी भारी समस्या उत्पन्न की है, कुछ बेमेल ग्रुपों से तो सन्तान उत्पत्ति तक संभव नहीं है। कुछ केसों में गर्भ ठहर तो जाता है किन्तु पैदा होने के तीन या चार दिन बाद ही ऐसी सन्तानें मृत्यु का ग्रास बन जाती हैं। इस समस्या से निजात के लिए बिचौलियों, विवाह केंद्रों के पास कोई समाधान नहीं है। सत्य यह है कि उनके लिए यह कोई समस्या ही नहीं है जबकि इसका प्रभाव शाश्वत है। सन्तान उत्पन्न न होने अथवा होते ही मर जाने के चक्कर में अनेकों महिला-पुरुष झाड़ू-फूंक करने वाले तांत्रिकों, ओझा, पंडा, भगत आदि के चक्करों में आकर उपरोक्तों के संबंध स्थापन से सन्तान उत्पन्न कर माता-पिता होने का गौरव अनुभव करते हैं।

मेरी खोज का यह भी एक हिस्सा है कि जादू-टोना मन्त्र-तन्त्र में विश्वास करने वाले महिला-पुरुष किसी भी क्षण डिप्रेशन का शिकार हो सकते हैं इसकी प्रबल सम्भावना है। वास्तव में ऐसे पुरुष खुले सांडू की भूमिका निभाते हैं। इन खुले सांडूओं का सर्वाधिक ध्यान अपनी पौरुषीय शक्ति बनाए रखने में होता है। ऐसे लोगों का व्यवसाय परम्परा से फलता-फूलता रहा है और फलता-फूलता रहेगा, क्योंकि ये लोग अपने शिकार को पहली मुलाकात में ही समस्या समाधान की गारन्टी दे देते हैं। मेरी खोज का यह भी एक हिस्सा है, जिसे मैं ऊपर कह चुकी हूँ कि बिचौलिये की उत्पत्ति वर-वधू दोनों ओर के पिता पक्ष के सामाजिक न होने से उत्पन्न होती है। बरेली का एक उदाहरण उल्लेखनीय है। एक व्यक्ति की नौ पुत्रियाँ थी और एक मानसिक रोगी पुत्र। जिसने स्वयं के प्रयास से स्वयं संपर्क स्थापित कर अपनी नौ की नौ अनपढ़ लड़कियों की शादी सरकारी नौकरी प्राप्त व्यक्तियों के साथ की और आज दिनांक तक वे सभी अपनी कुशलता से सफल पारिवारिक जीवन जी रही हैं। जहाँ तक सन्तानों के प्रति पिता के उत्तरदायित्व का प्रश्न है तो इंटर कॉलज के एक वाइस प्रिंसिपल सेवा नियुक्ति के बाद (अब जिनकी मृत्यु हो चुकी है) अपनी सभी नौ सन्तान जिसमें आठ पुत्र और एक पुत्री शामिल हैं, को भिन्न-भिन्न विषयों में पी-एच.डी. तक की शिक्षा दिलाकर सन्तानों को योग्य बनाया जो सभी सरकारी नौकरियों में अच्छे पदों पर रहते हुए वैवाहिक जीवन जी

रहे हैं। मेरे संज्ञान में जिला मुरादाबाद उत्तरप्रदेश का एक और उदाहरण प्रस्तुत है कि एक पिता की ग्यारह सन्तानें हैं जिनमें आठ लड़के और तीन लड़कियाँ हैं वह विद्युत विभाग में चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी था जो अब पेंशनर है उसने अपने सभी आठ पुत्रों और पौत्रों को सरकारी विभाग में नौकरी दिलाने में सफलता हासिल की और अपनी पुत्रियों की शादी अच्छे परिवारों में करके अपने उत्तरदायित्व को पूरा किया। सन्तान के प्रति उत्तरदायित्व के संबंध में बहुत सारे बचकाने व्यवहार प्रायः देखने को मिलते हैं और एक उत्तरदायित्वविहीन पिता सदैव बहानेबाज होता है

जैसे कि एक उत्तरदायित्वविहीन पिता यह कहता है कि महान लोगों की सन्तानें निकम्मी, निठल्ली साबित हुई हैं यह ऐतिहासिक सत्य है। एक पढ़ा-लिखा पिता कबीर दास की इस पंक्ति का उदाहरण देकर अपने उत्तरदायित्व की इति कर लेता है कि “डूबा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल” या फिर यह कहता है कि अपने स्तर के लोगों के साथ शादी करने के लिए मेरे पास पैसा नहीं है या फिर शादी करने का आश्वासन दे-देकर उनकी शादी की उम्र निकाल देता है। फिर ऐसी विकट स्थिति में वह कहता है कि तुम्हारी जितनी उम्र के कुंवारे लड़के कहाँ से लाऊँ? इस समस्या को ज्यों की त्यों रखते हुए अपने विभाग से अपनी लड़की की शादी करने के लिए लंबी छुट्टी लेकर परस्त्री के साथ मौजमस्ती में समय व्यतीत कर सिर्फ अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं। फिर बहानेबाजी की इन्तहा यहाँ तक पहुँच जाती है कि वह अपनी पत्नी पर चरित्रहीनता का आरोप तक लगा देता है कि जब मेरी कोई सन्तान ही नहीं है तो मैं शादी किसी की क्यों करूँ? या फिर कोई पिता यह कहता है कि बच्चों की समस्त जिम्मेदारी सरकार पर होनी चाहिए या फिर यह कहता है कि बच्चे अठारह साल के हो चुके हैं अब मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं बनती या फिर यह कहता है कि किस कानूनी किताब में लिखा है कि शादी करने की जिम्मेदारी पिता की होती है? ऐसे पिता की पुत्रियाँ अधिक उम्र हो जाने पर यदि किसी पुरुष के साथ अपनी वैवाहिक समस्या निवारण हेतु शादी करने का प्रयास करती हैं तो उसका पिता अपनी पुत्री की बदचलनी का ढिंढोरा पीटकर उसे यह धमकी देता है कि मैं अपने नाम से समाचार पत्र में पिता-पुत्री संबंध विच्छेद की सूचना प्रकाशित कराने जा रहा हूँ, अर्थात् न विवाह करेगा और न करने देगा।

ऐसी समस्याओं से निजात के लिए एक उत्तरदायित्वविहीन पिता को किसी निर्दिष्ट सरकारी विभाग के प्रति कहीं तो जवाबदेह होना चाहिए। समस्या समाधान के लिए यह एक सकारात्मक कदम होगा।

बहानेबाजी का प्रायः सभी लाभ उठाते हैं जैसे स्वस्थ होते हुए सरकारी कर्मचारी एम.बी.बी.एस. डॉक्टरों अथवा सरकारी अस्पतालों से झूठे मेडिकल प्रमाण पत्र बनवाकर सरकार को धोखा देते हैं, यह तथ्य सरकार और नागरिकों से छुपा हुआ

नहीं है किन्तु सामूहिक उत्तरदायित्व निर्वहन में बहानेबाजी करने वाले पिता का क्षम्य रहना सर्वाधिक खतरनाक है। जिसने तय शुदा रणनीति से अपने आश्रितों के भविष्य को पूरी तरह नष्ट कर दिया हो ऐसे पिता को उसके विपरीत आचरण पर रिटायरमेंट के बाद गुजारे लायक तय पेंशन का कुछ हिस्सा मिलना चाहिए। शेष धनराशि उसके पीड़ित पारिवारिक सदस्यों के बीच वितरित की जानी चाहिए।

पुरुष परम्परा में योग्यतम सन्तान निर्माण की समस्त जिम्मेदारी पिता पर ही केंद्रित है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि पिताओं ने अपने पुत्र-पुत्री के अंदर छुपे गुणों का अवलोकन कर उन्हें उन-उन दिशाओं में सर्वोच्च शिक्षणों तक पहुँचा दिया है या फिर पिता ने अपने पुत्र-पुत्री को जो बनाना चाहा है, बनाकर दिखा दिया है। किन्तु जब किसी पिता के पास अपने सिवा किसी के लिए वक्त ही न हो तो वह अपनी सन्तान के प्रति उत्तरदायी हो ही नहीं सकता क्योंकि जो पिता सिर्फ अपने लिए अपने मनोरथ सिद्धि के लिए ही सोचता हो वह किसी और के बारे में सोच ही नहीं सकता।

मेरी दृष्टि जब पुरस्कार प्राप्त करने वाले अनेक लेखकों, संस्थाओं के उल्लेखनीय कार्यों पर पड़ती है तो मैं सोचती हूँ कि सरकार द्वारा एक उत्तरदायित्व पुरस्कार भी दिया जाना चाहिए जिसका आधार यह होना चाहिए कि पिता या माता ने अपनी सन्तानों को कितना अधिक योग्य बनाया है ताकि इस पुरस्कार कार्यक्रम से पिता-माताओं में एक प्रतिस्पर्धा की शुरुआत हो सके और पृथ्वी पर स्वर्ग बसाने का सपना भी तभी साकार होगा। सन्तान उत्पत्ति की सार्थकता इस बात से प्रमाणित होनी चाहिए कि एक पिता ने खुद के विकास से अपनी सन्तान को कितना आगे बढ़ाया है, कम से कम सरकारी नौकरी प्राप्त कर्मचारी पिता से अपने-अपने पारिवारिक विकास का लिखित विवरण अनिवार्य रूप से उसी विभाग द्वारा प्रतिवर्ष प्राप्त करना चाहिए ताकि बच्चों के विकास को सुनिश्चित कराने के लिए पिता को उत्तरदायित्व कर्तव्य निभाने हेतु सरकारी मशीनरी द्वारा बाध्य किया जा सके। क्योंकि व्यक्ति सरकारी वेतन की राशि अपने मनोरथ सिद्धि, अय्यासी पर उड़ाने के लिए स्वतन्त्र न हो। परवरिश, भरण-पोषण, नियंत्रण की जिम्मेदारी, पुरुष पर परंपरा से केंद्रित रही है तो सरकारी नौकरी प्राप्त पिता पर सरकारी नौकरी से प्रति माह जो वेतन मिलता है वह उसके परिवार के संयुक्त उत्तरदायित्व निर्वहन के लिए दिया जाता है। पति की मृत्यु के बाद पेंशन उसकी पत्नी को अथवा नाबालिग बच्चों के नाम हस्तांतरित हो जाने की प्रक्रिया इसी का परिणाम है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ यह कदापि नहीं होना चाहिए कि व्यक्ति पति-पिता की भूमिका का उत्तरदायित्व पूरा न करे। किसी को मात्र उत्तरदायित्वविहीन पिता भर कहना उत्तरदायित्व शब्द की गरिमा को गिराना है। इसकी सटीक, दिशा उस ओर जाती है जहाँ उसे अपने ही घर का लुटेरा कहा जाना चाहिए क्योंकि ऐसे पिता

उत्तरदायित्वविहीनता से बचाए गए धन को दूसरों पर लुटाकर पराई दुनिया में मस्त रहते हैं।

मैंने शीर्षक के अनुरूप यहाँ वैवाहिक समस्या, सन्तान की समस्या और उत्तरदायित्व निर्वहन की समस्या के कारणों और सम्भावित समाधानों का कुछ हद तक उल्लेख किया है। मेरे दृष्टिकोण में अभिभावकों का अपने पुत्र-पुत्री की शादी की समस्या के हल हेतु शुद्ध सामाजिक होना नितान्त जरूरी है। अभिभावकों के गृहस्थ जीवन में सामर्थ्य के अनुसार खान-पान की नियमित व्यवस्था और सुबह उठने का नियमित अनुशासन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस क्रम में सन्तानें स्वस्थ और आकर्षक व्यक्तित्व की धनी हो जाती हैं। किन्हीं भी सामाजिक उत्सवों में जब अभिभावक अपने विवाह योग्य पुत्र अथवा पुत्रियों को समयानुकूल आवश्यक वेशभूषा में लेकर जाएँगे तो परिचित अथवा अपरिचित अभिभावक आपके स्वस्थ और आकर्षक पुत्र-पुत्री को देखकर प्रभावित हुए बगैर नहीं रहेंगे। सम्भवतः कोई अभिभावक आपकी पुत्री व पुत्र को चुनने (अपनी सन्तानों के लिए) आपसे वार्ता का भी प्रयास करेगा। अभिभावकों को प्रतियोगिता मानकर अपनी सन्तानों का आकर्षक व्यक्तित्व बनाना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति आपसे स्वयं मांग करे। यह तभी सम्भव है जबकि पिता अपने पुत्र-पुत्रियों का उत्तरदायित्व निर्वहन पूर्ण अपेक्षित निष्ठा के साथ करें। मेरे दृष्टिकोण में मनुष्य के गृहस्थ जीवन का यही सबसे बड़ा उत्सव है। अभिभावकों द्वारा विशेषतः अपनी पुत्रियों को शिक्षा प्राप्त करने हेतु बाहर जाने के अलावा उनको घर से न निकलने देना अप्रासंगिक व्यवहार है। शादी-विवाह, जन्मदिन, महापुरुषों की जयन्ती आदि में न ले जाना ऐसी अनेक और बातें हो सकती हैं जिनके कारणों से बिचौलिया नामक जोंक का जन्म हुआ है। अभिभावकों का खासकर अपनी पुत्रियों को खेलकूद व्यायाम न करने देना अथवा अवसर मुहैया न कराना अथवा प्राप्त अवसरों में जाने से रोकना, पुत्रियों के जीवन पर भयंकर प्रभाव डालते हैं। विडम्बना यहाँ तक है कि पुरुष वर्ग के साथ भाई भी अपनी बहनों के कोई भी खेल खेलने से पूरी तरह संकोच करते हैं। प्रायः उन्हें खेलने ही नहीं दिया जाता है। यहाँ तक कि भाई अपनी बहनों के साथ किसी भी गन्तव्य तक साथ-साथ जाने में भी संकोच करते हैं जबकि आकर्षक व्यक्तित्व के लिए नियमित खेल खेलना जीवन का अनिवार्य अंग है।

सांख्य दर्शन के मतानुसार प्रकृति पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करती है। प्रकृति से तात्पर्य समस्त नारी जाति से ही है। मेरे दृष्टिकोण से पुरुष सुंदर हो सकते हैं किन्तु हुस्न और सौन्दर्य जैसे शब्द केवल नारी जाति के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। पुरुष प्रधान समाज में बुद्धिमान, सामाजिक, ईमानदार सन्तान निर्माण की समस्त जिम्मेदारी पुरुष वर्ग की है। स्त्रियों की भूमिका

गौण इसलिए रहती है क्योंकि पुरुष योग्य सन्तान निर्माण का ठेका नारी जाति को नहीं लेने देता। उल्लेखनीय यह है कि पुरुष सक्षम सन्तान निर्माण और अपनी सन्तान को बर्बाद करने का स्वयं ही ठेकेदार बनता है। विद्वतजनों की भिन्न राय हो सकती है किन्तु मेरे मत में सन्तान के नाकाबिल होने में सन्तान का लेशमात्र भी दोष नहीं होता। अभिभावकों की नितान्त उत्तरदायित्वविहीनता की स्थिति में उनकी अयोग्य सन्तानों को इसके लिए कैसे जिम्मेदार ठहराया जा सकता है? उत्तरदायित्व विहीनता कुपोषण, असुरक्षा की भावना, नियंत्रण अभाव, डिप्रेशन नामक बीमारी की जननी है। बाल, किशोर, प्रौढ़ अवस्थाओं के यौन उत्पीड़न सहित अन्य अपराधों की भूमिका में उनके (माता गौण) पिताओं के उत्तरदायित्व निर्वहन विहीनता के अंतर्गत किसी अंश तक अभिभावकों को जिम्मेदार ठहराते हुए किसी ना किसी सजा का प्रावधान कानून के अन्तर्गत होना चाहिए। मेरे मतानुसार उपरोक्त अपराधों में उत्तरदायित्व विहीन माता-पिताओं की सक्रियता किसी भी रूप में अन्तर्निहित है। विश्व में फैले आतंकवाद, सांप्रदायिकता, गली-मुहल्लों में छुरेबाजी और अश्लीलता में उनके पिता की जवाबदेही सुनिश्चित की जानी चाहिए। अभिभावकों द्वारा संबंध विच्छेद करने मात्र से अभिभावकों को छुटकारा नहीं मिलना चाहिए।

यदि अभिभावकों में अपनी सन्तान के प्रति उज्ज्वल भविष्य बनाने हेतु इच्छा शक्ति नहीं होगी अथवा अभिभावकों को सरकारी प्रयासों के तहत निर्दिष्ट बिन्दुओं के अन्तर्गत स्वास्थ्य, शिक्षा, उचित पालन पोषण, बुद्धिमान, सामाजिक, ईमानदार सन्तान निर्माण के लिए विवश नहीं किया जाएगा तो कोई भी अच्छी सरकार कभी भी अपने निर्दिष्ट लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकती। सरकार द्वारा कानूनी प्रावधानों के अन्तर्गत यह निश्चित किया जाना अनिवार्य होना चाहिए कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की आड़ में अभिभावकों की मनमानी नहीं चलेगी।

एक उत्तरदायित्वविहीन पिता की बहानेबाजी की कोई समय सीमा का निर्धारण नहीं होता है। इसका परिणाम यही निकलता है कि दूसरा ठगा जाए एक बार और अपना ठगा जाए बार-बार। उत्तरदायित्व निभाने का वादा करने वाले कभी उत्तरदायित्व नहीं निभाते और ऐसा कहने वाले अभिभावकों की सन्तान के जीवन में वह शुभ घड़ी कभी नहीं आती कि वे अपनी नई जिंदगी की शुरुआत कर सकें। यह दृष्टव्य है कि पति-पत्नी के झगड़े में पति परिवार के आर्थिक स्रोत की पूर्ति नगण्य अथवा बिल्कुल बंद कर देता है। इस प्रकार बच्चों के प्रति अपने उत्तरदायित्व से निरन्तर उदासीन होता चला जाता है और पति से भावनात्मक संबंध प्रायः समाप्त मानकर पत्नी भी बच्चों के प्रति अपने दैनिक उत्तरदायित्व से विमुख होती चली जाती है। उसके पास एक सरल सा बहाना

होता है कि मेरे पास पैसे नहीं हैं, मैं कुछ नहीं कर सकती। पति से झगड़े में उलझी हुई एक स्त्री घर के छोटे-मोटे काम करना भी प्रायः बंद कर देती है। अब रसोई आदि का काम उनकी पुत्रियों पर आ पड़ता है और उनकी पुत्रियाँ चाय, नाश्ता, खाना बना-बनाकर अपने पिता और माता को परोसने में व्यस्त हो जाती हैं। अब केवल एक शाश्वत समस्या रह जाती है पति-पत्नी के झगड़े की। पति-पत्नी के एक छत के नीचे रहते हुए घरेलू कलह महामारी बन जाती है और एक-दूसरे के दूर रहने पर पति-पत्नी का जब भी कभी आमना-सामना हो जाता है तो यह कलह कैंसर फोड़े की तरह फूट पड़ता है। अपने बच्चों के प्रति उत्तरदायित्व, समस्या समाधान भविष्य के कोहरे में खो जाता है।

इस स्थिति में यदि सौभाग्य से उनकी सन्तान में से किसी का विवाह होना सुनिश्चित हो जाता है तो शादी के अवसर पर दोनों में से कोई एक मौजूद रहता है जबकि सामाजिकता के लिए दोनों का होना जरूरी होता है। जब सामाजिक, उत्तरदायित्व की भावना धुंआ बन जाती है तो मध्यम मार्ग समझौते के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। इस स्थिति में वर-वधू दोनों पक्षों का अपने-अपने विपक्षियों द्वारा उत्पीड़न, शोषण अनिवार्य होता है।

ऐसा अडिग महत्वाकांक्षी पिता झूठा, दुष्ट, मक्कार होता है ऐसे पिता की अभागी सन्तानों का दुर्भाग्य से पीछा तब तक नहीं छूट सकता जब तक कि उनका पिता जीवित रहता है।

वह अपनी कमजोर, अयोग्य सन्तानों को कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल करके अपनी महत्वाकांक्षी योजनाओं में उन्हें शहीद कर देता है, संस्थागत विवाह परम्परा में दोनों पक्षों की अप्रसन्नता, विवादों, झगड़ों के विस्फोटों की चपेट में सन्तानों का भविष्य जलकर नष्ट हो जाता है।

माननीय उच्चतम न्यायालय भारत सरकार ने अपने एक ऐतिहासिक फैसले में निर्णय दिया है कि दूसरी महिला से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति में जायज हक है क्योंकि पैदा होने वाली सन्तान का उसमें कोई दोष नहीं होता।

इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए उत्तरदायित्वविहीन, महत्वाकांक्षी पिताओं के घर में जन्म लेने का दंड उसकी जायज सन्तानों को तो कदापि नहीं मिलना चाहिए। अतः संपूर्ण रूप में सरकार द्वारा पिता को उत्तरदायित्व निभाने के लिए बाध्य करना ही इस लेख उद्देश्य है।

पढ़े-लिखे उत्तरदायित्वविहीन पिता भ्रम में जीने की कोशिश करते हैं तथा मानसिक विचलन से खुद का बचाव करते हुए ऐसे पिता के मुंह से स्वभावानुकूल अनायास ही यह निकलता है कि “ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।”

बुद्धिहीनता एवं कृतज्ञता का परिचायक

डॉ. कुसुम मेघवाल

बाबासाहब अम्बेडकर ने सही कहा था “शिक्षा दोधारी तलवार होती है।” शिक्षा का सदुपयोग करने वाली धार से समाज का, राष्ट्र का हित किया जा सकता है और इसके विपरीत शिक्षा का दुरुपयोग करने वाली धार से राष्ट्र को आहत किया जा सकता है। अपनी शिक्षा की धार को आदमी जैसी चाहे चला सकता है, यह उसके विवेक पर निर्भर है।

डॉ. धर्मवीर ने भी यही किया है। उन जैसे अहसानफरामोश दलित लेखक अपनी शिक्षा का दुरुपयोग करके अपने आपको युग-प्रवर्तक बाबा साहब से भी महान बनाने में जुट जाते हैं और उस नशे में यह भी भूल जाते हैं कि वे किस महान पुरुष और उनकी विचारधारा के विरुद्ध लिख रहे हैं! जिस विचारधारा ने उन्हें इंसान बनाया और न केवल इंसान बनाया, वरन् अपने मानवीय अधिकार दिला कर, हाथ में कलम देकर उन्हें संघर्ष करना सिखाया।

ऐसे बुद्धिहीन लोग कुछ भी ऊलजलूल लिख कर सभी का ध्यान अपनी ओर क्यों खींचते हैं? इसे हम नहीं समझ पाते। हमारा दुश्मन बड़ा चालाक है। वह ऐसे भाड़े के टट्टुओं से कोई क्रिया करवा देता है और हम उसकी प्रतिक्रिया में लग जाते हैं। हमारा समय, हमारा दिमाग, हमारा पैसा, हमारी बुद्धि, सब कुछ उसकी प्रतिक्रिया में लग जाता है, जो सामाजिक-व्यवस्था के परिवर्तन के महान कार्य में लगना चाहिए।

यह दलित लेखक हमारे दुश्मनों के हाथों में खेलता हुआ लगता है अन्यथा वह ऐसा नहीं लिखता। हमारे लोगों की कीमत भी बहुत कम होती है। वे बहुत सस्ते में, अपने तुच्छ स्वार्थ की पूर्ति के लिए दुश्मनों के हाथों बिक जाते हैं। ऐसे लोगों का इलाज यही है कि उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया जाए। उन्हें नकार दिया जाए। वोट डालने और चुनाव लड़ने का अधिकार दिलाने वाले बाबासाहब को हराने वाले भी अपने ही लोग थे, जो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए दुश्मनों के हाथों बिक गए थे।

अभी हमारा दुश्मन हमें हर तरह से नेस्तनाबूद करने में लगा हुआ है। वह

इसके लिए दिन-रात काम कर रहा है। वह 'ओवरटाइम' कर रहा है और जिसका सब कुछ लुटने की तैयारी हो रही है, वह चैन की नींद सो रहा है या क्रिया-प्रतिक्रिया में लग गया है। वह दुश्मनों के हाथों खेल रहा है क्योंकि उसे अपने दुश्मन की पहचान ही नहीं है। दुश्मन चाहता है कि हम लोग अपना समय, बुद्धि, पैसा, दिमाग सभी प्रतिक्रिया में लगा दें और हम भारत के मूलनिवासी बहुजनों की आजादी, सामाजिक-व्यवस्था-परिवर्तन, सामाजिक क्रांति की बात सोचें ही नहीं।

यह अहसानफरामोश लेखक यह भूल गया है कि बाबासाहब द्वारा किए गए लम्बे संघर्ष, त्याग और बलिदान की बदौलत मिले मानवीय अधिकारों के पूर्व, उसके पूर्वजों को कुत्ते-बिल्ली से भी गया-गुजरा माना जाता था। उन्हें चवदार तालाब के गन्दे पानी को छूने तक का हक नहीं था, इसलिए बाबा साहब को महाड़ सत्याग्रह का आन्दोलन करना पड़ा। उन्हें जानवरों की स्थिति से उठाकर इंसानों की श्रेणी में लाने वाले महान पुरुष बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर ही तो थे। जिनकी बदौलत उन्हें हाथों में कलम पकड़ने का अवसर मिला और वे कुछ लिखने के लायक हुए। और कुछ लिखने के लायक हुए तो बाबासाहब के विरुद्ध ही लिखने लगे। इससे बड़ी मूर्खता और क्या होगी?

मैं इस बुद्धिहीन, कृतघ्न दलित लेखक की प्रतिक्रिया में और अधिक लिख कर अपना समय और श्रम बरबाद नहीं करना चाहती। मैं तो इतना ही लिखना चाहूँगी कि उन्हें यदि चुल्लू भर पानी कहीं मिले तो उसमें डूब कर मर जाना चाहिए।

हमें इस मुद्दे के दूसरे पहलू पर भी विचार करना चाहिए कि कहीं इस 'पब्लिसिटी' के पीछे कोई बहुत बड़ी साजिश तो काम नहीं कर रही है? किसी से सौदेबाजी करके कोई कुछ भी ऊलजलूल लिखवा दे और हम उसकी प्रतिक्रिया करके, उसे और भी 'पब्लिसिटी' देने में अपना पैसा, समय आदि बरबाद कर दें तो यह उचित नहीं होगा। लिखा है, लिखने दो। उसे 'पब्लिसिटी' मत दो। कितने लोग उसे खरीद कर पढ़ लेंगे? जब उन्हें पता ही नहीं होगा तो क्या पढ़ लेंगे? 'पब्लिसिटी' के बाद सभी की जिज्ञासा होगी, सभी पुस्तक खरीदेंगे, पढ़ेंगे, उसमें अपना पैसा, समय और दिमाग लगाएँगे और दुश्मन यही चाहता है। हमें इस मुद्दे पर दो क्षण रुक कर सोचना चाहिए।

यह भी सोचना चाहिए कि एक अहसानफरामोश पर भारत-भर के लेखकों की प्रतिक्रियाएँ आमंत्रित करके, हम उसे जो महत्व दे रहे हैं, वह एक इतिहास बन जाएगा और आगे भी इसी प्रकार उस पर काम होता रहेगा। यह सिलसिला निरन्तर जारी रहेगा।

मेरी राय में तो इस निर्णय पर एक बार पुनर्विचार किया जाना चाहिए कि इस पर हमारी मेहनत, हमारी बुद्धि का कहीं दुरुपयोग तो नहीं हो रहा?

सर्वप्रथम तो हमें यह सोचना होगा कि हम किसकी विचारधारा को अपना रहे हैं? यदि हम बुद्ध, फुले, अम्बेडकर की समानतावादी विचारधारा के समर्थक हैं तो दलित पुरुषों द्वारा दलित स्त्रियों को अपने नियंत्रण में रखने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता किन्तु दलित पुरुषों पर भी ब्राह्मणवाद हावी है। सदियों से उनके रग-रग में ब्राह्मणवाद भरा पड़ा है, जिसमें स्त्रियों को केवल भोग्या, वस्तु, गुलाम, मूक पशु, पैर की जूती के रूप में मानने की धर्म-शास्त्रों के माध्यम से शिक्षा दी गई। इसमें सीता के साथ अन्याय करने वाले अन्यायी राम को ईश्वर बना दिया गया और अत्याचार सहने वाली सीता को आदर्श नारी के रूप में थोपा गया।

भारत में दो प्रकार की संस्कृतियाँ प्रचलन में थीं 'ब्राह्मणी संस्कृति' और 'श्रमण संस्कृति'। स्त्रियों को नियंत्रण में रखने की संस्कृति ब्राह्मणी संस्कृति का प्रतीक है, श्रमण संस्कृति का नहीं। श्रमण संस्कृति भारत के मूल निवासियों की संस्कृति है। जहाँ नारी को हर क्षेत्र में समानता के अवसर प्राप्त हैं। इसलिए श्रमण संस्कृति के दलित पुरुषों को दलित स्त्रियों को अपने नियंत्रण में रखने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जो दलित पुरुष स्त्रियों को अपने नियंत्रण में रखना चाहते हैं, उन पर जोर जुल्म करना चाहते हैं, उनके साथ मूक पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं, वे ब्राह्मणवाद के विरोध में कितना ही लिखें या मंचों पर लम्बे-लम्बे भाषण झाड़ जाँ, किन्तु ऐसे ही दलित पुरुष ब्राह्मणवाद के पोषक हैं। उनकी कथनी और करनी में जमीन-आसमान का अन्तर है। तभी अपनी पत्नी के नाम और यश को वे पचा नहीं पाते। वे उनसे ईर्ष्या करने लगते हैं और येन-केन-प्रकारेण अपना आतंक फैलाकर घर में एक आतंकवादी माहौल पैदा कर देते हैं। वे अपने ही पक्ष में पुरुष साथियों को तैयार करके अपनी पत्नी पर कठोर नियंत्रण की वकालत कराते हैं।

इस वकालत में वे, यह भी भूल जाते हैं कि ऐसा करके वे ब्राह्मणवाद को ही मजबूत कर रहे हैं। स्वयं तो चाहते हैं कि उन्हें ब्राह्मणवाद की गुलामी से मुक्ति मिले किन्तु अपनी स्त्रियों को वे मुक्त नहीं करना चाहते। यह दोहरी नीति ही दलित परिवारों में झगड़े का कारण होती है। जिस दिन दलित अर्थात् यहाँ का मूल निवासी पुरुष इस बात को समझ जाएगा और अपने अन्दर से ब्राह्मणवाद को भगा देगा, उसी दिन अम्बेडकरवाद को स्थान मिलेगा, पति-पत्नी के झगड़े खत्म हो जाएँगे। चिल्लाने से कुछ नहीं होगा, उसे व्यवहार में लाना होगा।

जहाँ तक प्रेम विवाह का प्रश्न है वह क्यों नहीं होने चाहिए? होने चाहिए तभी ब्राह्मणवाद का नाश होगा। अन्तर्जातीय विवाह होंगे तभी जातियों के छोटे-छोटे घेरे टूटेंगे, टुकड़े खत्म होंगे।

ब्राह्मणवादियों ने इन जातियों की दीवारों को इतना मजबूत बना दिया है

कि उन्हें तोड़ना इतना आसान नहीं है किन्तु असम्भव भी नहीं है। सम्भव है, किन्तु जातियों के इन घेरों को तोड़ने के लिए जिस साहस, हिम्मत और दृढ़ इच्छा-शक्ति की जरूरत होती है, वह आम आदमी के बस की बात नहीं है।

हम जिस बहुजन समाज की बात करते हैं उसके लिए अन्तर्जातीय विवाह की बात सोचना तो कल्पना से भी परे की बात है। यह अन्तर्जातीय विवाह शहरों की बात है। गांव में तो एक परगना, एक चौखला (कुछ सीमित गांवों की सीमा) के अन्तर्गत ही विवाह करने होते हैं। इस सीमा से बाहर निकल कर विवाह करने की कोई सोच भी नहीं सकता। जो सोचता है या करता है, उसे जाति से बहिष्कृत होने एवं जातीय दंड भरने की सजा भुगतनी पड़ती है। जातियों के ही पटेलों द्वारा उनका जीवन दूभर कर दिया जाता है, उन पर अनेक प्रकार से अत्याचार, जुल्म किये जाते हैं और दर-दर की ठोकें खाने को मजबूर कर दिया जाता है। यह जातीय जेलों की मजबूत घेराबंदी है, जिससे बाहर निकलना कठिन है। इसके पीछे काम कर रही ब्राह्मणवादियों की मजबूत सामाजिक व्यवस्था के विरोध में लोगों को तैयार करना होगा। बाबासाहब के साहित्य से परिचित कराना होगा। गांव-गांव में प्रचार करना होगा, तभी गांव की सीमा के, जातियों के ये घेरे टूटेंगे और उनसे बाहर निकलेंगे, तभी बाबा साहब के व्यवस्था-परिवर्तन का काम पूरा होगा।

यदि इन जातीय जेलों को तोड़कर, इनके घेरों से बाहर निकल कर हम वर-वधू टूटने निकलेंगे तो हमारा सीमित दायरा, सीमित क्षेत्र खत्म हो जाएगा और हमें विस्तृत क्षेत्र मिलेगा। साथ ही दहेज वाली ब्राह्मणवादी बीमारी जो हमारे अन्दर भी घुस गई है, इससे भी मुक्ति मिलेगी। इसलिए अपने विकास एवं उन्नति के लिए अन्तर्जातीय विवाह अवश्य होने चाहिए। इन्हें प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

जातियों को मजबूत करने का अर्थ है ब्राह्मणवाद को मजबूत करना। इन ब्राह्मणवादियों ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए षड्यंत्र रचकर, भारत के बहुजन मूल निवासियों को 6000 जातियों, टुकड़ों में बांट कर, सम्पत्ति लूट कर, शिक्षा जैसे मूलभूत अधिकारों से वंचित कर, हमें शक्तिहीन बना दिया और हम इनके षड्यंत्र को आज तक नहीं समझ पाए। आज भी हम अपनी-अपनी जातियाँ मजबूत करके ब्राह्मणवाद को मजबूत करने का काम कर रहे हैं।

ये 6000 जातियाँ नहीं, 6000 जेलें हैं, जिनमें हमें बन्द करके रखा गया है और हम उनमें बन्द रहकर अपनी गुलामी का आनन्द उठा रहे हैं। इन ब्राह्मणों की साजिश को हम अभी तक नहीं समझ पाए हैं। इन्होंने हमें हमेशा के लिए गुलाम बनाए रखने हेतु इस वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया, जो क्रमिक असमानता पर आधारित है।

इस प्रकार इन्होंने हमें बे-सिर पैर के 36 करोड़ देवता बना कर दे दिए और

हम उनकी पूजा करते हैं। आधा शरीर हाथी का, आधा आदमी का बनाकर हमें गणेश दे दिया। उसे विघ्न हरण नाम दे दिया। इसके बिना हमारा कोई काम ही शुरू नहीं होता।

इसी प्रकार जातियों को कर्म, पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के कर्मों से जोड़ दिया और हमें निरन्तर गुलाम बनाने की व्यवस्था कर दी। बाबासाहब ने अपनी पुस्तक 'जाति का उन्मूलन' में इस पर विस्तार से लिखा है किन्तु हमारे पढ़े-लिखे लोगों को बाबा साहब का परिवर्तनवादी साहित्य पढ़ने की फुर्सत तक नहीं।

सभी जातियाँ अपनी-अपनी जाति के बड़े-बड़े सम्मेलन करती हैं। विभिन्न राजनीतिक दल और सरकारें उन सम्मेलनों का खर्चा देती हैं। उसमें सभी ऊंची जाति के मन्त्री, विधायक, छोटे से लेकर बड़े वर्कर, कर्मचारी-अधिकारी, शिक्षित-अशिक्षित लोग हजारों, लाखों की संख्या में इकट्ठे होते हैं और अपनी-अपनी जाति की जय बोलते हैं, यही ब्राह्मणवादी साजिश है। ये लोग यही चाहते हैं कि हम जातियों को मजबूत करके इन्हीं घेरों में, जेलों में बन्द रहें। टुकड़ों में बंटे रहें। हम एक होकर, जातियाँ तोड़ कर, अपनी संगठित शक्ति बना कर मजबूत नहीं होवें ताकि वे हमेशा के लिए हमें गुलाम बनाए रखकर सत्ता पर काबिज रह सकें।

दलित स्त्रियों पर ही व्यभिचार का आरोप क्यों?

उपासना गौतम

मेरे विचार से इस प्रश्न को स्त्रियों के बहाने जातिवाचक बना दिया गया है। 'क्या दलित स्त्रियाँ गैर दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करती हैं?' में इस प्रश्न से कतई सहमत नहीं हूँ। यदि यह प्रश्न इस तरह होता कि 'भारतीय नारियाँ अन्तर्जातीय व्यभिचार करती हैं अथवा नहीं' तो अच्छा होता। विशेष तौर पर समझने वाली बात यह है कि दलित स्त्रियों को ही क्यों केंद्रित किया जाता है? उनके ही चरित्र की धज्जियाँ क्यों उड़ाई जाती हैं? कभी कोई उन्हें गैर दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करते हुए चित्रित करता है तो कभी कोई लेखक उन्हें नंगाकर उनके कपड़े खूँटी पर टंगवा देता है, उनकी सामाजिक व व्यक्तिगत अस्मिता को तार-तार कर के वे कौन सा मजा लूट रहे हैं! अगर कोई दलित स्त्रियों के बारे में ही हठकर्मों से उपरोक्त प्रश्न का उत्तर चाहे तो मेरा सीधा उत्तर है कि दलित स्त्रियाँ गैर दलित मर्दों के साथ व्यभिचार नहीं करतीं। इसका उदाहरण डॉ. अम्बेडकर का वह वक्तव्य है जो उन्होंने नागपुर में दीक्षा के अवसर पर 14 अक्टूबर 1956 को दिया था। उन्होंने कहा था "बम्बई में व्यभिचार करने का एक मोहल्ला है। वहाँ की स्त्रियाँ सुबह 8 बजे सोकर उठती हैं। सुबह सोकर उठते ही ईरानी होटलों में काम करने वाले मुसलमान लड़कों से कहती हैं 'ओ सुलमान एक प्लेट कीमा और रोटी ला।' वे कीमा और रोटी खाती और चाय पीती हैं। पर हमारी औरतों को तो कीमा-रोटी खाने को नहीं मिलती, केवल सूखी रोटी और चटनी मिलती है, इसी पर वे सन्तुष्ट रहती हैं। वे यदि चाहें तो ऐसी बेइज्जती की जिन्दगी बिता सकती हैं। लेकिन उन्हें स्वाभिमान प्यारा है, इज्जत प्यारी है। मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है इज्जत से रहना।" बाबा साहेब का यह वक्तव्य उस समय का है जब दलित स्त्रियों की स्थिति शैक्षिक एवं आर्थिक स्तर पर अत्यधिक दयनीय थी। वर्तमान में तो तथाकथित दलित स्त्रियों को डॉ. अम्बेडकर के अथक संघर्षमय आन्दोलन के फलस्वरूप बहुत कुछ प्राप्त हुआ है। लेकिन आज भी वे सवर्णों से काफी पीछे हैं। यदि स्त्रियों के व्यभिचार के कहीं कोई एक-दो उदाहरण अपवादस्वरूप मिल भी जाते हैं तो इसके पीछे उनकी कोई गम्भीर मजबूरी ही होती है जिसे किसी भी स्थिति में व्यभिचार

कहना गलत होगा। यह तो हर हाल में उसका शारीरिक उत्पीड़न ही है। अतीत में झांक कर देखें तो उच्चवर्गीय महिलाओं के व्यभिचार कभी छिपे नहीं रहे। पर्दे में ढकी उनकी इस सच्चाई को उजागर करने का कार्य तमाम लेखकों ने किया है जिनमें से एक हैं 'दीवान जरमनी दास' द्वारा लिखित पुस्तक 'महारानी' जिसके पृष्ठ-33 के दूसरे पैरा में साफ लिखा है 'यद्यपि इनके साथ बीते अपने लम्बे सम्पर्क काल में मैं इनकी अनेक कलंक-कहानियाँ जानता हूँ। वास्तव में ये अपने स्वामियों द्वारा अवहेलित थीं। इनके स्वामी तो अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति विदेशी औरतों से कर लेते थे और उन पर बेतहाशा दौलत फूंकते थे; मकान, जायदाद, सवारी के घोड़े इत्यादि भेंट में देते थे। जबकि महारानियों और राजकुमारियों को अपने तन की भूख मिटाने के लिए भारतीय और ब्रिटिश अफसरों, सचिवों तथा अपने पतियों के मंत्रियों पर निर्भर रहना पड़ता था।'

इनकी पुनरावृत्ति वर्तमान में भी कायम है। हाई सोसाइटी में पति-पत्नी बदलने के तमाम मामले प्रकाशित हो चुके हैं।

स्त्री हो या पुरुष, अवर्ण हो या सवर्ण, मनुष्य के अन्दर कुछ समान रूप से प्राकृतिक क्रियाएँ एवं गुण विद्यमान होते हैं जिनका जाति से कोई संबंध नहीं होता। आकर्षण किसी को भी किसी से भी हो सकता है, शरीर सिर्फ शरीर होता है। ये कुछ स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। इनका जाति से क्या संबंध? मेरे ख्याल से यह व्यक्ति का निजी मसला है। इसे किसी भी सूरत में सामाजिक बहस का मुद्दा बनाना बिल्कुल गलत होगा। किसी भी वर्ग की महिला या पुरुष अपनी स्वेच्छा से शारीरिक संबंध स्थापित करें तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। विचारणीय प्रश्न तो यह है स्त्रियों के साथ जबरन व्यभिचार जैसी वारदातें आये दिन सुर्खियों में छायी रहती हैं, जो बेहद चिन्ताजनक है। इसे रोकने के लिए दलित अत्याचार निवारण कानून भी नाकाम हो रहे हैं। वास्तव में जरूरत समाजिक जागरण की है, ताकि लोगों की मानसिकता बदले क्योंकि व्यभिचार के लिए पुरुष की काम पिपासा नहीं, उसकी सामन्ती मनोवृत्ति जिम्मेदार होती है, जो स्त्री को उपभोग की वस्तु समझती है।

साहित्य का मातृ-शिशु कल्याण विभाग

अनामिका

आठवीं कक्षा में पहली दफा जब मैंने 'एक कल्याणकारी राज्य' के बारे में पढ़ा, मुझे एक औघड़ याद आया जो हर बात में कहता था 'कल्याण हो, कल्याणी, तुम्हारा' और देखते-देखते मेरे हाथ में पड़ी अठन्नी लाल वाले, छुटके से गेंदे के फूल में बदल जाती थी। 'नन्हे-मुन्ने बच्चे, तेरी मुट्ठी में क्या है?' उन दिनों का एक प्रसिद्ध बाल-गीत था। पटना रेडियो स्टेशन के बालमंडली कार्यक्रम में भाग लेनेवाले बच्चों का समवेत स्वर में जवाब आता था, 'मुट्ठी में है तकदीर देश की, हमने किस्मत को वस में किया है।'

देश कि किस्मत कितनी बदली, कितना कल्याण किया अफसरशाही ने, यह कहानी फिर सही। हाल-फिलहाल मेरा ध्यान इस बात पर गया कि साहित्य में भी अफसरी बहुत बढ़ गई है और इसका चरित्र एकदम से मारक हो गया। 'सैंया भए कोतवाल, अब डर काहे का।' इस कहावत का ही विश्लेषण करने बैठें तो लगेगा कि 'सैंया' के कोतवाल हो जाने पर कम-से-कम एक औरत तो भयविमुक्त विचर सकती थी। अब के कोतवाल तो अपनी स्त्रियों पर नृशंसता का एकाधिकार चाहते हैं, 'दूसरों से तुम्हें बचाना है और खुद मार डालना है।' 'शिवैलरी' की यह नई परिभाषा है, जिसके खिलाफ दलित स्त्रियाँ नए सिरे से प्रतिबद्ध खड़ी हो रही हैं। बुद्ध की करुणा खारिज करने की चीज़ तो नहीं है और न ही 'अप्प दीपो भव' का मूलमन्त्र किसी के फूंक मारने पर बुझ सकता है।

एक दमन-चक्र का जवाब दूसरा दमन-चक्र होना तो नहीं चाहिए पर हो सकता है, धर्मवीर जी बुद्ध की उस नीति पर अमल कर रहे हों जो उन्होंने वृद्ध अजगर को सिखलाई थी। बुद्ध के प्रभाव में अजगर एकदम से अहिंसक हो गया। एक ओर यों ही निढाल पड़ा रहता था। कुछ देर में यह बात हर ओर फैल गई। जब सब लोग आश्वस्त हो गए कि यह अजगर किसी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता तो लोग उस पर ढेले चलाने लगे। हर ओर से क्षत-विक्षत अजगर बुद्ध के पास जब दुबारा गया तो बुद्ध बोले, 'काटने/निगलने को मना किया था, फुंफकारने को नहीं।' कभी-कभी फुंकार सर्वाइवल के लिए भी जरूरी हो जाती है। सर्वहारा अनादृतों

के लिए दिनकर जी का 'नाग' होना तो एकदम जरूरी है। लगातार जो विष पिलाया गया है उन्हें, वह विष की थैली ही काटकर फेंक दी जाए इतना आसान नहीं यह सब। 'पिलाया' गया मैं इसलिए कह रही हूँ कि कोई इंसान विष लेकर पैदा नहीं होता। हठयोग, रीढ़ की छोर पर अवस्थित सर्पवृत/सोयी कुंडलिनी की बात करता है, पर वहाँ भी विष नहीं, अमृत ही है। कोई भी 'जागरण' अमिय तत्व की ही अभिव्यक्ति है। विष मध्यवर्गीय अवस्था है। हलाहल को अमृत बना देना इतना आसान नहीं होता लेकिन कोशिश तो की जा सकती है।

दिनकर जी धर्मवीर के प्रिय कवि हैं, इसलिए वे 'कुरूक्षेत्र' वाले भुजंग की तरह 'दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल' नहीं हैं भुजंग को भी शोभती तो है क्षमा ही। दलित आंदोलन 'अब लौं नसानी, अब न नसैहों' के जिस तेज के साथ उठा है, उसमें उसे अपनी स्त्रियों से 'पितु-मातु-सहायक- स्वामी-सखा/ तुम ही एक नाथ हमारे हो' वाले भाव की उम्मीद नहीं करनी चाहिए। वे अपनी लड़ाई खुद लड़ लेंगी, बस हमदर्द की तरह साथ बने रहिए।

जब निस्सहायता की स्थिति थी, तब भी किस भाषिक तेज और तड़प के साथ प्रेमचंद की 'घासवाली' ने जमींदार के बेटे को आड़े हाथों लिया था। कितनी घासवालियाँ और डेलाबाइयाँ शोषण के प्रखर प्रतिरोध के साथ खुद सामने आईं? उन सबके अवदान सही श्रेय के अधिकारी हैं। अच्छे चिकित्सक को इतनी पहचान तो होनी ही चाहिए कि कौन सा घाव तुतमलंगे की पट्टी देकर या धीरे-धीरे दाबकर बहाना है, कौन कड़ी एंटीबायोटिक देकर सुखाना ही श्रेयस्कर होगा। औरत की देह एक ऐसा कच्चा घाव है (उसके शोषण की प्रमुख साइट) जो और ज्यादा छेड़ा नहीं जाना चाहिए। कुछ घाव खुद सेंकने पड़ते हैं, दूसरों का हाथ लगते ही 'इंफेक्शन' हो जाता है और जो अभी तक समाज की स्थिति रही है उसमें 'अपना' से अपना पुरुष भी पेश तो 'दूसरे' की तरह ही आता है। प्रेमचंद की ही एक कहानी है जिसमें चिड़ियाँ का अंडा घोंसले से गिर पड़ता है और जब बच्चा उसे उठाकर तलहट्टी पर रखता है तो माँ कहती है कि "आदमी का छुआ अंडा चिड़िया नहीं सेती।" चिड़िया का अंडा, औरत का घाव, आदमी नहीं ही छुए तो अच्छा। भोजपुरी की एक कहावत भी है, 'चिरई के जान जाए, लइका के खिलौना।'

रही विवाह के बाहर पैदा सन्तानों की परवरिश की बात, तो यह जटिल प्रश्न है, जिसका उत्तर मैं प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. लीला दुबे की सद्यःप्रकाशित पुस्तक 'लिंगभाव का मानववैज्ञानिक अन्वेषण' के सहारे टटोलना चाहूँगी। इस पुस्तक की बड़ी खासियत यह है कि यह वास्तविक सर्वेक्षणों के आधार पर बहुत तार्किक ढंग से अपने निष्कर्ष सामने रखती है और वह भी ऐसी जानदार भाषा में जो एक स्त्री की हो सकती है क्योंकि स्त्री को हर जगह अपने आंख-कान पूरे खुले रखने होते

हैं। कितने स्रोतों से शब्द आते हैं उनके यहां। सर्वेक्षण क्षेत्र की अलग-अलग बोलियों के ताने-तराने, मुहावरे, कहावतें, बाल-गीत, विवाह-गीत, कर्मकांड, अंतरंग गपशप, झिड़कियां, गालियां सबसे 'टिड्डी उड़ी फुर' की तरह उड़ते ही आते हैं शब्द और सन्दर्भ। जो प्रामाणिक सूचनाएँ वे देते हैं, उससे हमारी दृष्टि लगातार विकसित होती चली जाती है। वे बताती हैं कि कैसे जातिआधारित समाज में स्त्री के यौनत्व के प्रबंधन के महत्वपूर्ण घटक अलग-अलग समाजों में अलग-अलग हैं।

उत्तरी तथा मध्यवर्ती भारत में विवाहेतर संबंधों से पैदा बच्चे पिता की जाति में शामिल कर लिए जाते हैं। 'श्रेष्ठ बीज हीन खेत में गिराया जा सकता है किन्तु हीन बीज श्रेष्ठ खेत में नहीं' (तांबिया, 1973) इस विचित्र-से तर्क पर पिता का बीज अंतरजातीय द्वितीयक संबंध में भी बच्चे को सुपरिभाषित जाति का सदस्य बना देता है। बच्चों पर लगे अस्थायी कलंक का उनकी स्थिति पर खास असर नहीं होता लेकिन स्त्री जाति-बहिष्कृत हो जाती है। कहीं-कहीं इस अस्वीकार का अनुष्ठान होता है।

मृत्यु-भोज देकर दक्षिण-पूर्वी मध्यप्रदेश में पति अपनी पत्नी की प्रतीकात्मक मृत्यु घोषित कर देता है, पर नए पति की जाति में भी वह पूरी तरह शामिल नहीं की जाती। सामुदायिक भोजों, कर्मकांडों अथवा समारोहों में धर्मपत्नियाँ ही हिस्सा लेती हैं, 'कर्मपत्नियां' नहीं। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि धर्मपत्नियाँ ही झरोखे से टुकुर-टुकुर झांकती हुई सोचती हैं।

राजाजी लाए, लाए सौतनिया, मैं दुल्हन-सी लाग रही/ मेरो जिया जाने/ -..सौतन ने जायो, जायो एक ललना/ मैं जच्चा-सी लाग रही/ मेरो जिया जाने।' किसी भी स्थिति में परेशान होती है तो स्त्री ही होती है।

ब्राह्मणीय आदेशों से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र और अनुष्ठानिक शुचिता-अशुचिता के प्रतिमानों से प्रायः मुक्त जाट समाज में पुरुष दलित स्त्रियों से संबंध स्थापित कर जो बच्चे पैदा करते हैं वे भी उनके ही होते हैं। 'जाट आत्मबोध में उनका समुदाय समुद्र जैसा है उनमें जो गिरता है, जाट हो जाता है।' (चौपजरी, 1994)

दक्षिण में कहीं-कहीं तो दलित स्त्रियों से बच्चे पैदा करने वाले द्विज जनेऊ बदल कर 'पवित्र स्नान' कर लेते हैं और पा जाते हैं छुट्टी, मगर कहीं-कहीं अपने समाज से बहिष्कृत होकर दलित स्त्री को समाज में रहना होता है और वहीं अपने बच्चे बड़े करने होते हैं।

लीला दुबे ने दिल दहला देने वाली कई कहावतें अपनी इस महत्वपूर्ण पुस्तक में जहाँ-तहाँ उद्धृत की हैं। 'उत्तर-प्रदेश में यह कहा जाता है कि जैसे किसी बकरी को कोई जब चाहे, दूह सकता है कोई जब चाहे मनचाही दलित स्त्री का मजा ले सकता है।' विदर्भ में कुनबी भूस्वामी खेत में काम करने वाली महार स्त्रियों

के बारे में तिरस्कार से कहते हैं 'उसे थोड़ा अनाज दे दो, वह चुप हो जाएगी।' 'स्त्री मिट्टी का घड़ा है, मर्द पीतल का बटुवा। घड़ा भीतर से अशुद्ध होता है और इस्तेमाल के बाद फेंक दिया जाता है, पीतल का बटुवा धो-खंगाल कर फिर से हाजिर।'।

ये सब दुरभिसंधियाँ औरतों को भी समझ में आती हैं, सर। तब ही वे अपनी लड़ाई खुद लड़ने को तैयार हैं। अब उन्हें साथ चलने वाले हमदर्द दोस्त चाहिए, कोई नया डिक्टेटर नहीं जिसके साथ 'ताड़ से गिरे, खजूर में अटके' का एहसास हो।

दलित स्त्रियाँ सबक सिखाने का हौसला रखती हैं

पुष्पा विवेक

धर्मवीर जी, जब चींटी पर पैर पड़ता है तो वह भी काटती है। यहाँ तो दलित-शूद्र स्त्री का सवाल है जो एक इन्सान है, फिर चाहे वह कायस्थ हो, चमार हो या कोई भी जाति की स्त्री। जब उनके साथ अन्याय होगा तो वह भी पलटवार तो करेंगे ही, अब चाहे ब्राह्मण-विरोधी कायस्थ हों या धर्मवीर-विरोधी स्त्री। जब उनके साथ अभद्र व्यवहार, अश्लील भाषा का प्रयोग किया जायेगा तो क्या वह चुपचाप बर्दाश्त कर लें। आज की स्त्री पढ़ी-लिखी व समझदार है, उसे अपने अधिकारों व अच्छे-बुरे का ज्ञान है। निर्लज्ज और समाज विरोधी व्यक्ति का विरोध कर आज की स्त्री ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह धर्मवीर जैसे ओछी प्रवृत्ति के व्यक्ति को सबक सिखाने का हौसला रखती है। धर्मवीर जी आप तो अपनी मां-बहन-बेटी-बीवी, सभी को शक के दायरे में खड़ा कर, उन्हें बेइज्जत करने में ज़रा भी नहीं हिचके। आप समाज को क्या दे सकेंगे जब आप महिला को इज्जत नहीं दे सकते? क्या दलित के नाम पर अश्लील साहित्य, जो आपकी तिजोरी में भरे हैं, को सामने लाना दलित का अपमान नहीं है? अस्पृश्यता और जाटकर्म हिन्दू मानस के भाव नहीं हैं ये आपके ही भाव हैं, आप स्वयं इस हिन्दू मानसिकता से ऊपर नहीं उठ सके। आप एक मानसिक रोगी हैं, जिसे जाटकर्म के अलावा कुछ दिखता ही नहीं। आप कैसे दलित लेखक हैं, जिन्हें अपने समाज में व्याप्त दुख, छुआछूत, भेदभाव, शोषण, आरक्षण को समाप्त कर हमारी आने वाली पीढ़ी का अन्धकारमय भविष्य, बेरोजगारी जैसी बुराइयाँ दिखाई ही नहीं देतीं। वह आरक्षण जिसके बल पर आप इस पद तक पहुँचे, जिसे बाबासाहब ने संविधान द्वारा दिलवाया था, जो भगवान बुद्ध की समानता पर आधारित है, आप तो उस पद की गरिमा भी बरकरार नहीं रख सके। आप कैसे दलित भाई हैं कि जिस वर्ग में आपने जन्म लिया, पले-बढ़े, उसी की जड़ें काटने में लगे हैं।

प्रेमचंद ने अपने समाज में छुपे उस दर्द को उजागर किया था जो सवर्णों द्वारा दिया गया था। अब चाहे वह चमार सम्बोधन हो, या कलूआ, घीसू या माधव।

यह देश पुरुष प्रधान है। हमेशा से कमजोर और दलित खासकर दलित-स्त्री

पूँजीपति और सबल के कोप भाजन रहे हैं। स्त्री को हमेशा भोग की वस्तु ही समझा जाता रहा है। उसे इन्सान न समझ कर इस्तेमाल ही किया जाता रहा है। उसे पुरुष की हवस के लिए कभी देवों को अर्पित किया जाता रहा, तो कभी देवदासी या आयम्मा बना कर पुरोहितों, पंडों से शोषित होने के लिए छोड़ दिया जाता रहा है।

यह उसकी बदकिस्मती है कि उसे उसके अपने ही घीसू-माधव जैसे पुरुष मरने के लिए छोड़ देते हैं, जिस पर तुक्का यह है कि धर्मवीर जैसे पुरुष भी अपने ही समाज की बहन-बेटी को आदर देकर प्रतिष्ठित करने की बजाय उन पर कीचड़ उछालते हैं।

आज की नारी पढ़-लिख कर अपने अधिकारों को समझ कर सामने आई है। जब-जब वह उन अधिकारों पर अपना आधिपत्य प्राप्त करने की कोशिश करती है तो उस पर हमारे ही दलित साहित्यकार पुरुष छींटाकशी करते हैं और उसकी राह में रोड़े अटकाते हैं, क्योंकि उन्हें महिला का आगे बढ़कर किसी पुरुष की बराबरी करना हजम नहीं होता।

मनु विधान के कारण महिलाएँ गांव हो या शहर पुरुष त्रासदी की शिकार बनी हुई हैं। फिर चाहे वह अनिता भारती हो, रमणिका गुप्ता या बैसन्नी ताई या अन्य कोई। पुरुष तो पुरुष है, चाहे वह किसी भी वर्ग या समाज का हो।

भोग और भोग्या, जारकर्म और कामसूत्र के अलावा आपकी इन पुस्तकों में अश्लीलता के अलावा क्या है? आपने इन्हें दलित साहित्य का नाम दिया है। कहाँ है इनमें दलितों के उत्थान के फार्मूले, कानून-नियम? कहाँ हैं इनमें देश की उन्नति से सम्बन्धित बातें? कहाँ हैं देश के 80% दलितों की समस्याओं के समाधान? क्या इन पुस्तकों को समाज का कोई संप्रात व्यक्ति ग्रहण कर सकता है?

आप पढ़े-लिखे हैं, अच्छे पद पर हैं देश और समाज के लिए कुछ कर सकते हैं। लेकिन ऐसा मत करिये कि अपने समाज का एक वर्ग नजरें उठाकर भी बात न कर सके। किसी की कमियाँ निकालना बहुत आसान है। आपका बड़प्पन तो इसमें है कि आप बुराइयों को नजरअंदाज कर, अच्छाइयों की गिनती कराएँ। ताकि आपको पढ़ने वाले आपसे कुछ सीख लें।

आप भी किसी सवर्ण, जर्मीदार से कम नहीं। आप दलित नारियों से सीधे-सीधे न लड़कर, मानसिक रूप से उनके साथ लड़ रहे हैं। अपने लेखों के द्वारा लड़ रहे हैं। अपनी लेखनी का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं। अगर ऐसा न होता तो आप अनिता भारती को अपने समाज की उभरती लेखिका के रूप में पाकर गौरवान्वित महसूस करते। उनके लेखों के लिए उन्हें प्रोत्साहित करते। अगर उनके लेख में आपको कुछ गलत महसूस हुआ तो उसके लिए उन्हें मार्गदर्शन करते, न

कि उन पर आरोप लगा कर उनकी तरक्की की राह में रोड़े अटकाते। ऐसे आपकी कलम का कोई एक ही निशाना थोड़े ही है। आपने तो किसी को डायनासोर कहा है, तो किसी को मोटी आंखों वाली, मोटे चश्मे वाली, तो किसी को पूरा निशाना बनाया है, तो किसी को कुछ और कह कर समुचित स्त्री जाति का अपमान किया है। आपकी लेखनी से यह शोभा नहीं देता।

आपको मालूम है/भाई को भूख लगी थी...?

बात बहुत छोटी थी/भाई को...थी....?

रात बहन जब घर से निकली

उसका कारण रोटी थी।

ये देश पुरुष प्रधान है। यहाँ औरत अपने बच्चों की भूख, भाई की पढ़ाई की फीस और पति के निकम्मेपन और शराबी होने के कारण कोई और राह पकड़ने को मजबूर होती है, अन्यथा यहाँ की महिलाओं के चरित्र का गुणगान विदेशों में न किया जाता। जिसके पति घीसू, माधव जैसे शराबी और आलसी हों, जो अपनी पत्नी के कफन के पैसों की भी शराब पी जाते हों, उसकी स्त्री घर चलाने के लिए कितना परिश्रम करती है, इसे माधव और घीसू भी मानते हैं।

क्या गैर दलितों की स्त्रियों में यह सब नहीं होता, इसकी पैमाइश का आपके पास कोई बेरोमीटर है? लेकिन उसके समाज में आपके समान कोई अपने ऊपर ही कीचड़ उछालने वाला नहीं होता। कोई अपने घर का अपने समाज का आपको भेद तक नहीं देता। कोई अपनों की मजबूरी और बेबसी का इजहार नहीं करता। कितने प्रतिशत हैं वे? सिर्फ 15% और हमारा समाज 85% की आबादी वाला एक बड़ा हिस्सा है।

दलित महिला को इस हिन्दू समाज द्वारा तो अनादर मिलता ही है, अपनों द्वारा भी मिलता है। स्त्री को निर्बल समझ कर वे हमेशा उस पर प्रहार करते और शासन करते रहे हैं। स्त्री की अन्तर्वेदना चीत्कार कर के कहती है कि उसका दमन करने वालों की फेहरिस्त में अपने ही सबसे आगे हैं। उसे दूसरों के साथ-साथ अपनों की इन तालिबानी प्रवृत्तियों से भी जूझना पड़ता है।

पर वाह रे पुरुष / जाया होकर नारी का ही

मर्दों की दुनिया भारी पड़ी

अस्मत्-अपमान और जीवन का

पल-पल दिया उसने (नारी) बलिदान

पढ़ लिख कर भी आज की नारी

पा न सकी अपनों में भी सम्मान।

मर्यादा और अपमान का युद्ध क्षेत्र-स्त्री-देह ही क्यों?

वन्दना मिश्र

कुछ समय पूर्व धर्मवीर जी की कबीर से सम्बन्धित बातें पढ़ी थीं जिसमें उन्होंने कबीर के गुरु के रूप में मच्छर-मक्खी को स्वीकार किया था परन्तु विप्र रामानन्द को नहीं। उनका अपनी बात सिद्ध करने का अंदाज मुझे निराला लगा, उनकी पुलकन बच्चों की तरह मासूम। “डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी डॉ. से पहले भी द्विवेदी थे और द्विवेदी ब्राह्मण होते हैं।” खैर... उनकी पुस्तक ‘प्रेमचंद-सामन्त का मुंशी’ पढ़ने पर लगा कि यह भोला अंदाज ऊब पैदा कर रहा है “अब मेरे लिए यही मुख्य बात है कि प्रेमचंद कायस्थ थे।” पुस्तक के लोकार्पण के अवसर पर ही उन्होंने अपनी तुलना मार्क्स, डार्विन, फ्रायड व आइन्स्टीन से कर ली थी। साथ ही बुधिया के गर्भ में ठाकुर का बच्चा होने के अपने अनुमान को दार्शनिकों व वैज्ञानिकों के अनुमान के आधार पर प्रामाणिक माना। अभी इस बात को दरकिनार करिए।

धर्मवीर जी खुद को स्त्री-विमर्श का पुरोधा मानते हैं। उनकी मंशा पर शंका क्यों की जाए जब तक पूरी बात न सुनी जाए? चलिए पूरी बात सुनें, वे ‘कफन’ के घीसू-माधव को प्रथम क्रांतिकारी, विद्रोही और स्वाभिमानी मानते हैं।

प्रश्न यह नहीं उठाया जाएगा कि कथा से एकदम अलग उन्होंने ऐसा निष्कर्ष कैसे निकाला, यदि बुधिया के गर्भ में ठाकुर के बच्चे का संदेह (धर्मवीर जी के विश्वासानुसार) था भी तो क्या दलित स्त्री के साथ ऐसा व्यवहार करके वे जर्मीदार का कुछ बिगाड़ रहे हैं? एक स्त्री को किसी ने हवस का शिकार बनाया जाति व पद के बल पर और एक ने उसका शोषण किया जब तक स्वस्थ रही उसकी कमाई खा कर और जब मरने लगी तो घृणा (धर्मवीर के अनुसार) करके।

अनीता जी को शिक्षा देने के सन्दर्भ में धर्मवीर जी को प्रेमचंद की ही दूसरी स्त्री पात्र घासवाली मुलिया ध्यान आती हैं। जिसने जर्मीदार को मुंहतोड़ जवाब दिया था “मेरे आदमी के लिए संसार में जो कुछ हूँ मैं हूँ” कहकर, वे कहते हैं कि यदि बुधिया भी ऐसे कह देती तो उसकी दुर्गति न होती। पर यह नहीं बताते कि बुधिया मुलिया कैसे बन सकती थी? किसके बल पर? माधव जैसे कामचोर

(जिसे धर्मवीर जी मिट्टी का माधो न मान स्वाभिमानी मानते हैं) के बल पर?

भले ही गलत हो पर व्यवस्था ऐसी बन गयी है कि कमजोर पुरुष की स्त्री कमजोर ही रहती है। वैसे स्त्री कमजोर सशक्त की भी है पर सिर्फ उसके तथा जिसे वह चाहता है उसके सामने। जब है, परन्तु बुधिया (माधो की स्त्री) ऐसा नहीं कह सकती थी यह सिद्ध है। चलो बुधिया जो न कर सकी वह माधो कर देता। यदि विद्रोह की बात थी तो वह जमींदार का घर फूंक देता, उसे मार डालता। शिवमूर्ति की 'तर्पण' कहानी की तरह बदला लेता या कुछ और। यह तो सरासर बेईमानी व धूर्तता हुई कि स्त्री को दोनों तरफ से सजा भी मिली और उसे विवश भी किया जाए कि वह इसे स्त्री विमर्श का जरूरी हिस्सा मान ताली भी बजाए।

बात जब आइसबर्ग की की जाए, जिसे धर्मवीर जी प्रेमचंद के पेट से निकाल लाए हैं, तो सिद्ध यही होता है कि बुधिया मजबूर थी माधव की कामचोरी से। हो सकता है बाप-बेटे का दोजख भरने को उसने यह रास्ता अख्तियार किया हो, (कयास ही तो लगाना है) तो उस वक्त उनका जमीर कहाँ गया था? अब जरा कथा के भीतर झाँक पिता-पुत्र का संवाद सुनें। माधव चिन्ता करता है कि कोई बच्चा हो गया तो क्या होगा? पिता स्थितप्रज्ञ की तरह समझाता है कि उसके नौ बच्चे हुए और ऐसी ही हालत में सब हो गया। जाहिर है वह भी इतना ही निश्चित रहा होगा (उसके वक्त भी तो जमींदार रहे होंगे) और वह पुत्र जिसके साथ मिल कर वह साजिश कर रहा है क्या पता उसका है या नहीं। डी.एन.ए. टेस्ट तो उसका भी नहीं हुआ था।

प्रश्न यह नहीं कि स्त्री दलित है या नहीं, उसका तो शोषण होना ही है। सवर्ण का भी, दलित का भी इस स्तर पर भेद न करें। हां, दलित का दोहरा होता है पर बचती सवर्ण भी नहीं है। **पता नहीं मर्यादा और अपमान का युद्ध क्षेत्र स्त्री और उसकी देह ही क्यों मानी जाती है।** निश्चित रूप से जमींदारों व सामन्तों का दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति सम्मानजनक नहीं था न दलित की, न अपनी। पत्नी का सम्मान करने वाला पराई स्त्री से सम्बन्ध कैसे बना सकता है?

प्रेमचंद के साहित्य की समीक्षा होनी चाहिए, बहस होनी चाहिए क्योंकि वही स्थायी होता है बाकी सब उसके साथ नष्ट हो जाता है पर व्यक्तिगत जीवन के आधार पर साहित्य समीक्षा उचित नहीं है। हर व्यक्ति की अपनी सीमा होती है, प्रेमचंद की भी थी। जब हम चरित्र की बात करें, जीवन की बात करें तो उन्हें महात्मा की कोटि में न बैठाएँगे पर साहित्य के मंच का इससे क्या लेना देना। धर्मवीर जी साहित्य व जीवन को अवसरानुकूल प्रयोग कर जो साबित करना चाहते हैं उससे साहित्य का भला नहीं हो सकता।

पुस्तक में कहा गया है कि दलित लेखक ही अपनी बात कह सकते हैं।

किसी और का लिखना सहानुभूति होगा स्वानुभूति नहीं, तो दलित स्त्रियों के पक्ष में उनकी बात कहने की तथा उन्हें राह दिखाने की जिद क्यों कर रहे हैं?

क्या दलित लेखिका कौशल्या बैसंत्री का दर्द तथा नामदेव की पत्नी मल्लिका का कष्ट जो उनके पतियों से मिला अनदेखा किया जा सकता है। यदि स्त्री का अपमान देखने की दृष्टि हो तो प्रसाद की 'धुव्रस्वामिनी' देखें जिसमें स्त्री को राजनीति की बलिवेदी पर सम्पत्ति बनाकर उपहार की तरह चढ़ाया जा रहा था। स्त्री तो हर युग में दलित है। पुरुष से एक दर्जा नीचे जीने को मजबूर।

कभी संस्कार, कभी इज्जत, कभी नैतिकता के आधार पर उसकी यौन-शुचिता इतनी वांछनीय कि किसी पुरुष को अपमानित करने का सबसे आसान तरीका उसके घर की स्त्रियों की यौन शुचिता नष्ट कर देना है। अब मर्यादा या स्वाभिमान के नाम पर पुरुष उसे मार डाले या मर जाने दे तो स्वाभिमानी माना जाएगा? प्रेमचंद के सन्दर्भ में पुस्तक में एक स्थान पर धर्मवीर कहते हैं कि "इस कौम (कायस्थ) की लाचारी देखिए कि आज उसे ब्राह्मणों के वेद शास्त्र का सहारा लेकर ही ब्राह्मणों का विरोध करना पड़ता है। ऐसी धार्मिक हताशा में यह कुछ भी अप्रत्याशित कर बैठती है।" कहीं धर्मवीर जी भी स्त्रियों के लिए धार्मिक हताशा में ही तो नहीं मनुवादी सिद्धांत खोज लाए? वे दलितों का असली शोषण यह मानते हैं कि "कई बार उसकी कथित औलाद उसकी असली औलाद नहीं। इस शोषण के सामने आर्थिक शोषण कितना छोटा पड़ जाता है? अपेक्षा तो ज्यादा की थी लेकिन घीसू माधव इतना ही विद्रोह कर सके कि जमींदार के बच्चे को अपना बच्चा नहीं कहेंगे।" (हां, उसके कारण अपनी निर्दोष पत्नी की मौत का तमाशा देखेंगे और उसी जमींदार के पैसे से मौज करेंगे, वाह रे विद्रोह!) शोषित हुई स्त्री और प्रसन्न हो कि पुरुष उसकी इज्जत के लिए लड़ रहा है। जिसे धर्मवीर 'पहला ज्ञात' विद्रोह कह रहे हैं वह निहायत गिरा आचरण है। शर्मनाक!

प्रेमचंद अपने वक्तव्य से तथा समाज की व्यवस्था से उनके आचरण के लिए तर्क एकत्र करते हैं कि व्यवस्था व गरीबी मनुष्य को कितना अमानवीय बना देती है पर धर्मवीर के दीपक के प्रकाश में तो वे बेहद घृणित व नीच लगते हैं। छिपकर वार करते हैं अपनी ही पत्नी पर जिसकी रक्षा का दायित्व उनका था। दोषी को सजा देते तो ठीक था पर निर्दोष को देकर महान बनते पहली बार देखा। यदि ऐसे ही दृष्टि दुरुस्त करनी है तो धुंधली ही सही है।

डॉ. गया प्रसाद 'प्रशान्त' की जो कविता कोट की वह ठीक है पर यह भी तो सोचिए कि ऐसा विचार रखने वाले की स्त्री कितनी सुखी होगी?

शहीदों के ताबूत का कमीशन खाने वाले नेता से तुलना कर धर्मवीर कफन खाऊ की पैरवी करते-करते प्रेमचंद के परिवार में झांक आते हैं और उन्हें व्यभिचारी

साबित करने लगते हैं। उन्हें जमींदार सिद्ध करते हैं।

फिर 'कफन' के आधार पर दो रूप देने वाले जमींदार के लिए पूछते हैं यह दयालुता है तो क्रूरता क्या होगी? हम कहेंगे क्रूरता, विद्रोह न कर पाने की स्थिति में पत्नी को तड़प-तड़प कर मर जाने देने को, उसके जल्दी मर जाने की कामना को कहेंगे। जिसे धर्मवीर सभ्यता का दौर मानते हैं वह एक निर्दोष स्त्री का शव कुचलते हुए ही आ सकता है?

धर्मवीर शिवरानी के सन्दर्भ में कहते हैं 'दलित की बेटी होती तो प्रेमचंद को तलाक दे देती!' क्या ऐसा होता है, धर्मवीर जी! तो बुधिया ने ऐसे अन्यायी व कामचोर को तलाक क्यों नहीं दिया?

'मोरल पर आधारित विश्व स्तर का साहित्य दलित साहित्यकार ही दे सकता है, कोई कायस्थ या द्विज नहीं।' वे मानते हैं कि कोई दलित लेखक स्त्री विरोधी नहीं हो सकता। काश! ऐसा होता। सवर्णों ने दलित स्त्रियों को कुचला है। अब दलित कभी यथार्थ में और कभी कल्पना में सवर्ण स्त्रियों को अपमानित करते हैं यानी हर तरफ से पिंसी स्त्री। मधुकर सिंह जी का 'ग्राम-परिवेश' में लिखा वृत्तान्त पढ़ा है?

धर्मवीर कहते हैं दलित जाति की नारियों से मैं क्यों लडूंगा... (बहुत-बहुत धन्यवाद) अब महानता की पराकाष्ठा कि मान लिया कि व्यवस्था गलत हो तो दलित नारी को कमजोर नहीं ठहराया जा सकता है। ...इसलिए कहा जा रहा है कि "बुधिया ने जारकर्म नहीं किया था बल्कि उसके साथ बलात्कार हुआ था" पर फायदा क्या धर्मवीर जी! बेमौत मारा किसे गया, उसी बेचारी को न! अब इस परिभाषा का क्या करें (दलित) स्त्री?

धर्मवीर सवर्णों का पक्ष लेने पर अनीता जी से दुःखी हैं। दलित होकर सवर्ण की वकालत बेहद गलत। जाति व्यवस्था तर्क व तथ्य नहीं देखती वहाँ तो उन्माद रहता है चाहे कोई जाति हो। अब यदि तर्क से काम लिया तो जोश का क्या होगा? इष्ट यह कि स्त्री-पुरुष मिलकर इस व्यवस्था का विरोध करें पर जब स्त्री असहाय हो जाय तो पुरुष उससे किनारा कर ले, वह मरे या जीए वाह रे न्याय! इस समय यह कहना कि राजनीति न करें सचमुच सन्त कवियों के समान भोलापन होगा पर कहना चाहूँगी कि वह पुरुष जो सौ बार जानकर कि स्त्री निर्दोष है उसे दण्ड देने का हिमायती हो क्या अधिकार रखता है उसे राह दिखाने का। धर्मवीर को कष्ट है कि सवर्ण का बच्चा दलित के घर पलता है अब स्त्री का क्या दोष वह तो दलित ही रही चाहे सवर्ण घर की भी हो। बेहतर हो प्रहार कारण पर हो। मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार अनीता यह नहीं कहती कि यौन शोषण समस्या नहीं वे, कहती हैं कि "केवल

समस्या यौन शोषण ही तो नहीं है?” अब यह कौन सी गलत बात है कि उन पर रोक लगायी जाए? जाति व्यवस्था टूटे यह किसे काम्य नहीं होगा?

नैतिकता की तो मैं भी हिमायती हूँ। एकनिष्ठ विश्वास कौन नहीं चाहता? निश्चित रूप से शिवरानी ने त्याग किया पर यह जीवन का विषय है जिसकी चर्चा बाद में होगी। अच्छा साहित्यकार चरित्रवान भी हो यह इष्ट है पर इस आधार पर उसका साहित्य नष्ट नहीं किया जा सकता। स्त्रियाँ स्वतन्त्र हो, अपनी गरिमा समझे, स्वतन्त्रता के नाम पर कुछ भी करने की आजादी न लेना चाहे। व्यक्ति समाज निरपेक्ष नहीं है अतः उसका आचरण भी समाज के नियमों को माने किसी का परिवार बिगाड़ने वाला न हो उस पर समाज से ज्यादा आत्म नियंत्रण हो यही पुरुष के लिए भी उचित है स्त्री के लिए भी। आत्म नियन्त्रित स्त्री को मित्रवत सलाह दी जा सकती है पशु के समान नकेल नहीं।

रही डी.एन.ए. टेस्ट की बात तो विवाह आपसी विश्वास और समझदारी पर टिकता है इस प्रकार की जांच पर नहीं। ऐसे टेस्ट की मांग यदि पति करता है तो स्पष्ट बात है कि उसको अपनी पत्नी पर विश्वास नहीं है। मान लीजिए ऐसी जांच में पत्नी निर्दोष साबित होती है तो पति तो सन्तुष्ट हो जाएगा परन्तु पत्नी के मन को कितनी चोट पहुँचेगी, यह कोई स्त्री ही बता सकती है। चलिए बच्चे की जांच तो हो जाएगी परन्तु रोज का व्यवहार किस टेस्ट से जांचा जाएगा? बेहतर हो कि विशेष स्थिति में ही ऐसी जांच करवायी जाए क्योंकि यह स्पष्ट रूप से अविश्वास प्रकट करना है। यदि ‘हिन्दी की आत्मा,’ ‘एक लोकायती वैष्णव’ और ‘सीमन्तनी उपदेश’ जैसी पुस्तक को ढूँढने वाले धर्मवीर से स्त्रियाँ (सवर्ण भी) कुछ स्वस्थ उम्मीद करती हैं तो क्या गलत है?

चिन्तन का यथार्थ
दलित समाज के नए 'साई बाबा'
प्रो. तुलसीराम

दुनिया के हर समाज में ऐसे व्यक्तियों की कभी भी कमी नहीं रही है, जो उल्टी-पुल्टी बातें करके काफी चर्चित हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों का उद्देश्य समाज सेवा या सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष नहीं होता, बल्कि सामाजिक न्याय विरोधी शक्तियों के बीच सस्ती लोकप्रियता हासिल करना होता है।

जहाँ एक तरफ ब्राह्मणों ने वर्ण व्यवस्था लागू करके दलितों के देह तक को अछूत घोषित कर दिया था, वहीं आज गैर दलित साहित्यकार एवं आलोचक दलित दिमाग को अर्थात् दलित साहित्य को भी अछूत घोषित करने में जी-जान से लगे हुए हैं। इस सन्दर्भ में दलितों के देह को अछूत घोषित करने की अपेक्षा उनके दिमाग को अछूत घोषित करना हजार गुना ज्यादा खतरनाक है। इसका दूसरा अर्थ सत्य को भी अछूत घोषित करना है, क्योंकि दलित साहित्य में दलित समाज पर सदियों से वर्णव्यवस्था द्वारा थोपे गए अपार दुखों का सत्यापित चित्रण मिलता है। इस स्थिति में यदि कोई दलित लेखक इन सवर्णों की प्रदूषित श्वास को अपने मुँह में ऑक्सीजन की तरह इस्तेमाल करते हुए उल्टी-पुल्टी बातें करने लगे, तो इससे दलितों का दुख और भी भारी हो जाता है।

ऐसी ही उल्टी-पुल्टी बातों का एक पुलिन्दा दिल्ली से प्रकाशित 'हंस' के मार्च, 1998 के अंक में छपा, जिसका शीर्षक था, 'दलित चिन्तन का विकास : अभिशप्त चिन्तन से इतिहास चिन्तन की ओर।' इसके लेखक हैं डॉ. धर्मवीर जो इस लेख के बाद दलित समाज के एक नए 'साई बाबा' की भूमिका में उतर आए हैं। वे भारतीय प्रशासनिक सेवा के एक अधिकारी हैं। जैसा कि प्रशासन में फाइलें चलती हैं और फाइलों में प्रशासनिक नोट। ये प्रशासनिक नोट अकसर अड़ंगेबाजी से भरे पड़े होते हैं। अतः डॉ. धर्मवीर का यह लेख उन्हीं प्रशासनिक नोटों का एक हिस्सा सा लगता है, न कि किसी साहित्य का। छः पृष्ठों के इस लम्बे पुलिन्दे में काल्पनिक उड़ानों तथा अन्तर्विरोधों का अम्बार खड़ा किया गया है। वे लेख की शुरुआत करते हुए लिखते हैं, "शुरु में कह दिया जाए कि पिछले कुछ ज्ञात हजार वर्षों से दलित चिन्तन एक अभिशप्त चिन्तन रहा है, साथ ही, यह बात

भी शुरू में कह दी जानी चाहिए कि अगले दलित चिन्तन को स्वतन्त्र, मुक्त और इतिहास चिन्तन की ओर जाना है, यह बात पहली बार बताना इस आलेख का मुख्य उद्देश्य है।”

भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों, चाहे वह दलित ही क्यों न हो, का स्वभाव होता है कि वह दुनिया के हर व्यक्ति को अपने सामने बौना समझता है। यद्यपि, उत्तर प्रदेश के हरीशचन्द्र जैसे कुछ अधिकारी इसके अपवाद भी हैं किन्तु धर्मवीर ने शुरुआत में ही उपरोक्त बातें करके यह सिद्ध करने की पूरी कोशिश की है कि अब तक हजारों साल का दलित चिन्तन अभिशप्त होने के साथ ही गलत रहा है, इसलिए वे इसे सही दिशा में ले जाना चाहते हैं तथा इस कड़ी में वे ऐसे ‘गलत दलित चिन्तन’ को स्वतन्त्र, मुक्त और इतिहास चिन्तन की ओर ले जाना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में उनका यह भी दावा है कि वे इस बात को पहली बार अपने लेख के माध्यम से दलितों को बता रहे हैं। इसका मतलब यह है कि हजारों साल में वे पहले दलित चिन्तक हैं, जो सही सोच रहे हैं और बाकी सब अब तक मूर्ख तथा गलत थे। ऐसा लिखकर धर्मवीर ने यह साबित कर दिया है कि वे एक निहायत दम्भी तथा ऐतिहासिक गलतफहमी में जीने के आदी हैं, वर्ना ऐसी अभिव्यक्ति वे कभी नहीं करते।

अब आगे इस पुलिन्दे में इनके द्वारा दलितों को दी गई शिक्षा पर विचार करना आवश्यक है। धर्मवीर कहते हैं, “और आगे कोई सन्देह न रह जाए इसलिए व्याख्या में दलित चिन्तन को अभिशप्त इस रूप में कहा जा रहा है कि वह ब्राह्मण के जिक्र से भरा हुआ है, इस पर यह बन्धन है कि यह ब्राह्मण के विरोध के सिवा कुछ अन्य नहीं सोच रहा है। वास्तव में दलित चिन्तन उस समय मुक्त, स्वतन्त्र और वास्तविक होगा, जिस समय उसके जिक्र में से ब्राह्मण का सन्दर्भ निकल जाएगा, वह दिन उसकी सच्ची स्वतन्त्रता का दिन होगा।”

धर्मवीर हमेशा यह मानकर कलम उठाते हैं कि वे जो कुछ कहते हैं, वह सन्देह की सीमा से बाहर है। इसलिए वे दलित चिन्तन पर यह आरोप लगा रहे हैं कि वह सिर्फ ब्राह्मण के जिक्र से भरा हुआ है, इसलिए उसमें ब्राह्मण विरोध के सिवा कुछ भी नहीं है। आखिर ऐसा है भी, तो वह क्यों? पहली बात तो यह है कि यह वर्ण व्यवस्था के पोषक ब्राह्मणों या अन्य सवर्णों का पुराना आरोप गौतम बुद्ध पर लगाया गया था तथा बाद में बाबासाहब अम्बेडकर पर भी। अतः इस आरोप को बिना कामा, फुल स्टाप हटाए जब धर्मवीर दोहराते हैं, तो वे ब्राह्मणों के निःस्वार्थ सेवक के अलावा कुछ भी नहीं दिखाई पड़ते। क्या उन्हें यह बताने की जरूरत है कि कम से कम विगत तीन हजार वर्षों से ब्राह्मणों द्वारा कृत्रिम रूप से स्थापित की गई वर्ण व्यवस्था एवं छुआछूत के चलते दलितों को जितना

दुख भोगना पड़ा तथा अब भी भोगना पड़ रहा है, वैसा दुख इस धरती पर किसी भी समुदाय को कभी नहीं भोगना पड़ा। फिर दलित चिन्तन में ब्राह्मण का जिक्र होने से 'धर्मवीर' को इतना दुख क्यों हो रहा है? क्या ब्राह्मण साहित्य दलित या शूद्र के जिक्र से नहीं भरा पड़ा है? वर्ण व्यवस्था तथा छुआछूत तो अब भी कायम है, इसलिए ब्राह्मण का जिक्र तो होता ही रहेगा क्योंकि वह इस अपार दुखदाई व्यवस्था का एक मात्र सूत्रधार है। यदि नायब सूत्रधार के रूप में ब्राह्मण के साथ धर्मवीर जाना चाहते हैं, तो इसके लिए निश्चित रूप से वे स्वतन्त्र हैं।

धर्मवीर अपने प्रवचन में आगे कहते हैं, “यदि हर नया गणितज्ञ पायथागोरस की प्रमेय को ही खोजता रहेगा तो इससे विज्ञान का विकास नहीं हो सकता। दलित चिन्तन में यही हुआ है कि वह आगे नहीं बढ़ सका है, उसने एक जगह खड़े होकर ही अधिकांश वक्त गुजारा है, यह स्थिति टूटनी चाहिए। एक जगह खड़े होने के भी कुछ फायदे हो सकते थे लेकिन वे भी दलित के हिस्से में नहीं आए हैं। वे फायदे तब होते, जब इसका कोई अलग धर्म होता। संसार की कई कौमों अपने अलग धर्म लेकर मजबूती से खड़ी हैं। उनकी संख्या छोटी हो सकती है लेकिन उनकी अलग पहचान में कोई कमी नहीं है। उन कौमों ने यदि दुख उठाए हैं तो अपने लिए उठाए हैं जो उनके लिए एक गौरव की चीज है लेकिन दलितों को वह भी मयस्सर नहीं हो सका। वे बेमतलब और धर्मांतरणों के कारण दूसरों के लिए भी पिटे हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि किसी कौम के पास धर्म भी एक लम्बी वैचारिक यात्रा के बाद आता है। दलित ने वह वैचारिक यात्रा कभी पूरी नहीं की। मुश्किल से वह समय अब आ गया है।”

उपरोक्त पैराग्राफ में धर्मवीर ने आरोप लगाया है कि दलित चिन्तन आगे नहीं बढ़ सका। इस 'तथ्य' की पुष्टि के लिए उन्होंने यूनान के प्राचीन गणितज्ञ पायथागोरस की प्रमेय का उदाहरण दिया है कि सिर्फ उसी की खोज करते रहने से विज्ञान आगे नहीं बढ़ता। धर्मवीर को इतना तो पता होगा ही कि पायथागोरस दो हजार वर्ष से भी पहले पैदा हुआ था और दुनिया का हर गणितज्ञ उस जमाने से आज तक उसकी प्रमेय को पढ़ता या खोजता चला आ रहा है किन्तु इस प्रक्रिया के कारण रेखागणित के विकास में कभी कोई बाधा नहीं पड़ी क्योंकि विज्ञान विकासवादी होता है, न कि धर्म की तरह अन्धी बन्द गली, जिसकी वे खुद वकालत कर रहे हैं। धर्मवीर दलितों के लिए अलग धर्म की स्थापना जैसी बातें करके लोगों को दिवास्वप्न दिखाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि संसार की कई कौमों अपने अलग धर्म लेकर मजबूती से खड़ी हैं। यह बात सही है किन्तु अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में। हर धर्म का अपना एक भौगोलिक क्षेत्र होता है, जिसमें वह उत्पन्न होकर विकसित हुआ और दूसरे क्षेत्रों में फैला भी। धर्मों के सन्दर्भ में यह एक ऐतिहासिक सत्य

है कि वह हमेशा मानव सभ्यता के शैशव काल में पैदा हुआ जब मानव का ज्ञान-विज्ञान उतना विकसित नहीं हुआ था। अतः यह बात आसानी से कही जा सकती है कि धर्म हमेशा तर्कसंगत ज्ञानरहित युग में पैदा हुआ या पैदा होता रहा, जिसका उपयोग एक शक्तिशाली वर्ग द्वारा 'भविष्य', 'पुनर्जन्म' तथा 'मृत्यु' का भय दिखाकर दूसरे को अपना गुलाम बनाने में किया जाता रहा। इसका एकमात्र अपवाद बौद्ध धम्म है क्योंकि यह धर्म नहीं है। यह एक विज्ञानवादी सिद्धांत है। वास्तविकता भी यही है कि पाली में धम्म का मतलब सिद्धान्त होता है न कि धर्म। धर्म एक गलत अनुवाद है। बौद्ध धम्म की आगे चर्चा की गई है क्योंकि धर्मवीर ने इसके खिलाफ विष-वमन किया है। जहाँ तक धर्म का सवाल है, उसकी स्थापनाओं का युग सदियों पहले इतिहास के गर्त में दफन हो चुका है। मुश्किल से ढाई साल बाद आने वाली इक्कीसवीं सदी में नए धर्म की स्थापना करने की बात करने वाला कोई 'चंद्रास्वामी' या 'साईबाबा' जैसा जालसाज ही हो सकता है, न कि एक सामान्य व्यक्ति। कार्ल मार्क्स तथा एंगेल्स ने ठीक ही कहा है "धर्म हृदयहीन व्यक्तियों का हृदय होता है।"

अपने प्रवचन को आगे बढ़ाते हुए धर्मवीर ने महामानव बुद्ध के खिलाफ उल्टी-पुल्टी बातों के साथ ही बाबासाहब अम्बेडकर को मूर्ख साबित करने का भी दुस्साहस किया है। वे कहते हैं "लेकिन एक भूल खुद दलित-चिन्तक से भी हो जाती है, तब क्या किया जाए कि खुद दलित चिन्तक, 'इस न तो उस' गैर दलित चिन्तक की शरण में चला जाता है? यह स्वयं डॉ. अम्बेडकर के साथ घटित हुआ है। लगता ऐसा है कि डॉ. अम्बेडकर अपने समय के गांधी के रूप में जन्मे नए बुद्ध से तो जुझारू होकर लड़े थे लेकिन ढाई हजार वर्ष पहले बुद्ध के रूप में जन्मे पुराने गांधी के शिष्य बन गए थे। वास्तव में आज दलितों को अपने उन ऐतिहासिक डॉ. अम्बेडकर की खोज करनी है जो बुद्ध के समय में बुद्ध से ऐसे ही लड़े थे जैसे आज के गांधी के सामने वे लड़े थे। ऐसे किसी डॉ. अम्बेडकर ने उस समय जरूर जन्म लिया होगा। दलित चिन्तन की दृष्टि से कोई युग इतना खाली नहीं जा सकता, जितना बुद्ध का युग खाली दिखाया जाता है।"

'हंस' में प्रकाशित धर्मवीर के उस पुलिन्दे का उपरोक्त पैराग्राफ सर्वाधिक अज्ञानतापूर्ण किन्तु शरारत से भरा हुआ है। उनका आरोप है कि डॉ. अम्बेडकर अन्ततोगत्वा बुद्ध जैसे गैर-दलित के शिष्य बन गए। उन्होंने यह भी स्थापित करने का दुस्साहस किया है कि गांधी वर्तमान समय के बुद्ध थे तथा ढाई हजार वर्ष पहले बुद्ध गांधी के अवतार थे। धर्मवीर की इन दुर्भावनाग्रस्त तुकबन्दियों की चीर-फाड़ आवश्यक है।

धर्मवीर दलितों को जिस इतिहास चिन्तन की ओर अपने नेतृत्व में ले जाने की बात करते हैं, ठीक उसी इतिहास चिन्तन से वे पूर्णतया अनभिज्ञ हैं, वर्ना महामानव

बुद्ध को ढाई हजार वर्ष पूर्व गांधी का अवतार नहीं मानते। उन्हें मालूम होना चाहिए कि बाबा साहब अम्बेडकर ने जिस गांधी के खिलाफ संघर्ष किया था, वह गांधी वर्ण व्यवस्था का अपने समय का सबसे बड़ा पोषक था। अतः डॉ. अम्बेडकर का गांधी विरोध वर्ण व्यवस्था का विरोध था। जहाँ तक बुद्ध का सवाल है, जो काम डॉ. अम्बेडकर ने बीसवीं सदी में किया, वही काम ढाई हजार वर्ष पूर्व महामानव बुद्ध ने किया था। बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था के खिलाफ जबर्दस्त संघर्ष चलाया था। उनके इस संघर्ष को सदियों तक लाखों बौद्ध भिक्षुओं ने आगे बढ़ाया। इन भिक्षुओं में सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, अश्वघोष, दिग्नाग, असंग, बसुवन्धु तथा नागार्जुन जैसे अनगिनत ब्राह्मण भिक्षु भी शामिल थे। अतः बुद्ध को अपने जमाने का गांधी कहकर धर्मवीर ने न सिर्फ अपनी कूप-मंडूकता का परिचय दिया है, बल्कि डॉ. अम्बेडकर सहित सम्पूर्ण दलित वर्ग का अपमान भी किया है। अगर उन्होंने किसी को सम्मानित किया है, तो सिर्फ गांधी को, जिनकी तुलना उन्होंने बुद्ध से की है। यह कहाँ की समझदारी है कि गैरदलित के नाम पर महामानव बुद्ध जैसे दलितोद्धरक का दलित विरोध करें? जैसा कि धर्मवीर शिक्षा देते हैं कि दलितों का मसीहा सिर्फ दलित ही होना चाहिए न कि बुद्ध जैसा गैर-दलित। यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाए, तो क्या दलित के नाम पर महर्षि वाल्मीकि को दलित अपना आदर्श मानें, जिन्होंने रामायण लिखकर सिर्फ ब्राह्मणवाद को ही मजबूत बनाया है। इतिहास बोध से वंचित धर्मवीर ने यह भी अटकलबाजी की है कि बुद्ध के समय में कोई न कोई अम्बेडकर जरूर जन्म लिया होगा, जो उनके खिलाफ संघर्ष चलाया होगा। अब सवाल यह उठता है कि किसी बुद्ध के खिलाफ कोई अम्बेडकर क्यों संघर्ष चलावे, जबकि दोनों के उद्देश्य एक थे और ये उद्देश्य थे समानता, मानव स्वतन्त्रता, जाति विहीन समाज तथा विश्वशान्ति आदि, आदि। इस सन्दर्भ में धर्मवीर को यह बात अवश्य जाननी चाहिए कि बुद्ध के खिलाफ सदियों तक वर्ण व्यवस्था के पोषकों ने अत्यन्त हिंसक संघर्ष चलाया था। उन्होंने लाखों बौद्धों की हत्या कर दी थी, हजारों बौद्ध मठों को ध्वस्त कर दिया था तथा ज्ञान के अपार भण्डार लाखों बौद्ध पांडुलिपियों को जला डाला था। ऐसा उन्होंने इसलिए किया था क्योंकि बुद्ध तथा उनके अनुयायी वर्ण व्यवस्था के खिलाफ थे, वैदिक रीति-रिवाजों के खिलाफ थे और कुल मिलाकर वे ब्राह्मणवाद के खिलाफ थे। इन बौद्ध-हन्ताओं में शामिल थे, मिहिरकुल, पुष्यमित्र, पाणिनि, कौटिल्य, मनु, शशांक, कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य जैसे अगणित वर्ण व्यवस्थावादी लोग। फिर डॉ. धर्मवीर इन्हीं बौद्ध हन्ताओं की सूची में किसी डॉ. अम्बेडकर को क्यों रखना चाहते हैं? हां, इतना तो समझ में आ रहा है कि उक्त सूची में उन्होंने अपना नाम अवश्य शामिल कर लिया है। बुद्ध के विरुद्ध किसी भी प्रकार का दलित

विरोध न सिर्फ आत्मघाती होगा, बल्कि वर्ण व्यवस्थावादी संघ परिवार के छुरी की धार को और भी तेज कर देगा, जो अन्ततोगत्वा दलितों के ही गर्दन पर चलेगी।

धर्मवीर आगे अपने 'इतिहास चिन्तन' में कहते हैं "दलित की एक समस्या आस्तिकता-नास्तिकता की भी है। पता चलता है कि यह समस्या भी उस पर थोपी हुई समस्या है... दलित चिंतक अभिशप्त होकर रह गया। डॉ. अम्बेडकर के बौद्ध चिन्तन ने इस दिशा में विशेष मोड़ दिया है। दलित लोगों में ज्यादातर लोग ईश्वरवादी होते हैं और आस्तिक हैं लेकिन उसके चिंतक और लेखक अनीश्वरवादी और नास्तिक होते जा रहे हैं... यह कोई तर्क नहीं हुआ कि चूंकि ब्राह्मण ईश्वर में विश्वास रखता है, तो इसीलिए दलित ईश्वर में विश्वास नहीं करेगा। यह वैसा ही तर्क हुआ कि चूंकि ब्राह्मण रोटी खाता है, इसीलिए दलित रोटी नहीं खाएगा। होना यह चाहिए था कि ब्राह्मण के ईश्वर के जवाब में दलित चिंतक अपना ईश्वर अलग से खोजता। उसका ईश्वर ब्राह्मण के ईश्वर से ज्यादा ताकतवर होना चाहिए... लेकिन उससे भूल यह हुई है कि वह खुद अपने ईश्वर के विरोध में खड़ा हो गया है।"

ईश्वर तथा नास्तिकता के सन्दर्भ में धर्मवीर के उपरोक्त तर्क से कोई अन्य घटिया तर्क दलितों को शायद ही कहीं और कभी मिले। उन्हें इस बात का बड़ा दुख है कि डॉ. अम्बेडकर ने बुद्ध के चक्कर में दलितों को नास्तिक बना दिया है। इस संबंध में उनका यह कहना कि 'यह कोई तर्क नहीं हुआ कि चूंकि ब्राह्मण ईश्वर में विश्वास रखता है, तो इसीलिए दलित ईश्वर में विश्वास नहीं करेगा। यह वैसा ही तर्क हुआ कि चूंकि ब्राह्मण रोटी खाता है, इसलिए दलित रोटी नहीं खाएगा', से साफ जाहिर होता है कि नास्तिकता जैसे अत्यन्त गम्भीर एवं दार्शनिक विषय को एक निहायत तुच्छ एवं सस्ती उपमा 'ब्राह्मण के रोटी खाने' से देने का काम सिर्फ कोई धर्मवीर जैसा 'कलन्दर' ही कर सकता है। रोटी सिर्फ ब्राह्मण ही नहीं खाता है, कुत्ता भी खाता है किन्तु ब्राह्मण न तो कुत्ते की तरह भौंकने लगता है और न कुत्ता ब्राह्मण की तरह वेदान्ती हो जाता है। रोटी खाना मानव के लिए एक प्राकृतिक आवश्यकता है, उसे कोई प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं खाता है और न उसका बहिष्कार करता है। हां, इतना इतिहास ने अवश्य सिद्ध कर दिया है कि ब्राह्मण सदियों से दलितों के मुंह से रोटी अवश्य छीनता चला आ रहा है। जहाँ तक नास्तिकता का प्रश्न है, वह ब्राह्मण के आस्तिक होने की प्रतिक्रिया नहीं है, जैसा कि धर्मवीर बड़े सस्ते ढंग से कहते हैं। साथ ही नास्तिकता सिर्फ भारत के दलितों से ही नहीं जुड़ी हुई है। दुनिया का कोई ऐसा कोना नहीं होगा, जहाँ नास्तिक न हों। नास्तिकता एक महान दर्शन है जिसका सीधा सम्बन्ध 'रैशनलिटी' अर्थात् तर्कसंगतता से होता है। एक महा विवेकशील व्यक्ति ही नास्तिक होता है, न कि विवेकशून्य। एक नास्तिक व्यक्ति से बहादुर कोई अन्य व्यक्ति इस संसार में नहीं

होता क्योंकि वह सीधे 'ईश्वर' को चुनौती देता है और 'ईश्वर' को चुनौती वही दे सकता है, जो उसके (ईश्वर) तथाकथित किसी भी चमत्कार जिसमें मृत्यु भी शामिल है, से नहीं डरता है। इस सन्दर्भ में दलित का नास्तिक होना, उसकी विवेकशीलता का परिचायक है, न कि कूपमंडूकता या ब्राह्मण के विरुद्ध प्रतिक्रिया का! दलित यदि ईश्वर को चुनौती दे सकता है, तो फिर ब्राह्मण या धर्मवीर जैसे 'इतिहास चिंतक' किस खेत की मूली हैं? जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि धर्म और ईश्वर हमेशा मानव की अज्ञान अवस्था की देन रहा है। किसी तर्कसंगत समाज में इन दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः शीघ्र आने वाली सदी के लिए जब धर्मवीर धर्म और ईश्वर की वकालत करते हैं, तो शायद वे भूल जाते हैं कि इन दोनों के साथ वे अज्ञानता की भी वकालत करते हैं। नास्तिकता मानव के सर्वोच्च ज्ञान की पराकाष्ठा है।

धर्मवीर अपने प्रवचन में बुद्ध के विरुद्ध विषवमन को और तेज करते हुए लिखते हैं *“दलित चिन्तन को सबसे बड़ा और भारी धक्का ढाई हजार साल पहले बुद्ध के चिन्तन के रूप में लगा था। इस धक्के और धोखे से दलित-चिन्तन आज तक उबर नहीं सका है। उल्टे डॉ. अम्बेडकर के रूप में वह इस धोखे में फंसता ही जा रहा है। इस दलदल से निकलने का उसके पास अभी कोई पक्का और मुकम्मिल उपाय नहीं है। असल फर्क वही है कि राजकुमार बुद्ध संघर्षशील दलित का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते थे। वास्तव में बुद्ध ने केवल अपनी लड़ाई लड़ी थी। उनका दलित की समस्या से कुछ लेना देना नहीं था। बुद्ध की समस्या एक साधन-सम्पन्न व्यक्ति की समस्या थी। ऐसी समस्या का समाधान दलित के लिए किसी मतलब का नहीं हो सकता। नुकसान यह हुआ है कि आज के दलित ने बुद्ध के बहकावे में आकर अपने स्वतन्त्र चिन्तन की खोज करनी छोड़ रखी है।”*

धर्मवीर के उपरोक्त प्रलाप से यह बात सिद्ध हो जाती है कि मूर्खता एक ऐसी फसल है जिसका उत्पादन सिर्फ मनुष्य के मस्तिष्क में ही होता है, न कि किसी किसान के खेत में। *‘ढाई हजार साल पहले बुद्ध ने दलित चिन्तन को सबसे पहला धक्का पहुँचाया’* जैसी बातें करके धर्मवीर मूर्खता की फसल की सिंचाई जैसा काम कर रहे हैं। वे पूर्णतया अनभिज्ञ हैं कि ढाई हजार वर्ष पूर्व दलितों की स्थिति क्या थी। उस समय पूरे भारत वर्ष में एक भी दलित को तत्कालीन ब्राह्मण शिक्षित नहीं होने देते थे। वर्ण व्यवस्था अपनी चरम सीमा पर थी। असमानता का बोलबाला था। यदि बुद्ध ने इन कुरीतियों के खिलाफ संघर्ष छेड़ा, तो इससे दलित चिन्तन को धोखा और धक्का कैसे पहुँचा? वास्तविकता तो यह थी कि दलित चिन्तन को बुद्ध ने एक अभेद्य हथियार दिया, जिसे लेकर डॉ. अम्बेडकर ने आक्रमक हिन्दुत्व की एंठन को ढीली कर दिया। उसी अम्बेडकर के संघर्षों के परिणामस्वरूप मिले

हुए अधिकारों का फायदा उठाकर जब धर्मवीर जैसा दलित भारतीय प्रशासनिक सेवा की नौकरी हासिल कर लेता है, तो वह उसी अम्बेडकर पर आरोप लगाता है कि 'डॉ. अम्बेडकर के रूप में दलित धोखे में फंसता ही जा रहा है।' लगता ऐसा है कि उक्त बात को लिखने से पहले धर्मवीर ने हिन्दुओं की पौराणिक गाथा 'भस्मासुर' को अवश्य रट लिया था। बुद्ध का राजकुमार होना कोई अपराध नहीं है। सम्राट अशोक जैसे अनेक महान राजाओं ने बुद्ध की शिक्षाओं को फैला कर ब्राह्मणवाद की मिट्टी पलीद कर दी थी। क्या इन सबसे दलित चिन्तन को धोखा या धक्का पहुँचा था? और तो और, धर्मवीर ने सीधे-सीधे डॉ. अम्बेडकर पर भी दलितों को धोखा और धक्का पहुँचाने का आरोप लगाया है। क्या इतिहास की सच्चाइयों को हठवादी ढंग से नकारना ही धर्मवीर का 'इतिहास चिन्तन' है? वर्ण व्यवस्था का विरोध करके क्या बुद्ध ने अपराध किया था? शत्रुमुर्ग की तरह रेत में सिर छिपा लेने से सच्चाई नहीं छिपती। आखिर धर्मवीर जैसा व्यक्ति कहाँ-कहाँ सिर छिपाता फिरेगा?

वे ढाई हजार वर्ष पूर्व के इतिहास की तोड़-फोड़ के बाद सीधे मध्य युग में उतर कर लिखते हैं *“भारत के मध्यकाल के इतिहास में दलितों में से कबीर एक बहुत मजबूत चिंतक हो चुके हैं। रैदास भी उसी जोड़ के हैं... धार्मिक दृष्टि से कबीर और अम्बेडकर में एक अन्तर है कि कबीर बुद्ध के बहकावे में नहीं आए थे... दलित समाज बौद्ध धर्म का ऋणी नहीं है... दलित ने बौद्ध धर्म से कुछ लिया नहीं है बल्कि उसे केवल दिया है।”*

उक्त बातों के सन्दर्भ में कम से कम धर्मवीर कबीर पर शायद यह आरोप लगाना भूल गए कि उनका खानदान मुसलमान क्यों बना था? शायद उन्हें इस तथ्य की याद नहीं आई। जाहिर है कबीर एक धर्मान्तरित मुसलमान थे। मुसलमान होने से पहले उनका खानदान दलित था। धर्मवीर ने खुशी जाहिर की है कि डॉ. अम्बेडकर की तरह कबीर ने बुद्ध को नहीं अपनाया था। इस सन्दर्भ में धर्मवीर को पता होना चाहिए कि वे जिस मध्ययुगीन कबीर की बात कर रहे हैं, वह युग ऐसा था, जब ब्राह्मणों द्वारा बौद्धों तथा बौद्ध मठों को ध्वस्त करने के बाद जो कुछ बचा था, उसकी पूर्णाहूति बख्तियार खिल्जी जैसे अनेक कुख्यात मुसलमान हमलावरों ने किया। 'बुद्ध-पूजा' को 'बुत पूजा' नाम देकर खिल्जी जैसे हमलावरों ने ब्राह्मणों की तरह हजारों-लाखों बौद्ध मूर्तियों को तोड़ डाला। इस्लाम में मूर्तिपूजा का वर्जित होना बुद्ध पूजा की प्रतिक्रिया में था। इसीलिए कबीर जैसे क्रांतिकारी कवि एवं समाज सुधारक निराकार ब्रह्म के चंगुल से बाहर नहीं निकल पाए। ऐसा उन पर इस्लाम के प्रभाव के कारण हुआ। फिर भी कबीर ने अपने अनेक दोहों-छन्दों में 'दुख' का जिक्र किया है। जैसे 'दुखिया एक कबीर है' जैसी उक्तियाँ बुद्ध द्वारा

दी गई 'दुख' की अवधारणा के प्रभाव में ही लिखी गई थी। कबीर के समय में बौद्ध-विनाश लगभग पूरा हो चुका था। बुद्ध की निर्वाण-स्थली कुशीनगर के आस-पास के सैकड़ों वर्गमील के क्षेत्र को ब्राह्मणों ने नर्क घोषित कर दिया था तथा यह प्रचारित कर दिया था कि इस क्षेत्र में मरने वाला स्वर्ग नहीं जा सकता। ऐसा ब्राह्मणों ने इसलिए किया था क्योंकि बुद्ध की निर्वाण-स्थली उस समय एक तरह से देश की सबसे बड़ी तीर्थ-स्थली बन गई थी। लोग काशी जाना बन्द कर दिए थे। इसलिए ब्राह्मणों ने इस क्षेत्र को नर्क घोषित करके यह फैलाया कि जो काशी में मरेगा, उसे स्वर्ग मिलेगा। यहाँ तक कि जिसे यहाँ जलाया जाएगा, वह भी स्वर्ग जाएगा, जिसके चलते गंगा के किनारे श्मशान घाट बनवाए गए। बहुत से धनाढ्य बूढ़े व्यक्ति देश के कोने-कोने से सिर्फ मरने के लिए आज भी काशी में किराए का मकान लेकर रहते हैं। जिस कुशीनगर के आसपास के क्षेत्र को ब्राह्मणों ने नर्क घोषित किया था, उसमें मगहर भी आता था, जहाँ कबीर जान-बूझ कर मरने के लिए गए थे। उस समय की अत्यन्त बौद्ध विरोधी परिस्थितियों के चलते कबीर जैसे अनेक विवेकशील व्यक्ति बुद्ध के बारे में बहुत कुछ नहीं जान सके, जिसका सबसे बड़ा कारण ब्राह्मणों द्वारा फैलाए गए मिथ्या प्रचार के साथ-साथ मुस्लिम राजाओं का शासन भी था। फिर भी, इसका मतलब यह नहीं था कि कबीर बुद्ध विरोधी थे, वरना उनकी निर्वाणस्थली कुशीनगर के पास नर्क घोषित किए गए मगहर क्षेत्र में वे जानबूझ कर जाकर नहीं मरते। कबीर ने ब्राह्मणों द्वारा फैलाए गए उस मिथ्या भय एवं प्रचार के प्रतिरोध में मगहर जाकर देह त्याग किया था। इससे बढ़कर कबीर की बुद्ध को और क्या श्रद्धांजलि हो सकती थी। जहाँ तक रैदास का सवाल है, उनकी अनेक कविताओं में बुद्ध की शिक्षाओं का ज्यों का त्यों अनुवाद मिलता है (देखिए अश्वघोष, सितम्बर-अक्तूबर, 1997)। अतः डॉ. धर्मवीर द्वारा मध्ययुगीन परिस्थितियों की बिना उचित जानकारी के कबीर तथा रैदास जैसे महान व्यक्तियों को बुद्ध या अम्बेडकर के खिलाफ इस्तेमाल करने की कोशिश दिन को रात बताने जैसी है।

आगे बुद्ध पर अनेक आरोप लगाते हुए धर्मवीर कहते हैं “बुद्ध सुकरात और ईसा की तरह के दुख नहीं उठा सकते थे। यह उनके स्वभाव में नहीं था। वे पेट को भूखा मार कर देख सकते थे लेकिन खुद उनका पेट सुजाता की खीर से पहले छका हुआ था। वे सच में सुकरात की तरह गरीब नहीं थे लेकिन गरीबी उन्होंने ओढ़ ली थी, जो विहारों की धन-धान्य में बदल गई थी। यह बिल्कुल वैसा ही नाटक और छद्म था, जैसा इस शताब्दी में उद्योगपति विरला के आश्रम में गांधी जी ने अपने कोट-पैन्ट उतारकर घुटनों तक की धोती पहन कर किया था।”
वर्ण व्यवस्था के पोषकों द्वारा बुद्ध के खिलाफ फैलाई गई तमाम भ्रान्तियों

एवं दुष्प्रचारों से कूट-कूट कर भरे दिमाग वाले धर्मवीर जैसे व्यक्ति को कौन समझावे कि वे बुद्ध के खिलाफ अनर्गल बातें करके स्वयं को हास्यास्पद बना रहे हैं। बौद्धों का मार्ग धनाढ्यता का मार्ग नहीं था। वह बेहद कठिन सामाजिक परिवर्तन का मार्ग था। दार्शनिक देवी प्रसाद चटोपाध्याय के शब्दों में 'बौद्ध मत भारतीय इतिहास का एक करिश्मा था।' सुकरात का नाम लेकर धर्मवीर जैसा व्यक्ति बुद्ध को इतिहास से नहीं मिटा सकता। इसमें शक नहीं कि सुकरात एक महान दार्शनिक थे। वे भी लगभग बुद्ध के ही समकालीन थे, उन्हीं के समय का एक ग्रीक दार्शनिक सोलन था। बुद्ध के संघ तथा अन्य शिक्षाओं से प्रभावित होकर उसने जनतांत्रिक प्रणाली का दर्शन विकसित किया था। सिर्फ गरीब होने से कोई व्यक्ति महान नहीं बन जाता, सुकरात यदि बुद्ध से महान था, तो उसके दर्शन का क्या हुआ? दुनिया में कितने लोग सुकरात के अनुयायी हैं? कौन सा ऐसा महाद्वीप है, जहाँ बुद्ध का दर्शन नहीं पहुँचा है? सुकरात प्लेटो का गुरु था। प्लेटो की उस समय के यूनानी प्रशासन में बहुत पहुँच थी। सुकरात को विभिन्न आरोपों में जहर का प्याला पीकर मृत्युदण्ड की सजा सुनाई गई थी। इन आरोपों में एक आरोप यह भी था कि वह ग्रीस में मान्यताप्राप्त देवी-देवताओं के विरुद्ध अपने नए देवी-देवताओं को गढ़ रहा था। इस सन्दर्भ में, हो सकता है कि धर्मवीर सुकरात में अपनी 'छवि' देख रहे हों क्योंकि वे भी अब दलितों के नए भगवान और धर्म की स्थापना का दावा पेश कर रहे हैं। जहाँ तक सुकरात के कठिन मार्ग या सजा की बात है, उनके शिष्य प्लेटो ने उन्हें मृत्युदंड से बचाने के लिए प्रशासन में अपनी पहुँच का फायदा उठाकर जेल से भगाने का इन्तजाम कर लिया था किन्तु सुकरात ने स्वयं जेल से भागने से इन्कार कर दिया। उनका तर्क था कि उन्हें कानून के उल्लंघन करने के कारण मृत्युदंड दिया गया था, अतः जेल से भागकर वे पुनः कानून का उल्लंघन नहीं करेंगे। अतः विश्व समाज को सुकरात की यही सबसे बड़ी देन है कि वे अपनी जान देकर कानून की रक्षा करना चाहते थे और किए भी। वहीं, बुद्ध वैदिक ब्राह्मणों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए बनाए गए समस्त कर्मकाण्डीय कानूनों के खिलाफ आन्दोलन छेड़े हुए थे। सुकरात और बुद्ध में यह जमीन-आसमान का फर्क है, जिसे धर्मवीर जैसे लोग समझें या न समझें, इस देश के दलित हमेशा समझते रहेंगे। जब बुद्ध वैसा कर रहे थे, तो क्या उनका मार्ग आसान और खतराविहीन था, जैसा कि धर्मवीर आरोप लगा रहे हैं? यह तथ्य सर्वविदित है कि बुद्ध जैसा महामानव समाज हित में कठिन मार्ग अपनाने वाला, अब तक दुनिया में कोई और पैदा नहीं हुआ है। यही कारण था कि उन्हें जान से मारने का अनेक बार ब्राह्मणों ने षड्यंत्र रचा था किन्तु नाकाम रहा। सुकरात की तरह महामानव बुद्ध को जहर का प्याला तो नहीं दिया जा सका किन्तु उनके सिद्धांतों पर चलने के कारण सदियों तक लाखों बौद्धों

का जो कल्लेआम होता रहा, उनमें से हर एक बौद्ध भिक्षु का बलिदान किसी भी एक सुकरात से कई गुना ज्यादा था। इसका मतलब यह कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि सुकरात कम महान था। हां, इतना अवश्य कहा जाएगा कि उसका दर्शन बहुत सीमित था, न कि बुद्ध जैसा विशाल एवं क्रांतिकारी परिवर्तन लाने वाला। यही कारण है कि यदि सुकरात के दर्शन को दुनिया भर के विश्वविद्यालयों में नहीं पढ़ाया जाता, तो उसका कोई नामलेवा तक नहीं मिलता। इसके बावजूद सुकरात का दर्शन दुनिया के किसी समाज पर अब तक अपनी कोई छाप नहीं छोड़ पाया। यहाँ तक कि ग्रीस पर भी नहीं, जहाँ वह स्वयं पैदा हुआ था। उल्टे इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि बुद्ध के दर्शन से अनेक ग्रीक दार्शनिक प्रभावित थे तथा अनेक ग्रीसवासी प्रभावित होकर भारत में आकर बस गए थे। प्राचीन नगरी साकेत में अनेक ग्रीसवासी बौद्ध थे। जिस तरह से धर्मवीर ने बुद्ध के खिलाफ सुकरात तथा ईसा मसीह को बड़ा दिखाने की कोशिश की है, वह भी कम रोचक नहीं है। धर्मवीर का शायद एकमात्र मापदण्ड यह है कि सुकरात तथा ईसा को मारा गया था, एक को जहर देकर और दूसरे को सलीब पर कीलों से ठोंक कर, जबकि बुद्ध के साथ वैसा नहीं हुआ। यदि कोई मारे जाने की वजह से ही बुद्ध से महान हो जाता है, तब तो धर्मवीर को चाहिए कि वे गांधी को बुद्ध से महान बताना शुरू कर दें क्योंकि उन्हें भी तो आखिरकार गोली से उड़ाया गया था।

यदि बुद्ध को धन-दौलत से ही प्रेम था, तो वे राज पाट क्यों छोड़े थे? वे क्यों ज्ञान प्राप्ति के बाद 45 वर्षों तक भिक्षा मांग कर 24 घंटे में सिर्फ एक बार खाना खाते रहे? बुद्ध का मार्ग सुकरात और ईसा से कई गुना कठिन था। यदि ईसा के समर्थक युद्ध में अन्य देशों को हथिया कर जबरन ईसाइयत को नहीं थोपते, तो वह कभी भी रोम से बाहर नहीं निकल पाती, जबकि दुनिया भर में बौद्धमत को सबने स्वेच्छा से अपनाया। बुद्ध वर्ण व्यवस्था, असमानता, कर्मकाण्ड तथा शोषणकारी वैदिक परम्परा के विरुद्ध लड़ रहे थे। यह कोई आसान मार्ग नहीं था। गांधी की लंगोटी से बुद्ध की गरीबी ओढ़ लेने की तुलना करना मानसिक असन्तुलन का प्रतीक है।

साहित्य के बारे में धर्मवीर अपने 'संदेश' में लिखते हैं *“समस्या यहाँ तक गंभीर बनी हुई है कि कई दलित लेखक तक अपने साहित्य में और सभा-समाजों में अपनी जाति को छुपाते हैं। वे हीन-ग्रंथि से ग्रसित हैं। वह दलित व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी से क्या लड़ेगा जो मात्र 'चमार, भंगी' के शब्दों से डर गया है? दूसरे वह आदमी समाज में किसी मतलब का नहीं है, जो अपने बाप और अपनी माँ का नाम गर्व से नहीं ले सकता। संसार का कोई बच्चा अपने मां-बाप का नाम लेना नहीं छोड़ता है। समाधान यह है कि दलित चिंतक खराब से खराब, कमजोर*

से कमजोर और घृणित से घृणित शब्द अपने लिए पकड़ लें और उसी का अर्थ बदल दे। शब्दों के अर्थ स्थाई नहीं हैं और बिना किए कुछ मिलता नहीं है।”

उपरोक्त आदर्शवादी बातों से ऐसा नहीं लगता है कि धर्मवीर जैसा कोई दलित बोल रहा है, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि मानो पण्डित राम किंकर महाराज अपना धार्मिक प्रवचन दे रहे हों। जहाँ तक जाति छिपाने का सवाल है, कोई भी दलित लेखक ऐसा जान-बूझ कर नहीं करता। उल्टे, यदि ‘पर उपदेश कुशल बहुतेरे’ वाले धर्मवीर को ही ले लिया जाय तो वे स्वयं अपने नाम से दलित सूचक उपनाम को न जाने कब का हटा चुके हैं, वरना वे सिर्फ ‘डॉ. धर्मवीर’ हमेशा क्यों लिखते हैं? वर्ण व्यवस्था से ग्रसित इस समाज में यदि कोई दलित अपनी जाति को छिपाता है, तो उसे सिर्फ ‘हीन ग्रंथि से ग्रसित’ बताकर ‘दादा’ नहीं बना जा सकता। जाति का पता चल जाने से आज भी देश भर में लाखों दलितों को कोई अपना मकान किराए पर नहीं देता है। आन्ध्र प्रदेश तथा तमिलनाडु में आज भी अनेक होटलों और चायखानों में दलितों को नारियल की खोपड़ी में चाय दी जाती है। बसों या रेल गाड़ियों में दो अपरिचित आदमी खूब हंसते-खेलते बातें करते हुए सफर का आनन्द लेते रहते हैं किन्तु ज्यों ही उनमें से एक के दलित होने की बात उजागर हुई कि सफर का सारा मजा किरकिरा। आगे उनमें बातें बन्द हो जाती हैं। ऐसा हजारों दलितों के साथ होता है और प्रख्यात दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि के साथ भी ऐसा हुआ था। यदि कोई दलित किसी कारण से जाति छिपाता भी है, तो वह ‘पाप’ नहीं करता क्योंकि इस जाति को उसके पूर्वजों ने नहीं बनाया, बल्कि ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिए बनाया। अतः इस ब्राह्मण-प्रदत्त जाति में कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसके प्रति दलित अपनत्व जता सकें और ढिंढोरा पीटते चले कि वे ‘चमार’ या ‘भंगी’ हैं। जिस समाज में ‘चमार’ या ‘भंगी’ बता देने से तुरन्त अन्याय, अत्याचार एवं सामाजिक बहिष्कार का पहाड़ टूट कर गिरने लगता है। उस समाज में जाति छिपाना दलित के लिए हीनग्रंथि से ग्रसित होना कैसे हुआ? कई बार ऐसा भी होता है कि जाति छिपाकर दलित सवर्णों के त्वरित अन्याय से बच जाता है। अतः अन्याय एवं अत्याचार से बचाव करना हीनग्रंथि नहीं है। यह भी दलित के लिए एक संघर्ष है। ‘चमार’ या ‘भंगी’ शब्द से दलित डरता नहीं है, जैसा कि धर्मवीर अपने उपदेश में कहते हैं। ‘चमार’ या ‘भंगी’ शब्द किसी दलित के ऊपर होने वाले अत्याचार की पूर्व सूचना देता है, इसलिए ये शब्द उसके लिए अत्याचार-विरोधी संघर्ष के हिस्से हैं। इस समस्या के समाधान के रूप में खराब से खराब या घृणित से घृणित शब्द पकड़ कर उसके अर्थ बदलने का धर्मवीरीय सुझाव एक ख्याली पुलाव के अलावा कुछ नहीं है। भाषा या शब्दों के गढ़ने का युग सदियों पहले समाप्त हो चुका है।

शब्द किसी एक आदमी द्वारा गढ़े नहीं गए और न गढ़े जा सकते हैं। उनके अर्थ बदलना तो और भी दूर की बात है। धर्मवीर नए भगवान तथा धर्म के अविष्कार का दावा पेश कर चुके हैं। इसलिए अपने लिए वे नई भाषा या नए शब्द भी गढ़ सकें, तो इसमें किसी दलित को कोई ऐतराज नहीं है क्योंकि उस स्थिति में 21वीं सदी में वे पहले व्यक्ति होंगे, जिन्हें एक नई भाषा का आविष्कारक कहा जाएगा? वे अपने लिए जो चाहें, सब कुछ करें किन्तु अपने मायाजाल में दलितों को न घसीटें।

इसी पुलिन्दे में साहित्य के बारे में धर्मवीर के प्रवचन का एक लम्बा हिस्सा है, जिसकी एक बानगी इस प्रकार है। वे लिखते हैं “दलित साहित्य का कला पक्ष अलग हो सकता है लेकिन दलित साहित्यकार साहित्य के कला पक्ष के ही विरुद्ध खड़ा नहीं हो सकता। ऐसे विचार से दलित साहित्य को बचने की आवश्यकता है। यह विल्कुल धर्म और ईश्वर की तरह की बात है। धर्म, ईश्वर और कला पशु के पास नहीं है क्या दलित चिंतक ऐसे पशु जीवन को पसंद करना चाहेगा?”

धर्मवीर यह मान कर चलते हैं कि दलित साहित्यकार की रचना में कला पक्ष नहीं है। इसीलिए वह सलाह दे रहे हैं कि कोई दलित साहित्य के ही विरुद्ध खड़ा नहीं हो सकता तथा ऐसे विचार से दलित साहित्य को बचने की आवश्यकता है। उनके इस एजेन्डे में एक छिपा हुआ एजेन्डा यह है कि कला पक्ष सिर्फ गैर दलित साहित्य में मौजूद होता है। इसलिए उसे दलित अवश्य अपनावें। यहाँ असली सवाल यह उठता है कि पूरा दलित समाज कला पक्ष से कब दूर रहा है? बहुत सी कलाएँ आज भी ऐसी हैं, चाहे वे साहित्यिक हों या सांस्कृतिक, सिर्फ दलित ही उन्हें संरक्षित रखे हुए हैं। उनके लोकगीत, लोकनाट्य, लोकनृत्य, गाथा गायन जैसे लोरकी, छटका, विरहा तथा आल्हा आदि को यदि दलित जारी नहीं रखते तो ये कलाएँ न जाने कितने पहले लुप्त हो गई होतीं। हैरत इस बात की है कि सवर्णों ने इन कलाओं को जातिगत कारणों से कभी साहित्य का हिस्सा नहीं बनने दिया, उल्टे इन्हें ‘चमरउवा’ आदि कहकर हमेशा उपहास किया। अतः देश की विभिन्न भाषाओं में जो दलित साहित्य उपलब्ध है, उसमें कला पक्ष की कमी या विरोध कदापि नहीं है। इस सन्दर्भ में पंजाबी साहित्यकार एस.एल. विरदी का यह कहना कितना उपयुक्त है कि पंजाबी साहित्य के कारवाँ में किसान की लूट, पीड़ा, दर्द का उल्लेख तो है किन्तु उनके साथ काम करने वाली सीरी (मजदूर) की लूट, पीड़ा, दर्द का वर्णन नहीं दिखाई देता। खेत में रोटी लेकर जाती जड़ी की तड़क-भड़क की सराहना तो है परन्तु खेतों में भीगी चील की तरह घास का गड्ढर लेकर आती चमारी, चूहड़ी की दास्तान कहीं नहीं है, गिद्दे में नाचती मुटियार की मस्ती का जिक्र तो है परन्तु सिर पर गन्दगी उठाए जाती हुई मुटियार की खामोशी का वर्णन नहीं है... आदि। आखिर दलित साहित्य में कला पक्ष की कमी सिर्फ धर्मवीर को

ही क्यों दिखाई पड़ती है? क्या किसी 'सीता' या 'राधा' के मुख की तुलना चांद से करना ही कला पक्ष है? या फिर, क्या किसी विष्णु, राम या कृष्ण के चरणों की तुलना भारतीय जनता पार्टी के चुनाव चिह्न से करना कला पक्ष है? न जाने कितनी सदियों से फटेहाल दलित अपने बेलमुंडे कपार सिर पर ईट-गारा ढो-ढो कर कितने ही ताजमहल निर्मित करते चले आ रहे हैं किन्तु एक दिन अचानक अपनी मौज-मस्ती के लिए हरिवंश राय बच्चन जैसा पर्यटक कवि वहाँ आकर उसे 'यमुना के पानी में बहता हुआ सफेद फूलों का दोना' बताकर सारी वाहवाही लूट ले जाता है। क्या धर्मवीर का कला पक्ष यही है, जिसके लिए वे दलितों को दोषी मान रहे हैं?

जहाँ तक कला पक्ष के सन्दर्भ में धर्मवीर की दूसरी बात का सवाल है, जिसमें वे कहते हैं कि *'यह बिलकुल धर्म और ईश्वर की बात है। धर्म, ईश्वर और कला पशु के पास नहीं है क्या दलित चिंतक ऐसे पशु जीवन को पसन्द करना चाहेगा?'* धर्मवीर की इन बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अब उनके अन्दर शंकराचार्य की 'आत्मा' पूरी तरह समा गई है। साथ ही, ऐसा भी लगता है कि उन्होंने धर्म और ईश्वर में विश्वास करके अपने को पशु होने से तो अवश्य बचा लिया है किन्तु समझदारी वैसी की वैसी ही रह गई। विज्ञान ने यह साबित कर दिया है कि ईश्वर में विश्वास करने वाले से बड़ा मूर्ख इस दुनिया में कोई अन्य नहीं होता है, भले ही ऐसे लोगों का इस धरती पर बहुमत क्यों न हो। यह जग-जाहिर है कि मनुष्य और जानवर में फर्क यह होता है कि मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी होता है किन्तु जानवर नहीं। ईश्वर में विश्वास करने या न करने से मनुष्य तथा जानवर में फर्क नहीं किया जा सकता। ईश्वर में विश्वास करने वाले हिटलर तथा मुसोलिनी जैसे अनेक तानाशाहों ने करोड़ों मानव का संहार किया है किन्तु किसी नास्तिक तथा अत्यन्त खूंखार जानवर ने भी वैसा कभी नहीं किया, फिर धर्मवीर जैसा ईश्वर में विश्वास करने वाला यह हिटलर या मुसोलिनी किसी अनीश्वरवादी जानवर से कैसे बेहतर हो सकता है? यदि ईश्वर होता तो वह कभी हिटलर जैसे नरहन्ता को पैदा नहीं करता।

जहाँ तक धर्मवीर का यह तर्क कि धर्म, ईश्वर तथा कला पशु के पास नहीं होती है, इसलिए क्या दलित चिंतक ऐसे पशु जीवन को पसंद करना चाहेगा? इस सन्दर्भ में धर्मवीर को इस ऐतिहासिक तथ्य से अवश्य परिचित होना चाहिए कि धर्म और ईश्वर अपने आप कभी भी पैदा नहीं हुए। इन्हें मानव ने ही पैदा किया जब कि जानवर वैसा नहीं कर पाया। इस सन्दर्भ में जानवर निश्चित रूप से मानव से बेहतर प्राणी है। मानव धर्म और ईश्वर के नाम पर सदियों से पूजा-पाठ या यज्ञों के बहाने करोड़ों जानवरों की बलि चढ़ाता आ रहा है। इस तरह के कर्म-काण्ड

बनाकर मानव ने जानवरों को भी धर्म तथा ईश्वर का हिस्सा बना दिया। इस प्रक्रिया में बलि का बकरा भी ईश्वर की ही तरह पूजनीय हो गया। स्मरण रहे कि धर्मवीर के 'दुश्मन' गौतम बुद्ध ने इन अबोध जानवरों की बलि के विरुद्ध भी अत्यन्त शक्तिशाली आन्दोलन चलाकर इस प्रथा को बन्द करवा दिया था। जहाँ तक कला का सवाल है, धर्मवीर के अनुसार धर्म और ईश्वर की ही तरह वह भी जानवर में नहीं होती। यह तर्क भी सरासर गलत है। जानवर में भी कला होती है। काली घटा आने पर हरे-भरे जंगल में पंख फैलाकर मोरों को नाचते हुए किसने नहीं देखा है? डमरू की धुन पर क्या बन्दरिया नहीं नाचती है? क्या बन्दर को बजाते या भालू को सर्कस में मोटर सायकिल चलाते नहीं देखा गया है? क्या जहरीला कोबरा बीन की धुन पर अपना फन फैलाकर नहीं नाचता? क्या खूंखार शेर सर्कस में तमाशे नहीं दिखाते? क्या कबूतर सन्देश नहीं ले जाते? जब यह सब कुछ जानवर आदमी की तरह कर लेता है, तो फिर वह कलाविहीन कैसे हुआ? जहाँ तक धर्मवीर का यह सवाल है क्या मनुष्य जानवर की तरह जीना चाहेगा क्योंकि उसमें धर्म, ईश्वर और कला नहीं होती? इस सन्दर्भ में इतना ही कहना उचित होगा कि यह वाक्य धर्मवीर का अपना नहीं है। इसे सदियों से कर्मकाण्डी ब्राह्मण दोहराते आ रहे हैं। यह वाक्य किसी न किसी रूप में हिन्दुओं के हर धार्मिक ग्रन्थ में मिल जाएगा।

दलित समाज की मुक्ति के लिए नई दिशा दिखाने का दावा करने वाला यह तथाकथित इतिहास चिंतक ब्राह्मणों से ही उधार लेकर धर्म और ईश्वर की वकालत करके वर्ण व्यवस्था के भसकते हुए स्तंभों पर सिमेन्ट लगाने में अपनी शान समझ रहा है। उल्टे यह 'इतिहास चिंतक' दलितों पर पशु की तरह जीने का आरोप भी लगा रहा है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जानवर से अलग दिखाई देने के लिए मानव धर्म और ईश्वर में अवश्य विश्वास करें क्योंकि ये चीजें जानवर में नहीं होती हैं। इसका अर्थ यह भी है कि आदमी की क्रियाएँ जानवरों की प्रतिक्रिया में होनी चाहिए चूंकि धर्मवीर कर्मकाण्डी ब्राह्मणों की तरह 'तर्क-तर्क के लिए' वाली नीति पर उतर आए हैं, इसलिए उनका अनुसरण करते हुए यह भी तर्क दिया जा सकता है कि चूंकि गदहे को सींग नहीं होती है, इसलिए आदमी सींग लगाकर चले, तभी वह गदहे से भिन्न दिखाई देगा। यहाँ हमारा एक सुझाव है कि आदमी जानवर से एक चीज अवश्य सीखे जानवर की ही तरह आदमी ईश्वर में कभी भी विश्वास न करे, इसी में उसकी भलाई है।

धर्मवीर आगे लिखते हैं *“असल में बिना इतिहास के ज्ञान के दलित चिंतक कई खेमों और भूगोलों में बंटा परेशान खड़ा है कि वह क्या करे! यदि केवल आज के उत्तर भारत की बात ली जाए तो यहाँ तो वह रैदास और कबीर की जोड़ी को*

सब कुछ मानता है या डॉ. अम्बेडकर को सब कुछ मानता है। वह उन सबका एक क्रमिक मूल्यांकन नहीं कर पा रहा है। डॉ. अम्बेडकर को मानने में उसे रैदास और कबीर की अवहेलना करनी पड़ रही है और रैदास या कबीर को मानने में उसे डॉ. अम्बेडकर को भुलाना पड़ रहा है लेकिन इतिहास को क्रमिक रूप में लिखने से उसे दलित चिन्तन के विकास का पता चल सकेगा।”

उपरोक्त वाक्यों के विश्लेषण से पता चलता है कि धर्मवीर ने एक ही स्वर में देश भर के समस्त दलित साहित्यकारों तथा चिंतकों को इतिहास के ज्ञान से वंचित बताकर उन्हें मूर्ख साबित करने का अति कृतघ्न दावा पेश किया है। उन्हें यह अधिकार किसने दिया है कि वे समस्त दलित समाज को इतिहास के ज्ञान से शून्य बतावें? भूगोलों में दलित चिंतक अवश्य बंटा है किन्तु इसका अर्थ कदापि नहीं कि वह खेमों में बंटा है जैसा कि धर्मवीर का दावा है। भूगोल से धरती की चकबन्दी अवश्य होती है, किन्तु संस्कृति या साहित्य का बंटवारा नहीं। दलित चाहे देश के किसी भी भौगोलिक क्षेत्र का क्यों न हो, उस पर वर्णव्यवस्था का अभिशाप समान रूप से लागू हुआ है। इसलिए उसकी समझदारी में हमेशा समानता रही है और रहेगी भी। इस सन्दर्भ में यदि कोई रुकावट है तो वह भाषा की है न कि भावार्थ की। दलित चिंतकों के बीच यदि कोई खेमाबन्दी है, तो उसकी शुरुआत ‘हंस’ में छपे इस पुलिन्दे से स्वयं धर्मवीर ने की है और निःसंदेह यह खेमा बुद्ध तथा अम्बेडकर-विरोध का है, जिसका क्रियात्मक रूप दलित-विरोध का भी है। जहाँ तक रैदास और कबीर को एक पलड़े में रखकर डॉ. अम्बेडकर की अवहेलना या अम्बेडकर को दूसरे पलड़े में रखकर रैदास और कबीर की अवहेलना करने का सवाल है, यह धर्मवीर की एक दिवा-स्वप्निल कल्पना है। कोई भी अम्बेडकरवादी रैदास या कबीर की अवहेलना नहीं करता। इस सन्दर्भ में यह एक अकाट्य हकीकत है कि रैदास और कबीर के हिमायती होने का दावा पेश करने वाले खुद धर्मवीर डॉ. अम्बेडकर के खिलाफ विषवमन करने में तल्लीन हैं। यदि धर्मवीर ने अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत अति शोधपूर्ण ऐतिहासिक रचनाओं को गहनता तथा बुद्धिवादी ढंग से अध्ययन किया होता, तो वे इतिहास को क्रमिक रूप से लिखने का थोथा दावा या सुझाव कदापि नहीं देते।

अपने पुलिन्दे के अन्तिम हिस्से में धर्मवीर ने दलित-चिन्तन की स्थितियों की 23 हिस्सों में चकबन्दी की है, जिसमें 20 वाँ एवं 21वाँ प्वाइन्ट अत्यन्त खतरनाक है। वे लिखते हैं “इतिहास के ज्ञान का लाभ यह है कि अब दलित उन रास्तों पर पुनः नहीं चलेगा, जो रास्ते उनके पूर्वज तय कर चुके हैं। वह वहाँ से आगे अपने काम को शुरू करेगा जहाँ से उसके पूर्वजों ने उस काम को छोड़ा है। उदाहरण के रूप में, अब किसी अगले दलित चिंतक को डॉ. अम्बेडकर वाले महाड़ सत्याग्रह

और कालाराम मन्दिर प्रवेश के लिए आन्दोलन चलाने की जरूरत नहीं है। उसे यह मानकर चलना चाहिए कि इन मामलों में बाबा साहब जो अनुभव कर चुके हैं, वह सही, पर्याप्त और पूरा है। वास्तव में, यदि डॉ. अम्बेडकर को पता होता कि ऐसे अनुभव रैदास और कबीर पहले कर चुके हैं तो पुनः वही बात न दोहराने से उनका समय बच जाता। तब वे अपनी पैंसठ साल की उम्र में... बौद्ध धर्म के लुभावने धर्मान्तरण से भी पार हो चुके होते।”

प्रथम दृष्टि में धर्मवीर का उपरोक्त प्रलाप बड़ा लुभावना लगता है किन्तु गम्भीरता से गौर करने पर इन वाक्यों में उनके द्वारा भारतीय जनता पार्टी की तरह छिपाए गए एजेन्डे का साफ पता चलता है। यदि किसी के पूर्वज गलत रास्ते तय किए हों, तो अवश्य ही उस रास्ते पर नहीं चलना चाहिए किन्तु धर्मवीर तो अम्बेडकर तथा बुद्ध जैसे महापुरुषों के रास्ते पर चलने की मनाही कर रहे हैं। यही है धर्मवीर का असली गुप्त एजेन्डा। ब्राह्मणों के पूर्वज तथा वर्ण व्यवस्था के संस्थापक हमेशा गलत रास्ते पर सदियों तक चलते रहे किन्तु वे भी यह बात कभी नहीं कहते हैं कि वे अपने पूर्वजों के रास्ते पर नहीं चलेंगे। क्या दलितों को धर्मवीर यह सलाह देना चाहते हैं कि अम्बेडकर तथा बुद्ध के रास्ते को छोड़कर वे नया रास्ता अपनाने के चक्कर में बंगाल की खाड़ी में जाकर गिर जाएँ? धर्मवीर की इस सलाह से ब्राह्मणवाद ही मजबूत होगा। वे बड़ी अज्ञानता के साथ यह सुझाव देते हैं कि अगले दलित चिंतक को डॉ. अम्बेडकर वाले महाड़ सत्याग्रह और कालाराम मन्दिर प्रवेश के लिए आन्दोलन चलाने की जरूरत नहीं है। बाबा साहब अम्बेडकर को यह शौक नहीं था कि वे गन्दे चावदार तालाब के दूषित पानी पीने के लिए महाड़ जैसा सत्याग्रह करें या वे भगवान के दर्शन के लिए इतने उतावले या आस्तिक नहीं थे कि जिसके लिए काला मन्दिर प्रवेश का आन्दोलन छेड़ें। चूंकि दलितों को सवर्णों के पानी को छूने या मन्दिरों में जाने का अधिकार नहीं था, इसलिए मात्र इन अधिकारों को दिलाने के उद्देश्य से डॉ. अम्बेडकर ने यह आन्दोलन चलाया था। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी उपस्थिति में एक बार वेद-मन्त्रोच्चार के साथ 600 दलितों को जनेऊ पहनाया था। उन्होंने दलितों के लिए गणपति पूजा के अधिकार की भी मांग की थी। इसका मतलब यह नहीं था कि डॉ. अम्बेडकर ‘जनेऊ’ के शौकीन थे या गणपति पूजा के। यहाँ भी चूंकि दलितों के ये अधिकार नहीं थे, इसलिए उन्हें उन अधिकारों से लैस करने के लिए बाबा साहब ने वैसा किया था। वह शुद्ध रूप से अधिकारों के लिए एक क्रांतिकारी संघर्ष था न कि पूजा-पाठ। यदि इन अधिकारों से आज पुनः वंचित किया जाता है, तो जिस इतिहास की दुहाई धर्मवीर दे रहे हैं, उसी इतिहास की पुनः मांग होगी की आज के दलित भी बाबा साहब अम्बेडकर की ही तरह महाड़ या काला मन्दिर जैसा आन्दोलन अवश्य

छेड़ें। ऐसे आन्दोलन हिन्दू बनने के लिए नहीं होंगे बल्कि हिन्दुत्व पर चोट करने के लिए, जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने खुद करके दिखा दिया था।

डॉ. अम्बेडकर को मूर्ख बताते हुए धर्मवीर कहते हैं कि यदि उन्हें पता होता कि ऐसे अनुभव रैदास और कबीर पहले कर चुके हैं तो पुनः वही बात दोहराने से उनका समय बच जाता। धर्मवीर को पता होना चाहिए कि डॉ. अम्बेडकर का पूरा खानदार ही कबीरपंथी था तथा उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अनटचेबुल्स' अर्थात् 'अछूत' को जिन तीन महापुरुषों को समर्पित किया था उनमें एक रैदास भी थे। अन्य दो नन्दनार तथा चोखामेला थे। क्या रैदास के बारे में बिना किसी जानकारी के ही डॉ. अम्बेडकर ने अपनी उस महान रचना को उन्हें समर्पित कर दिया था। कबीरपंथी परिवार होने के बावजूद क्या उन्हें कबीर के बारे में जानकारी नहीं थी? हां, इतना जरूर है कि बाबा साहब अम्बेडकर ने रैदास या कबीर पर धर्मवीर की तरह अलग से कोई किताब नहीं लिखी किन्तु उन्होंने जो दस-बीस शब्द यहाँ या वहाँ उनके बारे में लिखा वे किसी पत्थर पर लिखे शिलालेख के समान हैं, जो आने वाली सदियों तक कायम रहेंगे, वहीं धर्मवीर जैसे हीनग्रंथि से ग्रसित लेखकों के मोटे से मोटे पोथन्ने बालू (रेत) या पानी पर लिखे गए शब्दों की तरह शीघ्र ही मिट जाएँगे। डॉ. अम्बेडकर तथा बुद्ध के रास्ते पर चलना दलितों की मुक्ति की प्राथमरी शिक्षा है। बिना इसे पास किए दलितों की दिशा कभी भी सही नहीं होगी किन्तु धर्मवीर जैसे कलाकार दलितों को यह शिक्षा दे रहे हैं कि वे बिना प्राथमरी शिक्षा के ही एम.ए. के इम्तहान में बैठ जाए। जाहिर है ऐसा करने पर असफलता के अलावा कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।

अन्त में धर्मवीर दलितों को उपदेश देते हुए कहते हैं *“अब भावी दलित चिन्तन को हिन्दू धर्म के ग्रंथ पढ़ने और उसकी आलोचना करने की कोई जरूरत नहीं है वह मान ले कि उस कार्य को बाबा साहब अम्बेडकर बहुत अच्छी तरह से कर चुके हैं और वह पर्याप्त है। तभी उसके विचार से विचार निकलेगा अन्यथा सदा की तरह एक पायथागोरस की प्रमेय निकालते रहने से उसका अमूल्य समय नष्ट होता रहेगा।”*

धर्मवीर के पूरे प्रवचन में 'अमूल्य समय नष्ट हो जाएगा-अमूल्य समय नष्ट हो जाएगा' की रट कई बार दोहराई गई है। इससे यही साबित होता है कि वे दलितों का नया इतिहास रचने के लिए अत्यन्त उतावले हैं। वैसे 'हंस' के उक्त लेख लिखकर उन्होंने स्वयं दलितों का बहुत समय नष्ट किया है। जहाँ तक उनके इस सुझाव का संबंध है कि दलित न तो हिन्दू ग्रंथ पढ़ें और न उसकी आलोचना करें। एक तरफ तो, वे इतिहास चिन्तन की रट लगाए हुए हैं, वहीं दूसरी तरफ वे इतिहास को पढ़ने से भी मना कर रहे हैं। साथ ही हिन्दू ग्रन्थों की आलोचना

पर भी प्रतिबन्ध लगा रहे हैं। यह है इस 'महान' इतिहासज्ञ की समझदारी का एक अद्भुत नमूना।

बाबा साहब अम्बेडकर ने कभी भी यह दावा पेश नहीं किया कि हिन्दू ग्रंथों के बारे में उन्होंने सब कुछ कह दिया है इसलिए अब यह काम किसी अन्य दलित को नहीं करना चाहिए। एक तरफ तो धर्मवीर ने पूरे लेख में डॉ. अम्बेडकर को नासमझ साबित करने की कोशिश की है, वहीं दूसरी ओर उनके द्वारा किए गए हिन्दू ग्रंथों के अध्ययन को वे पर्याप्त भी मानते हैं। उनके इस प्रवचन में भी एक छिपा हुआ एजेन्डा है, वह यह कि हिन्दुत्व पर चोट नहीं करनी चाहिए? क्यों हिन्दू ग्रंथों को नहीं पढ़ना चाहिए? बिना इन्हें पढ़े दलित अपने ऊपर ढाए गए सदियों पुराने अत्याचारों की कहानी कैसे समझ सकेंगे। बिना इसे पढ़े दलित कैसे समझ सकेंगे कि ये हिन्दू ग्रंथ अपौरुषेय नहीं हैं तथा वे सीधे भगवान के मुंह से नहीं निकले हैं, बल्कि इन्हें जालसाज ब्राह्मणों ने लिखा था। वे बिना पढ़े कैसे समझ सकेंगे कि ऋग्वेद में धर्म नहीं है, बल्कि खेती करने की विधियां, भांग पीसने तथा शराब बनाने के तरीके एवं गोमांस खाने के प्रमाण सहित मानव के वन्य जीवन की झाकियाँ आदि मिलती हैं। गीता, मनुस्मृति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र तथा रामायण, रामचरित मानस आदि बिना पढ़े कैसे पता चलेगा कि इन सारे ग्रंथों का मूल उद्देश्य वर्ण व्यवस्था को मजबूती से स्थापित करना था। ये हिन्दू ग्रंथ भारतीय समाज के इतिहास का आईना हैं, जिसमें हिन्दू समाज का भद्दा चेहरा साफ-साफ नजर आता है।

इस भद्दे चेहरे की चीड़-फाड़ के लिए इन आईनों में देखना जरूरी है। हिन्दू ग्रंथों को पढ़ने से मना करना हिन्दुत्व के भद्दे चेहरे को सुरक्षित रखने जैसा है। यदि धर्मवीर इस भद्दे चेहरे को सुरक्षित रखना चाहते हैं, तो ऐसा करने के लिए निश्चित रूप से वे स्वतन्त्र हैं किन्तु दलितों के लिए मुफ्त सलाहकार के रूप में अपने को वे क्यों प्रस्तुत कर रहे हैं? अपने इस पूरे प्रलाप में धर्मवीर उस टिटिहिरी नामक चिड़िया की तरह उड़ते हुए नजर आते हैं, जो अपने पैरों को आसमान की ओर करके उल्टे उड़ती है और सोचती जाती है कि जब आसमान टूट कर गिरेगा तो उसे वह अपने पैरों पर रोक लेगी।

महा कारुणिक बुद्ध तथा दलित समाज के उद्धारक बाबा साहब अम्बेडकर पर हमला बोलकर धर्मवीर जैसे दलित ने बालू पेरकर तेल निकालने की कोशिश की है। जाहिर है इस प्रक्रिया में वे थक कर चूर हो जाएँगे किन्तु मृगतृष्णा से वे अपनी प्यास कभी भी नहीं बुझा पाएँगे। हां, इतना जरूर है कि यदि धर्मवीर के इस पुलिन्दे को विश्व हिन्दू परिषद के अध्यक्ष अशोक सिंहल या राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के रज्जू भैया पढ़ लिए होंगे, तो वे इस 'इतिहास चिंतक' के बुद्ध-विरोधी अभियान से मुदित होकर अवश्य ही उनका पता ढूँढ रहे होंगे।

जो बलात्कार के दृश्य पर भी खुशी से सीटी बजाए...

सूर्यनारायण रणसुभे

मार्च 1998 के 'हंस' में 'अभिशप्त चिन्तन से इतिहास चिन्तन की ओर' शीर्षक से डॉ. धर्मवीर का एक लंबा लेख छपा था। इस लेख में दलित चिन्तन के सन्दर्भ में जो विवादास्पद वक्तव्य दिए गए थे, उससे मैं काफी बेचैन हो गया था। डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर तथा म. फुले के जिन विचारों से मेरी पीढ़ी संस्कारित हुई है, उससे डॉ. धर्मवीर का यह चिन्तन अनेक अंतर्विरोधों से भरा हुआ लगा और तब मैंने उनके इस चिन्तन पर बहुत विस्तार से (18 पृष्ठों में) प्रतिक्रिया 'हंस' को लिख भेजी थी। मेरी यह प्रतिक्रिया 'हंस' में छपी तो नहीं, परन्तु श्री राजेंद्र यादव जी ने इस लेख को लौटाते हुए यह लिखा कि इसके संबंध में श्री श्योराज सिंह आपको उत्तर देंगे और फिर यह भी लिखा कि हमें आपस में लड़ना नहीं है। बाद में श्योराज सिंह जी का एक अंतर्देशीय पत्र मुझे मिला कि डॉ. धर्मवीर जन्म से दलित हैं तथा आई.ए.एस. कैंडिडेट हैं। आपने उनके लेख पर जो प्रतिक्रिया दी है, उससे साफ जाहिर है कि आप उन्हें सवर्ण समझकर प्रतिक्रिया दे रहे हैं। उत्तर में मैंने यह लिखा कि मैं डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर जी के विचारों से न केवल प्रभावित हूँ अपितु प्रेरित भी हूँ। उनके विचारों से मैंने यह सीखा है कि महत्त्व किसी व्यक्ति की जाति का नहीं, अपितु उसकी मानसिकता का है। डॉ. धर्मवीर किस जाति के हैं, इससे मुझे कोई मतलब नहीं, मुझे मतलब सिर्फ इस बात से है कि क्या वे 'मनुष्य' को केंद्र में रखकर सोचते हैं अथवा 'जाति' या 'वर्ण' को। उनका संपूर्ण चिन्तन वर्ण तथा जाति-व्यवस्था को मजबूत करने के पक्ष में चला जा रहा है, इसलिए उनका यह तथाकथित इतिहास-चिन्तन अंततः दलितों को कहीं ले जा रहा है, इस पर मैंने प्रश्नचिह्न लगाया था। कोई व्यक्ति जाति से दलित है, इसलिए उसका चिन्तन दलितों के हित के लिए होगा ऐसा मानना वास्तव में मनुष्य-स्वभाव के प्रति नासमझी व्यक्त करना है। खैर, मेरा वह लेख तो छपा नहीं और वह लेख कहीं और छपे, इसके लिए मैंने प्रयत्न भी नहीं किया।

सन् 1998 से 2005 तक डॉ. धर्मवीर जी की कई किताबें बाजार में आईं। उनका नाम बिक रहा है, इसलिए प्रकाशक उन्हें छाप भी रहे हैं। उनके विचारों और विश्लेषणों को लेकर आरंभिक दौर में बुद्धिजीवियों में एक जिज्ञासा हुआ करती थी। विशेषतः कबीर पर उनकी जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही थीं। परन्तु मुझमें वह उत्सुकता इसलिए नहीं थी कि सन् 1998 में छपे उपरोक्त लेख से ही मुझे यह स्पष्ट हुआ था कि डॉ. धर्मवीर डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के उदात्त और मानवीय विचारों से काफी दूर चले गए हैं। डॉ. बाबासाहेब जीवन के अंतिम समय तक एक ऐसा सपना देख रहे थे कि जहाँ 'मनुष्य' मात्र को प्रतिष्ठा प्राप्त हो। धर्म, वर्ण, जाति और लिंग के परे जाकर वे मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध थे। संविधान सभा में दिए गए उनके सभी भाषण इसी बात को प्रमाणित करते हैं। कमजोर वर्ग को अधिकाधिक सुविधाएँ देकर उन्हें सवर्णों के साथ वे खड़ा करना चाहते थे। सवर्णों की मानसिकता में परिवर्तन हो, इसलिए भी वे प्रयत्नशील थे। जाति या वर्ण के दायरे में सोचना उन्हें मनुष्य-विरोधी कृत्य लगता था। यहाँ उनके उस प्रसिद्ध पत्र का जिक्र करना मैं जरूरी समझता हूँ जो उन्होंने चवदार तालाब के पानी के लिए किए गए सत्याग्रह के पूर्व लिखा था। इस सत्याग्रह में कुछ ब्राह्मण भी सम्मिलित हो रहे हैं, यह खबर जब फैली, तब पुणे के दो-तीन बुद्धिजीवियों ने उन्हें पत्र लिखा था कि आप अपने इस आंदोलन में ब्राह्मण को क्यों सम्मिलित कर रहे हैं? अगर वे हैं तो हम नहीं आएँगे। तब बाबासाहेब ने उत्तर दिया था कि मेरा संघर्ष 'ब्राह्मण' के साथ नहीं है, उस मानसिकता के साथ है जो मनुष्य को बांट कर सोचती है। मेरे समतावादी विचारों को जो भी मानता है, उसे मैं अपने साथ लूंगा। ठीक कबीर की तरह *'जो घर जारे आपना, चले हमारे साथ।'* इसके अलावा उनके जीवन की कई ऐसी घटनाओं को उद्धृत किया जा सकता है, जहाँ उन्होंने वर्ण और जाति को नकार कर केवल मनुष्य मात्र को महत्व दिया है। वे किसी भी वर्ण, जाति के पक्ष में खड़े नहीं थे। वे दलित-मुक्ति को मानव-मुक्ति की लड़ाई मानते थे। उनके निकटस्थ मित्रों में महाराष्ट्र के दर्जनों सवर्ण थे। वास्तव में उन्हें सवर्ण कहना भी उनको अपमानित करना है। वे सब मनुष्यता के लिए जारी एक लड़ाई में डॉ. बाबासाहेब के साथ खड़े थे। प्रश्न इतना ही है कि डॉ. धर्मवीर मानव-मुक्ति की इस लड़ाई में कहाँ खड़े हैं? एक तबके के हितों की बात करते-करते वे समाज के अन्य तबकों के प्रति द्वेष, तिरस्कार, नफरत फैला रहे हैं, तो बाकी कुछ भी हो, वे डॉ. अम्बेडकर जी के विचारों के अनुयायी नहीं हो सकते। गौतम बुद्ध के शील और करुणा, उदात्तता और व्यापकता को लेकर ही मनुष्य मात्र की यह लड़ाई लड़ी जा सकती है और यही अम्बेडकर कर रहे थे। वास्तव में डॉ. धर्मवीर पग-पग पर डॉ. अम्बेडकर जी को नकार रहे

हैं। डॉ. अम्बेडकर जी का यह विश्वास था कि वर्ण और जातिविहीन समाज का होना संभव है और अपने इसी विश्वास को साकार करने के लिए डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं भी अंतर्जातीय विवाह किया। इसके विपरीत डॉ. धर्मवीर लगातार दोहराते जा रहे हैं कि जातियाँ कभी नष्ट होनेवाली नहीं हैं। वर्ण और जातियों में मनुष्य का जो बंटवारा हुआ, उसका इतिहास काफी पुराना है। बंटवारे की इस प्रक्रिया को अगर एक हजार वर्ष का समय लगा हो तो, उसको तोड़ने की प्रक्रिया भी लंबी ही होगी। बनने में अगर हजार वर्ष लगे हों तो तोड़ने के लिए पचास-सौ वर्ष तो लगेंगे ही। जातियाँ शाश्वत हैं, वे कभी खत्म होनेवाली नहीं हैं यह तो हिन्दू शास्त्रों की स्थापना है। मनु ने भी यही कहा था। इसी स्थापना का प्रतिपादन डॉ. धर्मवीर कर रहे हैं। दूसरी ओर डॉ. बाबासाहेब *Inhilation of Caste* में यह प्रमाणित कर रहे हैं कि जातियाँ नष्ट की जा सकती हैं।

एक ओर डॉ. अम्बेडकर जी अपने अनुयायियों से कह रहे हैं कि दलितत्व को मिटाकर, गैर दलितों के साथ ससम्मान तुम्हें खड़ा होना है। दलित मानसिकता से बाहर निकलना है। इसके लिए अपनी गुणवत्ता को तुम्हें प्रमाणित करना है। गुणवत्ता प्राप्त कर के लिए व्यवस्था तुम्हें विशेष सहूलियतें देगी। उनका लाभ उठाकर तुम्हें उनके साथ-साथ चलना है। दूसरी ओर डॉ. धर्मवीर दलितों को कह रहे हैं कि जातियाँ नष्ट नहीं होनेवाली हैं, तुम्हें अपने खोल के भीतर ही रहना चाहिए। अन्य जातियों से संपर्क टालो। अंतर्जातीय विवाह तो कतई मत करो। वह तो जारकर्म है। डॉ. बाबासाहेब ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया, इसके मूल में हिन्दू धर्म की सनातनी वृत्ति जितनी कारणीभूत थी, उतनी ही या उससे भी बढ़कर बौद्ध धम्म द्वारा स्थापित जीवन मूल्य थे। समता, बंधुता, करुणा, अहिंसा और शील की ओर वे न केवल आकृष्ट थे, अपितु उनके लिए समर्पित भी थे। बौद्ध धम्म से ही मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त कर सकता है, इस पर उनका दृढ़ विश्वास था। दूसरी ओर डॉ. धर्मवीर कह रहे हैं कि हम बुद्ध को नकारते हैं क्योंकि वे अंततः क्षत्रिय कुल में जन्मे थे। डॉ. बाबासाहेब ने अपने कार्यकाल में जो मित्र बनाए, उनकी उन्होंने कभी जाति नहीं देखी, देखा उनका आचरण, उनकी सहज मानवीयता। डॉ. धर्मवीर पहले जाति या वर्ण का पता लगाते हैं और बाद में बहस करते हैं। यह वृत्ति तो इस देश के ब्राह्मणों की, सवर्णों की रही है। यही उनकी मानसिकता है। सामने का व्यक्ति अपनी जाति का हो तो ही वे संवाद स्थापित करते हैं अन्यथा उसे विजातीय घोषित करते हुए उसकी प्रगति में बाधाएँ खड़ी करते हैं, उसका सामाजिक बहिष्कार करते हैं क्योंकि वे अपने खोल के बाहर आकर संपर्क नहीं चाहते। डॉ. धर्मवीर भी यही कर रहे हैं और इसी कारण वे डॉ. बाबासाहेब के विचारों से कोसों दूर चले गए हैं। वे नाम तो बाबासाहेब का ले रहे हैं, संभवतः बाबासाहेब द्वारा

प्रदत्त संवैधानिक फायदे भी वे ले रहे हैं परन्तु उनका चिन्तन पूर्णतः बाबासाहब के विचारों के विरोध में जा रहा है। केवल विरोध में जाता तो भी कोई हैरानी की बात नहीं थी क्योंकि वे ऐसा करते तो शायद बाबासाहब के विचारों को चार कदम आगे ले जाते। परन्तु उनका संपूर्ण चिन्तन वर्ण तथा जाति-व्यवस्था के समर्थकों के पक्ष में चला जा रहा है। दलित हो या स्त्री इन दोनों इकाइयों को लेकर वे जो भी लिख रहे हैं, वह मनुस्मृति के समर्थकों के निकट चला जा रहा है।

(2)

डॉ. धर्मवीर इन दिनों प्रेमचंद को कटघरे में खड़े करके उन पर अनेक आरोप लाद रहे हैं। यह एक विचित्र-सी स्थिति है कि जो चिंतक, लेखक, महापुरुष, दलित, श्रमिक, पीड़ित, व्यथित के पक्ष में खड़ा हो जाता है, डॉ. धर्मवीर उसे आरोपों के कटघरे में खड़ा कर देते हैं। चाहे वह गौतम बुद्ध हो या गांधी, मार्क्स, प्रेमचंद अथवा निराला। संभवतः कुछ दिनों बाद वे डॉ. अम्बेडकर जी को भी कटघरे में खड़ा कर देंगे। इन दिनों वे यह नहीं कर पा रहे हैं, यह उनकी मजबूरी है क्योंकि वे आज जहाँ हैं, वहाँ वे डॉ. बाबासाहब के कृतित्व के कारण ही पहुँचे हैं। प्रेमचंद पर लिखी पूरी पुस्तक में एक ही बात को वे पचासों बार दुहरा रहे हैं कि प्रेमचंद की एक रखैल थी, वे जारकर्म में लिप्त थे। ऐसा व्यक्ति दलित, व्यथित का हमदर्द हो ही नहीं सकता। अगर शिवरानी देवी यह एक वाक्य न लिखती तो डॉ. धर्मवीर प्रेमचंद को लेकर कैसे टूट पड़ते, यह प्रश्न ही है। इस देश के राजनीतिज्ञ जिस प्रकार किसी नॉन इश्यू को लेकर लोगों को भड़काते हैं, वैसी ही यह नीति भी है। सवाल यह नहीं है कि प्रेमचंद एक पत्नीव्रत थे या नहीं, उनकी रखैल थी या नहीं, सवाल यह है कि प्रेमचंद के साहित्य को पढ़कर पाठक क्या अनुभव करता है? विश्व के किसी भी लेखक की पहचान उसका व्यक्तिगत जीवन नहीं होती अपितु अपने पाठकों को वह किन मूल्यों से जोड़ता है, उससे होती है। मराठी के प्रसिद्ध दलित लेखक दया पवार ने कभी यह खुलेआम कहा था “अगर मराठी में प्रेमचंद जैसा लेखक होता, तो मराठी में दलित साहित्य का विस्फोट ही नहीं होता।” एक दलित लेखक द्वारा प्रेमचंद को दिया गया यह सबसे बड़ा सम्मान है।

किसी भी लेखक की रचनाएँ पाठकों तक कैसे पहुँचती हैं, पाठक उनको किस रूप में लेता है, वह रचना पाठक के मन में कौन-सी प्रतिक्रिया पैदा करती है, इस पर उस लेखक की संवेदना की परीक्षा होती है। प्रेमचंद की ‘कफन’ कहानी पढ़कर डॉ. धर्मवीर जो अनुभव कर रहे हैं, क्या वैसा ही अनुभव विश्वभर के तमाम पाठक कर रहे हैं? यह पहला प्रश्न! इस देश के जो संवेदनशील दलित हैं, उन्होंने जब प्रेमचंद को पढ़ा, तब उन्होंने क्या अनुभव किया? उन्होंने अगर यह अनुभव

किया होगा कि यह तो हमारे ही दर्द का बयान कर रहे हैं, तब बात वहीं पूरी हो गई। किसी गंभीर सिनेमा में किसी असहाय स्त्री पर होनेवाले बलात्कार के दृश्य से सिनेमा हॉल में उपस्थित सभी प्रेक्षक सुन्न हुए जा रहे हैं, बलात्कार करने वाले के प्रति उनके मन में भयंकर चिढ़ पैदा हो गई है, पूरा वातावरण गमगीन और गंभीर है, ऐसे समय उसी हॉल में बैठा हुआ कोई दर्शक उस बलात्कार का मजा ले रहा हो, अपनी खुशी को सीटी बजाकर व्यक्त कर रहा हो, तो उसकी ओर अन्य प्रेक्षक जिस दृष्टि से देखते हैं, कुछ इसी प्रकार मैं डॉ. धर्मवीर के 'कफन' कहानी की विवेचना की ओर तथा प्रेमचंद के व्यक्तित्व विश्लेषण की ओर देख रहा हूँ।

इस देश के लाखों पाठकों के मन में, चाहे वह सर्वर्ण हो या दलित प्रेमचंद को पढ़कर अगर वर्ण तथा जाति-व्यवस्था के प्रति आकर्षण पैदा हुआ होगा, सामंती व्यवस्था के समर्थन में उनकी मानसिकता तैयार हुई होगी तो डॉ. धर्मवीर के आरोपों में दम है, ऐसा कहना होगा। परन्तु वास्तविकता क्या है? लेखक अपना व्यक्तिगत जीवन किस प्रकार जीता है, यह बात तो व्यक्तिगत होती है, वह लेखक की मृत्यु के बाद समाप्त हो जाती है। वह लेखक अपनी रचनाओं द्वारा जिन मूल्यों को स्थापित करता है, वे मूल्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे पहुँचते जाते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों में सामंती व्यवस्था की क्रूरता, अमानवीयता व्यक्त हुई है। इन्हें पढ़कर उस व्यवस्था के प्रति चिढ़ पैदा होती है। पाठक के भीतर एक नयी सोच की शुरुआत हो जाती है, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ अपितु पिछले सात-आठ दशकों से प्रेमचंद को पढ़ने वाले पाठकों ने इसे रेखांकित किया है। किसी अपवादात्मक व्यक्ति को अगर प्रेमचंद का जारकर्म ही बार-बार याद आता हो तो यह उसकी अपनी मानसिक विकृति है, उसकी अपनी सोच है। मराठी के एक कवि की बड़ी सुंदर पंक्ति है *'विश्वाचा आकार केवढा, ज्याच्या त्याच्या डोक्या एवढा'* अर्थात् *'विश्व का आकार कितना, जिसके उसके सिर के उतना।'* जिनकी सोच ही जारकर्म तक सीमित है, वे तो हर स्थान पर जारकर्म ही देखेंगे।

व्यक्ति के आचरण का महत्व तो होता ही है। यह प्रत्येक के लिए संभव नहीं है कि वह अपनी कथनी-करनी के अंतर को पाट सके। करनी के मूल में कई मजबूरियाँ भी होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने समय के साथ गहरे रूप से जुड़ा होता है। उस काल की बुराइयों से भी वह जुड़ा होता है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार इन बंधनों से, बुराइयों से जुड़े होने के बावजूद, वह किस प्रकार की सोच रखता है, किस प्रकार के सपने देखता है, किस प्रकार के सपने आने वाली पीढ़ी को देता है। विशेषतः एक रचनाकार से यह उम्मीद की जाती है कि वह आनेवाली पीढ़ी को उन खतरों से आगाह करे, जिनका वह कभी शिकार हो चुका था। शराबी पिता को इस बात का अहसास हो चुका है कि वह शराब से बुरी तरह से जुड़ा

गया है। उससे बाहर निकलना मुश्किल है। ऐसे समय वह अपने बेटे से क्या कहेगा? प्रेमचंद अपने युग की बुराइयों से जुड़े हुए थे, यह उनकी सीमा थी। परन्तु वे अपने पाठकों को कौन से मूल्य दे रहे थे? सामंती मूल्य अथवा समता, बंधुता, सामाजिक न्याय, विवेक के मूल्य? एक आम पाठक उनकी कहानियों को पढ़कर क्या अनुभव करता है? प्रत्येक समाज में, प्रत्येक काल में अनेक बुरी बातें, मनुष्य-विरोधी, स्त्री-विरोधी घटनाएँ घटित होती रहती हैं। बात तब भयावह हो जाती है, जब इनके समर्थन में कोई दर्शन खड़ा किया जाता है। ऐसा दर्शन जो ऐसे कुकृत्य करनेवालों को नैतिक हिम्मत प्रदान करने लगता है। इस प्रकार का दर्शन मनुस्मृति द्वारा तैयार किया गया था, जिसके भयावह परिणाम इस देश के एक बहुत बड़े तबके ने सहे। ऐसा दर्शन ही समाज की प्रतिभा को, ऊर्जा को खत्म कर देता है। इसके विरोध में जनजागरण की जरूरत होती है। उन मूल्यों को फिर से स्थापित करना पड़ता है, जिनके विरोध में शास्त्र और स्मृतियाँ खड़ी हैं। मनुष्य मात्र से जिनकी प्रतिबद्धता होती है, वे अपने तर्क इसका विरोध करने लगते हैं। म. गौतम बुद्ध, म. कबीर, म. जोतिबा फुले और डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर इस मनुष्य-विरोधी व्यवस्था के खिलाफ जनमत संगठित कर रहे थे। यह मनुष्य की स्थापना की लड़ाई है इसलिए मनुष्य के नाते प्रत्येक की जिम्मेदारी है कि इस लड़ाई को अधिक तीव्र बनाए। जिनके हित-संबंध खतरे में आ जाते हैं, वे इस लड़ाई को भोथरा बनाने की पूरी कोशिश करेंगे। मनुष्य मात्र के लिए अलग-अलग मोर्चे पर लड़ना होगा। यह लड़ाई मनुष्य-विरोधी मानसिकता के विरुद्ध है। किसी वर्ण या जाति के विरोध में नहीं। प्रेमचंद इस लड़ाई को रचनात्मक स्तर पर ले गए। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने इस मनुष्य-विरोधी व्यवस्था का पर्दाफाश किया। स्वयं मनुष्य-विरोधी व्यवस्था में जीते हुए, वे यह लड़ाई लड़ रहे थे।

(3)

प्रेमचंद सचमुच सामंत के मुंशी थे या इस देश के दलित-पीड़ितों के मुंशी थे, इस पर अपनी राय देने के पूर्व डॉ. धर्मवीर प्रेमचंद के पाठकों का एक सर्वे ले लें तो यह प्रमाणित हो जाएगा कि प्रेमचंद आखिर थे किसके? अगर वे यह तर्क दे रहे हों कि पाठक की समझ ही ठीक नहीं है, तो फिर उनसे बहस ही बेकार है क्योंकि किसी भी लेखक की रचनाओं पर अंतिम निर्णय संवेदनशील पाठक ही दे सकता है। ऐसा पाठक जो सभी पूर्वग्रहों से मुक्त होकर रचना को पढ़ता हो ऐसा पाठक जो लेखक की न जाति जानता हो, न धर्म, न उसका जारकर्म। पाठक जो लेखक की रचनाओं में स्थित जीवंत पात्रों के साथ मानवीय धरातल पर जुड़ता हो और ऐसे ही पाठकों की संख्या अधिक होती है। मराठी के एक सन्त कवि श्री तुकाराम

अपने काल के विद्रोही कवि थे। वे वर्ण, जाति-व्यवस्था और शोषण के खिलाफ आक्रामक मुद्रा में थे। उन दिनों उनके विरोध में कुछ लोग थे ही। ऐसे समीक्षक, जो तुकाराम के तेज को सह नहीं पा रहे थे, ने तुकाराम की गाथा को उनकी कविता को नदी में डुबो दिया। जनश्रुति कहती है कि नदी ने उस काव्यग्रन्थ को अपने भीतर नहीं लिया अपितु उसे पानी की सतह पर तैरता रखा। तात्पर्य है कि दो-चार तथाकथित समीक्षकों के कारण किसी रचनाकार की रचनाओं का महत्व नष्ट नहीं होता अपितु 'जन' उसे अपने भीतर सुरक्षित रखता है।

मैं हिंदीतर भाषी हूँ मराठी भाषी। हिंदी प्रदेश से काफी दूर। एक पाठक के नाते मैं बहुत खुशनसीब हूँ कि मैं हिंदी के अनेक लेखकों की जातियाँ नहीं जानता। बावजूद इसके उनकी रचनाएँ मुझे भीतर से परेशान करती हैं। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से कुछ तथाकथित समीक्षकों की कृपा से हिंदी के लेखकों की जातियों का पता चल रहा है। प्रेमचंद किस जाति के थे, इसका पता इस देश के लाखों पाठकों को नहीं था, नहीं है। उनकी रखैल भी थी, इसका भी पता इन पाठकों को नहीं है। बावजूद इसके उनकी रचनाओं में व्यक्त यातना से ये पाठक सहज रूप से जुड़ जाते हैं। डॉ. धर्मवीर की दिक्कत यह है कि वे लेखक की जाति व वर्ण जाने बगैर उस पर अपनी प्रतिक्रिया ही नहीं दे सकते। जाति या वर्ण जाने बगैर उस लेखक की रचनाओं में व्यक्त संवेदना के स्वरूप को महसूस किया जा सकता है। गुरुदत्त की जाति मुझे नहीं मालूम, परन्तु उनके उपन्यासों में मुस्लिमों के प्रति जो ज़हर भरा हुआ है, उसको तो मैं महसूस कर सकता हूँ। ठीक इसी प्रकार प्रेमचंद की जाति जाने बगैर मैं प्रेमचंद की रचनाओं में व्यक्त दलितों की व्यथा-कथा को महसूस कर सकता हूँ। उन रचनाओं को पढ़कर मैं बैचैनी अनुभव करता हूँ। उस मनुष्य-विरोधी व्यवस्था के प्रति मेरे मन में चिढ़ पैदा हो जाती है। मुझे इससे कोई मतलब नहीं कि प्रेमचंद की जाति क्या थी? उनका कितनी स्त्रियों से संबंध था? उनकी रचनाओं में स्त्री के प्रति जो आदर और सम्मान की भावना व्यक्त हुई है, उसे तो प्रत्येक पाठक अनुभव करता है।

अरबी भाषा में एक कहावत है “उन्जुर मा काल-ला तंजुर मन काल” इसका अर्थ है कि देखिए कि क्या कहा गया है, यह नहीं कि किसने कहा है? “महत्व इसका है कि क्या कहा गया है, इसका नहीं कि किसने कहा है?” मुश्किल यह है कि डॉ. धर्मवीर सिर्फ यह देख रहे हैं कि किसने कहा है और उसके संबंध कितनी स्त्रियों के साथ है? एक ‘नॉन इश्यू’ को लाकर वे मुख्य इश्यू को हाशिए में डालना चाहते हैं। यहाँ के हिन्दुत्ववादियों की यही तो चाल रही। सैकड़ों वर्षों से वे ‘नॉन इश्यू’ को ही केंद्र में रख रहे थे। ‘मोक्ष’, ‘मुक्ति’, ‘श्राद्ध’ तथा अन्य कर्मकांड! धर्म के नाम पर इसी को उन्होंने केंद्र में रखा। जो सोचने वाला वर्ग था, उसके दिमाग

में 'नॉन इश्यू' इतने भर दिए कि वह यह भूल ही गया कि उसे किससे लड़ना है। प्रेमचंद के संपूर्ण साहित्य को हाशिए में डालकर वे इसी बात की चर्चा में लगे हैं कि प्रेमचंद ने रखैल क्यों रखी थी। प्रेमचंद ने शिवरानी जी से सिर्फ इतना कहा था कि वे उससे प्रामाणिक नहीं थे। जीवन के अंतिम समय में ही क्यों न हो, वे यह स्वीकार कर रहे थे कि उनसे यह अपराध हुआ है। केवल इस एक वाक्य के आधार पर डॉ. धर्मवीर ने कल्पना के इतने महल बनाए हैं कि उससे वे बाहर ही नहीं निकलते। औरों के व्यक्तिगत जीवन में इतनी रुचि लेना और उसे बार-बार दुहराते जाना यह कौन-सी संस्कृति है, पता नहीं।

'प्रेमचंद घर में' शिवरानी जी की इस पुस्तक में एक और प्रसंग है, जिसका विस्तार अपेक्षित था। परन्तु डॉ. धर्मवीर उसका उल्लेख तक नहीं करते क्योंकि वह प्रसंग उनके अपने विरोध में जानेवाला है। प्रेमचंद मृत्यु के निकट आ गए हैं, इसका अहसास होने पर शिवरानी जी उनसे कहती हैं कि अब तो राम का नाम लो। तब प्रेमचंद ने राम के बजाय इस देश के दलित, शोषित, किसान के प्रति अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की है। मौत निकट आने के बाद भी जो व्यक्ति अपनी प्रतिबद्धता से जुड़ा हो, जो शोषितों के प्रति अपनी चिंता व्यक्त करता हो, वह सामंतों का मुंशी कैसे बन सकता है? प्रेमचंद के काल में और उसके बाद सन् 1950-55 तक हिंदी के ब्राह्मणवादी समीक्षक प्रेमचंद को विजातीय कहकर उनके योगदान को नकारते रहे। इनमें डॉ. रमाशंकर शुक्ल रसाल प्रमुख थे। सन् 1964 में इलाहाबाद में हुई एक गोष्ठी में जब प्रेमचंद के योगदान को, शोषितों के प्रति उनकी प्रतिबद्धता को नकारा जा रहा था (यह कितनी विचित्र विसंगति है कि कुछ उसी टोन में आज डॉ. धर्मवीर भी प्रेमचंद को नकार रहे हैं। इस अर्थ में वे किनके साथ खड़े हैं यह स्पष्ट है।) केरल के प्रो. चंद्रहासन मंच पर आए और उन्होंने कहा था कि "अगर प्रेमचंद को आप लेखक नहीं मानते तो हम हिंदीतर प्रदेश के लोग आज से हिंदी को अलविदा कहना चाहेंगे।"

(4)

किसी दलित लेखक का दलित चिन्तन हो या हिंदी के किसी लेखक-लेखिका के लेखन का विश्लेषण वे चिन्तन के मूल केंद्र अथवा लेखक की मूल संवेदना से हटकर, संबंधित व्यक्ति की जाति को अपना लक्ष्य बनाते हैं। यह सही है कि हिन्दू धर्म के संस्कारों में पला-बढ़ा व्यक्ति वर्ण या जाति के संकुचित दायरे में ही जीता रहता है। इसका असर उसकी सोच पर, चिन्तन पर, संवेदना पर होता है। बावजूद इसके मनुष्य के प्रति अपनी प्रतिबद्धता की चाह रखने वाला व्यक्ति इस दायरे से बाहर निकलने की भी पूरी कोशिश करता रहता है। ऐसे भयावह

अंतर्द्वंद्वों से वह जिंदगीभर जुझते रहता है। आचरण के स्तर पर वह अनेक समझौते कर लेता है परन्तु वैचारिक स्तर पर अथवा संवेदना की अभिव्यक्ति के स्तर पर वह ऐसे समझौते नहीं करता, इसी कारण उसकी कथनी और करनी में अंतर होता है। परिवर्तन की प्रक्रिया से जो लोग जुड़े हैं, वे यह जानते हैं कि शुरुआती दौर में परिवर्तन वैचारिक स्तर पर होता है, धीरे-धीरे यह परिवर्तन आचरण के स्तर पर आने लगता है। नवजागरण काल के बाद, विशेषतः म. फुले और अम्बेडकर जी के विचारों से जुड़ने के बाद, या कहें, संवैधानिक व्यवस्था लागू हो जाने के बाद यहाँ का सनातनी और दलित समाज संक्रमण की स्थिति से गुजर रहा है। सामंती मूल्य व्यवस्था से जुड़ने के बावजूद उससे बाहर निकलने के स्वप्न वह देख रहा है यही क्या कम है!

(5)

डॉ. धर्मवीर के चिन्तन और विश्लेषण से गुजरते हुए बहुत तीव्रता से मैं यह अनुभव करता रहा कि उनका चिन्तन और विश्लेषण डॉ. बाबासाहब के चिन्तन के ठीक विरोध में जा रहा है। पवित्रता का आग्रह, बौद्ध धर्म का विरोध, जाति और वर्ण व्यवस्था की शाश्वतता ये ऐसी इकाइयाँ हैं, जिनके समर्थन में यहाँ का शास्त्र और सनातनी हिन्दू मानसिकता क्रियाशील है।

ऐसे लेखन की चर्चा यदि हिंदी की सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में हो रही है और डॉ. धर्मवीर खुश हैं कि उनके एक-एक लेख पर चालीस-पचास विद्वान कलम घसीट रहे हैं तो वास्तव में यह सवर्णों का षड्यंत्र है कि वे धर्मवीर जैसों को उछालते रहें।

हिंदी के दलित बुद्धिजीवी, संवेदनशील लेखक तथा सभी वर्ग-वर्ण के स्त्री-पुरुषों को अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि ऐसे दलित लेखक डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर जी के विचारों के विरोध में पूरी ताकत के साथ लड़ रहे हैं। फर्क इतना ही है कि उन्होंने मुखौटा तो डॉ. अम्बेडकर जी के विचारों का धारण किया है, परन्तु उनका असली चेहरा सामंती, प्रतिक्रियावादी और अम्बेडकर विरोधी है।

जारकर्म के 'वास्कोडिगामा'

श्रीधरम

डॉ. धर्मवीर इन दिनों सदाचार के ताबीज बांटने में लगे हुए हैं। आजकल वह 'जित देखी तित जारमयी' का नारा जोर-जोर से उछाल रहे हैं। प्रश्न उठता है कि स्वयं धर्मवीर का यह सदाचारी ताबीज कितना शुद्ध है। खुद को सुखियों में रखने का यह सबसे सरल तरीका होता है कि किसी मुद्दे को सांप्रदायिक या जातिवादी रूप देकर जनता को गुमराह किया जाए और अपनी तरफ लोगों का ध्यान खींचा जाए। मेरे गांव में एक सूदखोर है। उसके अधिकतर रुपये गरीब मुसलमान-टोले में सूद पर लगे हैं। जब कोई मजबूर मुसलमान समय पर सूद नहीं दे पाता है तो वह एक ही रात में यह बात गांव भर में फैला देता है कि 'रात में मजीद मियाँ (सूद पर रुपये लेने वाले व्यक्ति) ने मेरे सामने ही गाय को काट दिया।' इसके बाद की स्थिति का अंदाजा लगाया जा सकता है। डॉ. धर्मवीर की स्थिति भी कुछ उसी सूदखोर की तरह है। टाडा और पोटा का दुरुपयोग हम देख ही चुके हैं। अब धर्मवीर के हाथ में भी दलितवादी तलवार है। वह दलित-दलित चिल्लाकर किसी की भी मां-बहन एक कर सकते हैं, चाहे प्रेमचंद हों या फिर दलित स्त्री विमल थोरात और अनिता भारती। दरअसल इस बहस की शुरुआत 'कथादेश' के जनवरी और फरवरी-2003 के अंक में छपे वरिष्ठ आलोचक पुरुषोत्तम अग्रवाल और बजरंग बिहारी तिवारी के लेख से हुई थी। जिसके बाद लेखिकाओं ने धर्मवीर जी की तालिबानी दृष्टि का विरोध किया था। उसके बाद से ही डॉ. धर्मवीर कुतर्क की चरम सीमा पर जाकर दलित स्त्रियों को गरिया रहे हैं।

अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' में धर्मवीर का मुख्य निष्कर्ष है कि प्रेमचंद कायस्थ थे इसलिए उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह दलित विरोधी है। धर्मवीर को इस बात का भी 'इलहाम' हो गया है कि 'कफन' कहानी में बुधिया के पेट में जमींदार का बच्चा था जिसे प्रेमचंद ने छुपा लिया, इसीलिए घीसू-माधव ने उसे मरने के लिए छोड़ दिया।' नैतिकता के प्रचंड जोत धर्मवीर जी का यह भी आरोप है कि प्रेमचंद खेल रखते थे इसीलिए वे अनैतिक थे और अनैतिक व्यक्ति का साहित्य प्रामाणिक नहीं हो सकता। कायस्थ जाति की उत्पत्ति पर विचार

करते हुए उन्होंने लिखा है “ब्राह्मण ने कायस्थ को शूद्र संबोधित किया है और कायस्थ ने भी हमेशा ब्राह्मणों को चुनौती दी है। कायस्थ की मूल विचारधारा ब्राह्मण विरोधी है।” अगर यह सच है तो सोचनीय मुद्दा यह है कि भविष्य में सरकार द्वारा अगर कहीं कायस्थ जाति को पिछड़ी जाति में शामिल कर लिया गया तो धर्मवीर प्रेमचंद को कहाँ रखेंगे? बहरहाल, यहाँ मेरा उद्देश्य इस बात की पड़ताल करना है कि जार-दर्शन-प्रवर्तक डॉ. धर्मवीर का खुद जार-कर्म से क्या संबंध रहा है और इस पर उनके क्या विचार रहे हैं।

रमणिका गुप्ता ने हंस (नवंबर-2005) में उनसे एक प्रश्न पूछा है। वह लिखती हैं “क्या आप (डॉ. धर्मवीर) छाती पर हाथ रखकर कह सकते हैं कि आपकी रखैल नहीं थी?”

यह बात कुछ अटपटी-सी लगती है कि जारदर्शन के ‘वास्कोडिगामा’ पर रमणिका गुप्ता ने बिना सबूत के यह आरोप कैसे लगा दिया कि वह भी जारकर्मी हैं और रखैल रखते थे अथवा रखते हैं? जबकि वास्कोडिगामा जी ने प्रेमचंद पर यह तर्कहीन आरोप लगाया है कि जिसके “जीवन में मोरल का नाम नहीं तो साहित्य में अब्बल का दर्जा कैसे मिल जाएगा? साहित्य में सबकुछ नाटक और ड्रामे नहीं चल सकते। इसका जीवन से संबंध जुड़ता है और जीवन का संबंध जुड़ता है मोरल से।” इस कसौटी को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि लगे हाथ अपने सन्त जी की ‘मोरलिटी’ की भी थोड़ी जांच कर ली जाए।

डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचंद के जार-कर्म को साबित करने के लिए ‘प्रेमचंद : घर में’ किताब से वह उद्धरण लिया है जिसमें वह अपने आखिरी दिनों में शिवरानी देवी से कहते हैं कि “मैंने अपनी पहली पत्नी के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने पर भी उससे मेरा संबंध था।” चलो प्रेमचंद ने कम से कम सच बोलकर अपनी ईमानदारी तो दिखा दी और धर्मवीर...? मेरी इतनी हिम्मत नहीं है कि मैं यहाँ ब्राह्मणवादी तुलसी की पंक्ति... ‘जाकी रही भावना जैसी’ उद्धृत करूँ। क्योंकि यह व्यक्तिगत मामला है। पर तब क्या किया जाए जब वास्कोडिगामा जी बार-बार ‘पर्सनल इज पालिटिकल’ चिल्ला रहे हों? इसीलिए यहाँ रमणिका गुप्ता के कथन पर भी विचार करने की जरूरत है।

मेरे पास डॉ. धर्मवीर जी का एक पत्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पत्र उन्होंने अपनी पत्नी को लिखा था, जिसमें दाम्पत्य बचाने की जिम्मेवारी पत्नी पर छोड़ी गई है। संयोग से इस पत्र की ऐतिहासिकता नष्ट करने के लिए उसे लेख की शक्ति देने की चालाकी की गई है। पर अपराधी कितनी भी सावधानी क्यों न बरते अनुसंधानकर्ता के लिए वह कुछ ऐसी गलती छोड़ ही जाता है, जिसके सहारे वह पकड़ में आ जाता है। अब सीधे मुद्दे की बात। पत्रकार राजकिशोर के

संपादन में एक किताब छपी थी 'स्त्री, परंपरा और आधुनिकता'। इस पुस्तक के पृ. 94 पर धर्मवीर जी का एक तथाकथित लेख छपा है 'झूठ पर खड़ी इमारत'। दरअसल यह लेख वह कुंजी है जिसके सहारे 'हिन्दी की आत्मा' लिखने वाले और 'सीमन्तनी उपदेश' खोजने वाले धर्मवीर की पतनगाथा को समझा जा सकता है। यह लेख जैसा कि पहले कहा गया, पत्नी को लिखा गया धर्मवीर नामक पति का पत्र है जिसमें परिवार, सेक्स और सन्तान की दार्शनिक व्याख्या करते हुए अपने जारकर्म को जायज ठहराने की कोशिश की गई है। निम्न पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह लेख पहले पत्र था

1. सोच रहा हूँ कि हिन्दुस्तानी परिवार के बारे में तुम्हें इससे कुछ अधिक बताना चाहिए (पृ. 96)
2. तुम कल्पना कर सकती हो कि एक पुरुष है। (पृ. 103)
3. जब परिवार के तीनों पक्ष अपना भौतिक काम सही-सही कर रहे हों तब सेक्स और अध्यात्म के बारे में सोचकर देखो... (पृ. 105)
4. यदि सेक्स को धार्मिक और दैवी दृष्टि की पवित्र क्रिया मानकर चलने से और फिर उसमें पवित्रता के मानवीय आधार पर खंडित हो जाने से 30 वर्षों की गृहस्थी एकाएक टूट जाती है... (पृ. 100)
5. ...और सबसे पहले तुम्हीं मेरी विरोधी बन सकती हो। लेकिन इस पत्र में इस बारे में इससे ज्यादा और कुछ नहीं कह सकूंगा। अभी इस प्रकरण को इतना पढ़कर तुम अपनी शंकाएँ पैदा करो। उन सारी शंकाओं को मुझे बताओ। फिर मैं इस विषय पर अपनी पहली किताबों की तरह अलग से एक पूरी किताब लिखूंगा। विस्तार के साथ-साथ मैं उसमें खुद भी विकसित होऊंगा और आवश्यकता पड़ी तो जिम्मेदारी के ढंग से परिवर्तित भी होता रहूंगा। (वही)
6. हे भगवान, मेरी गलती बता। मैंने कोई गलती नहीं की। मेरा कोई अपराध नहीं है। फिर भी पिछले पांच वर्षों में मेरा परिवार मेरे साथ क्यों नहीं चला? (वही, पृ. 103)

अब यह कहने की जरूरत नहीं है कि यह पत्र किसी स्त्री को लिखा गया है और वह स्त्री कोई प्रेमिका या दोस्त नहीं एक पत्नी है। क्योंकि इस पूरे पत्र में जारकर्म अर्थात् पुरुष के अवैध सेक्स संबंध को मानवीय भूल बताते हुए परिवार और 30 वर्षों की गृहस्थी को बचाने की गुहार की गई है। यहाँ गौरतलब है कि वह कौन-सा मुद्दा है जिसके कारण पत्र-लेखक खुद विकसित होने और जिम्मेदारी के ढंग से परिवर्तित होने की बात करता है? प्रश्न उठता है कि क्या इस लेखक का जारकर्म से कोई रिश्ता रहा है?

इस पूरे लेख को पढ़ने के बाद यह महसूस किया जा सकता है कि पत्र-लेखक ने अपने अवैध संबंध को सही साबित करने के लिए सारा ताना-बाना बुना है और तथाकथित जारकर्म के पक्ष में सफाई पेश की है। इससे पहले 1994 में राजकिशोर के ही संपादन में 'स्त्री के लिए जगह' किताब प्रकाशित हुई थी जिसमें धर्मवीर का लेख 'हिन्दू विवाह की तानाशाही' संग्रहित है। इस लेख में भी धर्मवीर ने औरतों को पानी पी-पीकर गाली दी थी। फिर यहाँ गिड़गिड़ाहट क्यों? अपने स्टैंड से बिना प्रायश्चित के अलग क्यों? जाहिर है कि गलती करने वाला ही गिड़गिड़ा कर सफाई देता है और अपने पक्ष में तर्क का पहाड़ खड़ा करता है। धर्मवीर के विरोधाभासी विचार को देखते हुए कभी-कभी ऐसा लगता है जैसे वे कोई दलबदलू नेता हों जो पार्टी का पाला बदलते ही अपने सिद्धांत का चोला बदला लेता है। पर मुश्किल यह है कि राजनीति में संजय निरूपम और राणे बनना आसान है, परन्तु साहित्य में धर्मवीर बनना मुश्किल। दुर्भाग्य की बात यह है कि धर्मवीर ने अपनी इसी कसौटी पर प्रेमचंद को परखा है।

अपने इस पत्र-लेख में धर्मवीर समाज की आलोचना करते हुए 'मूल पुरुष' और 'मूल नारी' के रूप में स्त्री-पुरुष संबंध की व्याख्या करते हैं। उन्हीं के शब्दों में "यदि मैं एक दार्शनिक होने के नाते और मनुष्य का रखवाला बनकर उधार दिये गए समाज से अपने मूल पुरुष और मूल स्त्रियाँ मांगूँ तो यह मुझे उनको श्मशानों तक पहुँचाने के लिए लाशें थमा देता है।" एक कदम और आगे बढ़कर वह परिवार की बजाय गृहस्थ शब्द पर जोर देते हैं जहाँ मनुष्य के सहज स्वभाव सेक्स अर्थात् धर्मवीरीय शब्दावली में जारकर्म को बर्दाश्त किया जा सके "क्या पुरुष और नारी की इतनी लम्बी जिन्दगी इतनी अनछोड़ बनाकर रख दी जाय कि उसे सेक्स की पवित्रता के नाम पर सूली पर चढ़ा दिया जाए?" (पृ. 94) इतना ही नहीं आगे देखिए "जबकि हम हत्या के मामले में भी मृत्युदंड को समाप्त करने की सोच रहे हैं, तब क्या हम सेक्स के अपराधी को कोई छोटा दंड देने की नहीं सोच सकते हैं?"

यहीं ऊंट पहाड़ के नीचे आ जाता है। जब धर्मवीर सेक्स के अपराधी (जो जारकर्मी और बलात्कारी ही होगा) को छोटा दंड देने की बात करते हैं फिर किस मुंह से प्रेमचंद पर ऊंगली उठाते हैं जनाब? जैसे धर्मवीर ने सपने में देखा हो कि बुधिया के पेट में जमींदार का बच्चा था। फिर उस सेक्स अपराधी जमींदार के लिए आप कौन सी सजा प्रस्तावित करेंगे? जाहिर है कि अपने उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार धर्मवीर उसे माफ कर देंगे। अपने इस लेख में वह आगे लिखते हैं कि "सेक्स मनुष्य का आपसी मामला है इसके बारे में खुले दिमाग से सोचने में कौन-सा पहाड़ टूट पड़ता है? यदि विवाह एक समझौता है तो सेक्स को दूसरा

समझौता क्यों नहीं बनाया जा सकता?” (पृ. 99)

कितने सुधरे हुए विचार हैं हमारे दार्शनिक के! कुर्बान होने को जी चाहता है। सेक्स को दूसरा समझौता बनाया जा सकता है। पर यहाँ एक बात और जोड़नी चाहिए कि ‘सुरक्षा के साथ’ वरना एड्स का खतरा तो रहेगा ही, साथ ही जारज-सन्तान की इतनी बड़ी फौज खड़ी हो जाएगी जिसे धर्मवीर संभाल नहीं पाएँगे।

यह कौन-सा दोहरा चरित्र है कि ‘सामंत का मुंशी’ में जहाँ धर्मवीर ने जारज सन्तान को लेकर फूट-फूटकर रोया है। वहीं इस लेख में उन्होंने जारज सन्तान को राष्ट्रीय संपत्ति तक घोषित करने की क्रांतिकारी बात कही है “हम समाजवाद की सीमा में निजी सम्पत्ति पर अंकुश लगाते हुए कृषि भूमि सीमा और शहरी सम्पत्ति के कानून बनाने की सोच रहे हैं, तो बच्चों को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित क्यों नहीं किया जा सकता?” (पृ. 99) इतना ही नहीं धर्मवीर किसी भी औलाद को समाज के लिए उपयुक्त मानते हैं “उनका (मां-बाप का) काम सन्तान को पालने का है, न कि उसे मारने का। यह बात ठीक है कि किसी राष्ट्र को विदेशी राष्ट्रों के आक्रमण का भय बना रहता है, लेकिन आज के विकसित और जटिल समाजों में कोई भी औलाद समाज के लिए एकदम अनुपयुक्त नहीं हो सकती। ...इसमें यह मानकर चला जाए कि मनुष्य के बच्चे ने धरती पर जन्म लेकर कोई गलती नहीं की है।” (वही, पृ. 102)

मानव सन्तति के लिए इतना प्यार रखने वाला न जाने क्यों बुधिया के बच्चे के प्रति इतना नृशंस हो गया है। जबकि वह खुद गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा है “यहाँ मेरा पूछना है कि यदि पुरुष या नारी के सेक्स विचलन को अपराध मानकर बिना एक-दूसरे को क्षमा करते हुए मनुष्य अपनी सन्तान का आर्थिक भविष्य नष्ट कर डाले तो इसमें कौन सी बुद्धिमत्ता रह जाती है?” (वही, पृ. 100)

अब जरा डॉ. धर्मवीर के इस रूप को भी देखा जाए “क्या बेहतर है बुधिया और बुधिया के बच्चे को मरने देना या दूसरों की औलाद को अपनी कहकर पालना? गांधी समेत हर हिन्दू का जबाव दूसरा है। कैसी सफाई से सन्त बन जाते हैं कि मारने की सलाह हम नहीं दे सकते। पर इतिहास में जो तलवारें चली हैं और खून-खच्चर हुए हैं वे अपनी औलाद के लिए हुए हैं या उस जार-व्यवस्था के लिए जिसमें प्रेमचंद दिलो-दिमाग से रचे-बसे हैं।” (प्रेमचंद : सामंत का मुंशी, पृ. 29)

अब यह बात समझने में देर नहीं होनी चाहिए कि जारकर्म से धर्मवीर के खुद अपने कितने संबंध रहे हैं। उपरोक्त वाक्य में प्रेमचंद की जगह धर्मवीर रख देने से यह वाक्य शुद्ध हो जाएगा। क्योंकि वह दिलो-दिमाग से इस जार व्यवस्था के अनुयायी, सर्जक और विरोधी तीनों हैं। यह धर्मवीर का ही कथन है कि “परिवार को विकसित होने के लिए उसमें इतनी सहनशक्ति और क्षमता होनी चाहिए कि

वह सेक्स की मानवीयता को अपने रास्ते में आने पर उसे अधिक तूल न दें।” (वही, पृ. 100) अब जब अपने जारकर्म का ब्रेक बीच में ही फेल हो गया तो हाय-हाय कर रहे हैं। यह छूट किसी को कैसे मिल सकती है कि वह पत्नी से अपने लिए जारकर्म की छूट ले और स्त्री को घर में कैद कर रखल बनाए। पति की गुलाम पत्नी रखल ही तो कहलाएगी?

प्रेमचंद को सामंत का मुंशी सिद्ध करने के लिए धर्मवीर ने लिखा है कि ‘तलाक से यह समाधान बनता है कि प्रेमचंद को रखल रखने से बाज आना पड़ेगा। जीवन और साहित्य की सारी दिशा मोड़नी पड़ेगी। सदाचार और ईमानदारी को स्थान देना पड़ेगा। लेकिन यह प्रेमचंद क्या, किसी भी रखल रखने वाले व्यक्ति के स्वभाव और वश में नहीं है।’ (प्रेमचंद : सामंत का मुंशी, पृ. 38)

दरअसल यहाँ डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचंद का नाम लेकर अपने अनुभव की बात कही है। क्योंकि जब वह अपनी सफाई में एक स्त्री से जो पत्नी हो सकती है, इस विषय पर बात करते हैं तो प्रगतिशीलता का परचम लहरा देते हैं “जब परिवार के तीनों पक्ष अपना भौतिक काम सही-सही कर रहे हों तब सेक्स और अध्यात्म के बारे में सोचकर देखो, फिर सेक्स में कोई औरत किसी से भी प्यार करे और अध्यात्म में कोई पुरुष कैसा भी ईश्वर माने इनसे परिवार पर कोई फर्क नहीं पड़ता।” (वही, पृ. 104)

डॉ. धर्मवीर के इस दोहरे चरित्र को देखकर मुझे फिल्म ‘अग्निसाक्षी’ के नाना पाटेकर की याद आती है जिसके प्यार और हिंसा की पराकाष्ठा से भयभीत मनीषा कोइराला जैकी श्राफ के साथ भाग जाती है।

प्रेमचंद का हृदय निश्छल था इसीलिए उन्होंने शिवरानी देवी से सीधा-सीधा कह दिया कि एक और स्त्री से मेरा संबंध था। धर्मवीर स्वयंभू दार्शनिक हैं, कुटिल और स्त्री-विरोधी हैं। गिरगिट की तरह रंग बदलने वाले हैं। इसलिए वह अपनी पत्नी से घुमा-फिराकर अपने जारकर्म पर पर्दा डालते हैं “कुल मिलाकर पुरुषों और नारियों को अपनी-अपनी ऐतिहासिक कमजोरी से बचना चाहिए और सेक्स की मानवीय कमजोरियों को एक-दूसरे के लिए सम्मान, सहनशीलता और सहानुभूति से देखना चाहिए। इनका काम है कि एकजुट होकर राष्ट्र को मजबूत और स्वस्थ सन्तान दें।” (पृ. 103)

यह बिल्कुल गलत बात है कि अपनी असफलता को हम दुनिया की असफलता मान लें। और अपना दांपत्य बिगड़ने से दूसरे के दांपत्य को बिगाड़ें। किसी को यह भी अधिकार नहीं है कि अगर किसी कारणवश उसकी अपनी पत्नी या प्रेमिका से नहीं निभती है तो वह पूरी दुनिया की स्त्री को गाली दे। दरअसल डॉ. धर्मवीर के केस में यह ध्यान देने की बात है कि मनोचिकित्सक ‘सैडिस्ट’ होने को एक

मनोरोग मानते हैं। दुख का एक मनोविज्ञान यह भी है कि दुखी व्यक्ति पूरी दुनिया को दुखी देखना चाहता है। अंततः धर्मवीर भी मनुष्य हैं और उनमें इन मनोविकारों का आ जाना स्वाभाविक है। प्रेमचंद घोषित रूप से नास्तिक थे पर थे मनुष्य ही। उन्होंने पत्नी के सामने एक बार भगवान का नाम क्या ले लिया धर्मवीर को मुद्दा मिल गया। जबकि वह खुद इसी पत्र-लेख में भगवान के सामने हाथ जोड़कर जार-जार रोते हैं। धर्मवीर के दुख का कारण उनका अपना द्वंद्व है। सिद्धान्तकारी होने से पहले वह सिद्धान्तकार होने की जल्दबाजी करते हैं। वह स्वयंभू अवतारी होने की अफरातफरी में हैं। इसलिए वह जो भी कर्म-कुर्म करते हैं उसे अपने सिद्धान्त से सही साबित करने की कोशिश करते हैं। वह कभी औरत के लिए कहते हैं कि “उसे सेक्स नहीं, चौबीस घंटे सेक्स की बकवास चाहिए।” और कभी स्त्री-पुरुष के सेक्स को आदिम व्यवहार कह उसके समर्थक बन जाते हैं और कभी जातिवाद के हथियार से प्रेमचंद को साहित्य से खदेड़ने का अभियान चलाते हैं। और कभी बाबा साहेब अम्बेडकर और बुद्ध पर प्रहार करते हैं। सीधी सी बात है कि तानाशाह को अपना हर एक कर्म अलौकिक लगता है। मनु से लेकर हिटलर और बाल ठाकरे तक इसी गलतफहमी में जीते हैं।

डॉ. धर्मवीर में आए इस आकस्मिक और विरोधाभासी परिवर्तन को देखकर आश्चर्य होता है। जो व्यक्ति कभी बाबा साहेब के सिद्धान्तों के आलोक में दलित-स्त्री की मुक्ति की बात करता था, अब वह इतना बड़ा स्त्री-विरोधी कैसे बन गया? ‘सीमन्तनी उपदेश’ की भूमिका में धर्मवीर ने लिखा था “कोई भी नारी जब इस देश के शास्त्रों का गहरा अध्ययन करेगी उसे नारियों की मुक्ति के लिए ब्राह्मणी समाज व्यवस्था के वर्ण-विभाजन को तोड़ना ही पड़ेगा। इसी प्रकार जब कोई शूद्र शूद्रों के उत्थान की अपने सच्चे दिल से बात करेगा तो उसे अनिवार्य रूप से नारियों के उत्थान की बात आगे रखनी पड़ेगी। यही कारण है कि डॉ. अम्बेडकर जितने शूद्रों के मुक्तिदाता हैं उतने ही बड़े वे औरतों के मसीहा बनकर उभरे हैं।” (सीमन्तनी उपदेश, पृ. 26) अब वही धर्मवीर ब्राह्मणी-व्यवस्था के अनुरूप स्त्रियों को गाली दे रहे हैं।

बहरहाल, धर्मवीर ने पत्नी को लिखे इस पत्र-लेख में जितनी ईमानदारी दिखाई है असल में उतने वे हैं नहीं। वरना वह इस कदर विचलन के शिकार नहीं होते। अपने इसी लेख में वे लिखते हैं “तुम कल्पना कर सकती हो कि एक पुरुष है। वह विदेश में काम करता है। उसे कल सुबह का हवाई जहाज पकड़ना है। आज उसने अपने आपको बेहद व्यस्त बना रखा है। उसे काम से फुरसत नहीं है कि वह विदेश के बारे में या देश के बारे में सोचे। वह रात को सोने से पहले थोड़ी हिस्की लेता है...लेटे-लेटे उसकी आंखों में आंसू आ जाते हैं। फिर वह धार-धार

रोने लगता है। तब वह हाथ जोड़कर भगवान को याद करता है। वह भगवान से कहता है हे भगवान, मेरी गलती बता। मैंने कोई गलती नहीं की। मेरा कोई अपराध नहीं है। फिर भी पिछले पांच वर्षों में मेरा परिवार मेरे साथ क्यों नहीं चला।” (वही, पृ. 103) यहाँ लेखक के साथ मेरी हमदर्दी है। पर वही बात, काश प्रेमचंद की तरह धर्मवीर भी सच बोलने की आदत डालते तो फिर उन्हें धार-धार नहीं रोना पड़ता।

धर्मवीर ने इस लेख के अंत में खुद को बदलने की बात कही है। परन्तु लगता है यह सिर्फ पत्नी को ठगने की एक कोशिश है वरना जारदर्शन में गोला लगाने के बदले वह कुछ सार्थक करते। और जातिवादी होने की बजाय इसे मिटाने की बात सोचते क्योंकि यह उन्हीं का कथन है कि “चूँकि हिन्दुस्तान में ब्राह्मणवाद एक आदर्श के रूप में प्रचारित किया गया है, इसलिए इसका असर केवल ब्राह्मणवादी घरों तक सीमित नहीं रह गया है। यह गैर-ब्राह्मणों के घरों में भी पाया जाता है। शूद्रों तक पहुँच गए इस ब्राह्मणवाद को हिन्दुस्तान के हर घर में मारे जाने की जरूरत है।” (वही, पृ. 102) इसमें मैं यह भी जोड़ना चाहूँगा कि हिन्दुस्तान के हर घर से ब्राह्मणवाद, पुरुषवाद और जातिवाद को एक साथ मार भगाने की जरूरत है और, पहचान आधारित राजनीति को छोड़कर मूल्य-आधारित आन्दोलन चलाने की जरूरत है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. स्त्री, परंपरा और आधुनिकता : सं. राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1999
2. स्त्री के लिए जगह : सं. राजकिशोर (उपरोक्त), संस्करण 1994
3. प्रेमचंद : सामंत का मुंशी : डॉ. धर्मवीर (उपरोक्त) संस्करण 2005
4. सीमान्तनी उपदेश : सं. डॉ. धर्मवीर, संस्करण 2006

साखी सबदी गावत भूले

बजरंग बिहारी तिवारी

इतिहास की सामान्य जानकारी रखने वालों को पता है कि जब भी सामाजिक परिवर्तन की कोई स्वस्थ प्रक्रिया शुरू हुई है तब उसमें अड़ंगे डालने, उसे विकृत करने की योजनाबद्ध कोशिशों की गई हैं। योजनाबद्ध कहने का मतलब यह कि रुकावट डालने वाले अपने को परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रबल पक्षधर घोषित करते रहे हैं। उदाहरण देखना हो तो हम भक्ति आंदोलन के दौर में गोस्वामी तुलसीदास को देख सकते हैं और आज के दौर में दलित-विमर्श के भीतर से उभरे आदरणीय धर्मगुरु को। जातिवर्ण विहीन समाज की प्रस्तावना करने वाले भक्ति आंदोलन में तुलसीदास ने रामराज्य का आदर्श पेश किया जिसकी नींव वर्णवाद पर रखी गई थी और इधर धर्म के आतंक से मुक्त होते दलित समुदाय को हमारे धर्मगुरु धर्म की अनिवार्यता का पाठ पढ़ाने में लगे हैं। दलित आंदोलन जिस धर्म को अपने अनुकूल पाता है वह बौद्ध धर्म है (जो वस्तुतः धर्म से ज्यादा दर्शन है, आस्था का नहीं, तर्क-वितर्क का) लेकिन धर्मगुरु जिस धर्म को प्रस्तावित कर रहे हैं उसमें तर्क-वितर्क की जगह अंधश्रद्धा है। बौद्धधर्म में ईश्वर की कोई जगह नहीं लेकिन तथाकथित दलित-धर्म के केंद्र में ईश्वर है। ईश्वर की जरूरत को व्याख्यायित करते हुए धर्मगुरु कहते हैं कि यदि ईश्वर नहीं होगा तो दलित किसके सामने गिड़गिड़ाएँगे, दया की भीख मांगेंगे। अपने 'ईश्वर' के बगैर कैसे शक्ति सम्पन्न होंगे? दलित आंदोलन का रास्ता मानवतावाद का है। उसकी अपील यूनिवर्सल है और उसकी मंशा असंकीर्ण, उदार, सर्वसमावेशी। धर्मगुरु का मार्ग इसके विपरीत है। उनका अंदाज हिटलरी है। वे विचार की नहीं, खून की परवाह करते हैं, व्यक्ति को नहीं उसके खानदान को देखते हैं। दलित आंदोलन रक्त-वंश की शुद्धता के दुराग्रह को खारिज करता है, धर्मगुरु के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह शुद्धता ही है। दलित आंदोलन अपने और पराए का भेद विचार के आधार पर करता है, धर्मगुरु खून के आधार पर। धर्मगुरु चाहते हैं कि अपने और पराए का फर्क समझने के लिए बड़े पैमाने पर खून की जांच हो, पैथोलॉजी में टेस्ट करके डीएनए निर्धारण हो। मुश्किल यह है कि प्रस्तुत विधि उन्हीं पर लागू होगी जो वर्तमान में सशरीर उपस्थित हों। सुदूर

अतीत में हुए लोगों की पहचान कैसे की जाएगी? धर्मगुरु के पास इस समस्या का भी समाधान है। उन्हें यथावसर दैवी ज्ञान हो जाता है। इसे वे 'इलहाम' कहते हैं। अभी आम जनता डीएनए निर्धारण के प्रति जागरूक और चिंतित नहीं हुई है। जिस दिन ऐसा हुआ, लोग बड़ी संख्या में धर्मगुरु के पास अपने पूर्वजों का डीएनए जानने के मकसद से पहुँचेंगे। तब धर्मगुरु को यदा-कदा दैवीज्ञान की अपनी क्षमता का इस्तेमाल नहीं करना पड़ेगा। उन्हें बाकायदा इलहाम के दौरे पड़ेंगे। वे थोक के भाव डीएनए निर्धारण किया करेंगे। लोग उनकी इस शक्ति से लाभान्वित होंगे। धर्मगुरु ने गौतमबुद्ध को सलाह दी है कि वे जब वापस लौटें तो ईश्वरवादी बनकर, ईश्वर का गुणगान करते हुए, कबीर की तरह। गौतम बुद्ध वापस लौटें या न लौटें, धर्मगुरु का ईश्वर बनना तय है। कबीर के अनुयायी इस ईश्वर का गुणगान करने के लिए तैयार रहें।

तुलसीदास और धर्मगुरु में क्या समानताएँ हैं? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए किसी दारुण कल्पना की जरूरत नहीं है। दोनों का साहित्य सामने रखिए तो बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगी। दोनों में असमानताएँ कम नहीं हैं। कालगत, स्वभावगत, परिवेशगत असमानताएँ दूर से ही झलक मारती हैं लेकिन, जिस बिन्दु पर हमारा ध्यान जाना चाहिए वह दोनों के बीच मूल्यगत समानता की है। मूल्यगत समानता के कई उदाहरण लिए जा सकते हैं लेकिन हम स्थालीपुलाक न्याय का सहारा लेते हुए सिर्फ एक समानता पर अपना विवेचन केंद्रित करेंगे। यह समानता है स्त्री-प्रश्न पर दोनों की सोच। इस मसले पर दोनों के बीच विलक्षण समानता को देखकर कोई भी कह सकता है कि गोस्वामी जी जो काम मध्यकाल में पूरा नहीं कर सके थे उसी के लिए उन्हें दुबारा आना पड़ा है।

कौशल्या बैसंत्री संभवतः हिन्दी की पहली दलित आत्मवृत्त लेखिका हैं। अपने आत्मकथन 'दोहरा अभिशाप' में उन्होंने दलित स्त्री की दुर्गति को उजागर किया है। इस रचना पर धर्मगुरु ने समीक्षा लिखी है। धर्मगुरु कौशल्या बैसंत्री से बहुत कुपित हैं। वे उन्हें 'दुनिया की पहली बेहूदी लेखिका', 'डायनासोर' (डायन + सुअर = पराश्रित वह घृणित जीव) जैसे विशेषणों से नवाजते हैं। कौशल्या बैसंत्री की 'तमाम गलतियों' में सबसे बड़ी गलती यह है कि वे अपने पति को उचित सम्मान नहीं देती हैं, उनके लिए 'सम्मानजनक भाषा' का प्रयोग नहीं करती हैं। धर्मगुरु का कहना है कि हिन्दी की परंपरा ऐसी नहीं। यहाँ तो पति को हमेशा आदर के साथ सम्बोधित किया जाता है। हिन्दी में क्रियापदों की प्रकृति ही ऐसी है। पति का उचित आदर न करने वाली स्त्री धर्मगुरु के लिए असहनीय है।

तुलसीदास कहते हैं कि पति कैसा भी हो लोभी, क्रोधी, कामी, बूढ़ा। स्त्री उसका आदर करने के लिए बाध्य है। इस मर्यादा को तोड़ने वाली स्त्री को तुलसीदास

भयंकर शाप देते हैं।

पति प्रतिकूल जनम जहं जाई। विधवा होइ पाइ तरुनाई॥
वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

स्त्री का अस्तित्व पति की बदौलत है। पति की सेवा न करने वाली स्त्री अधम है।

अमित दानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥

धर्मगुरु कहते हैं कि दलित समाज को ब्राह्मणवाद से लड़ने की आवश्यकता नहीं है। उसे अपने समाज में मौजूद मातृसत्ता को पहले मिटाना चाहिए। जब तक ब्राह्मणवादी पितृसत्ता दलित समाज में नहीं आएगी, उसका उत्थान नहीं हो सकता, वह बराबरी के स्तर पर नहीं आ सकता। स्त्री माया है, महाठगिनी है। उसका त्याग कर पाना मुश्किल है लेकिन, उसे त्यागना बेहद जरूरी है। बिरले ही ऐसा कर पाते हैं। धर्मगुरु के अनुसार कबीर ने ऐसा किया था, धर्मगुरु स्वयं ऐसा कर सकते हैं।

तुलसीदास भी ऐसे 'पुरुष' की सराहना करते नहीं थकते जो स्त्री को त्यागने की सामर्थ्य रखता हो। जो ऐसा नहीं कर सकता वह आचरण भ्रष्ट है, कामी है, विषयी है। तुलसीदास ने स्वयं ऐसा किया था। वे इसे कसौटी की तरह इस्तेमाल करते हैं

पुरुष त्यागि सक नारिहि, सो विरक्त मति धीर।

न तु कामी बिषयाबस, बिमुख जो पद रघुवीर॥

स्त्री का तिरस्कार करने, उससे अलग रहने में ही पुरुष की भलाई है। और स्त्री? पति से अलग उसकी गति नहीं, कोई आश्रय नहीं। वह 'सहज अपावनि' है।

'सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।'...

धर्मगुरु का निष्कर्ष है कि स्त्री शरीर तो सेक्स का पुतला है। स्त्री का दिमाग हर वक्त इसी में डूबता-उतराता रहता है। वे लिखते हैं, स्त्री को सेक्स नहीं, चौबीस घंटे सेक्स की बकवास चाहिए।

तुलसीदास कहते हैं कि स्त्री अपनी कामेच्छा पर नियंत्रण नहीं रख सकती। उसे बस पुरुष का सुंदर शरीर चाहिए। जैसे सूर्यकांत मणि सूर्य की रोशनी पड़ते ही पिघलने लगती है वैसे ही पुरुष के सम्पर्क में आते ही स्त्री। भले ही यह पुरुष उसका भाई, पिता या पुत्र ही क्यों न हो

भ्राता पिता पुत्र उरगारी।

पुरुष मनोहर निरखत नारी॥

होइ विकल सक मनहि न रोकी ।

जिमि रविमनि द्रव रबिहि बिलोकी॥

धर्मगुरु बताते हैं कि स्त्री धरती की इतनी कमजोर मादा है कि अपना पेट भर नहीं सकती, फिर वह दूसरे का क्या भरेगी? वह परजीवी है। दूसरे की कमाई पर पलती है। कामचोर है। बुरे वक्त में साथ छोड़ देती है। वह स्वावलंबी नहीं बन सकती। उसे हमेशा किसी न किसी पुरुष का सहारा चाहिए।

तुलसीदास की राय ठीक यही थी। वे भी स्त्री में कोई सामर्थ्य नहीं देखते थे। उनकी दृष्टि में पुरुष वृक्ष है स्त्री लता। वह वृक्ष के सहारे टिकती है। पुरुष प्रतापी है, सबल है, चेतन है; अबला बलहीन है, असहाय है, जड़ है

पुरुष प्रताप प्रबल सब भांती ।

अबला अबल सहज जड़ जाती॥

धर्मगुरु कहते हैं कि स्त्री पर कभी विश्वास मत करो। स्त्री को हमेशा परीक्षा की सूली पर लटकाए रहो। हर सन्तान के बाद पितृत्व की जांच हो, डीएनए का निर्धारण हो। मासूम और चरित्रवान पुरुष जाति से स्त्री किन रूपों में और कितनी बार धोखा कर सकती है, इसका कोई हिसाब नहीं। क्या पता पैदा हुई सन्तान किसी और की हो? दूसरे की सन्तान हम क्यों पालें? इसलिए, स्त्री पर कड़ी चौकसी अपरिहार्य है। धर्मगुरु के मत में दलित स्त्रियाँ पर-पुरुषों के साथ हम विस्तर बनने को व्याकुल रहती हैं। दलित दर्शन निबंध में वे फरमाते हैं “तब क्या किया जाए जब इनकी बहू-बेटियाँ खुद दूसरी जातियों के पुरुषों के साथ भागना चाहती हों? इसी दूसरी बात के लिए दलित स्त्रियों पर नियंत्रण रखना जरूरी है। दलित एक जाति के रूप में अब तक इस काम में चूकते रहे हैं। इसी से इनकी औरतें स्वतन्त्र होने के बजाय उच्छृंखल हो जाती हैं, वे पर-पुरुषों के साथ व्यभिचार कर बैठती हैं?”

लगता है धर्मगुरु ने ये पंक्तियाँ तुलसीदास की सोच को हृदयंगम करने के बाद लिखी हैं। ये वाक्य तुलसीदास की एक अर्धांली का भावानुवाद हैं। गोस्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि स्त्री किसी भी सूरत में विश्वास के काबिल नहीं हैं, उसे आप लाख हृदय में बिठाए रखिए, धोखा तो वह देगी ही, उस पर कोई जोर नहीं चलता,

राखिअ नारि जदपि उर मांही ।

जुबती सास्त्र नृपति बस नांहीं॥

और भी,

कवने अवसर का भयउं, गयउं नारि विस्वास ।

जोग सिद्ध फल समय जिमि, जतिहिं अविद्यानासा॥

धर्मगुरु के पास ‘स्त्री-दुर्गुणों’ की एक लिस्ट हमेशा तैयार रहती है अद्यतन

अभिधानों, विशेषणों के साथ। वे स्त्री को कमतर साबित करने, नीचा दिखाने के लिए परंपरा, तर्क और विज्ञान का सहारा लेते हैं। उन्हें पढ़ते या सुनते हुए आप पाएँगे कि विषय कुछ भी हो वे ऐसा प्रसंग ले आते हैं जिससे स्त्री बुद्धिहीना, दूसरों के बहकावे में आने वाली, विश्वासघातिनी, अनाचारी, व्यभिचारिणी साबित होती है। शायद ऐसा करके उन्हें बड़ा मानसिक सुकून मिलता है।

तुलसीदास ऐसे अवसरों की खोज में रहते हैं जहाँ स्त्री की बुराइयाँ गिनाई जा सकें। कुछ स्थलों पर वे स्त्री पात्रों से ऐसी घोषणा करवाते हैं और कुछ स्थलों पर स्वयं या दूसरे पुरुष पात्रों से

अधम ते अधम अधम अति नारी।

तिन्ह मह मैं मतिमंद अघारी॥

अन्यत्र एक सूची उपलब्ध होती है

नारि सुभाव सत्य सब कहहीं।

अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥

साहस अनृत चपलता माया।

भय अविवेक असौच अदाया॥

धर्मगुरु की कल्पना का जो समाज है उसमें स्त्री लगातार संदेह के घेरे में है। शक की सुई उसके चरित्र पर स्थायी रूप से टिका दी गई है। धर्मगुरु ने जाससत्ता की अवधारणा का कोड़ा बनाया है। यह कोड़ा निरंतर स्त्री पर पड़ता रहता है। धर्मगुरु के पास स्त्री को चरित्रहीन सिद्ध करने की तार्किक, अतार्किक, तर्कातीत और वैज्ञानिक विधियाँ हैं। अनुमान, कल्पना और इलहाम के जरिए वे मनोवाञ्छित सत्य पा लेते हैं। इस सत्य की रोशनी में वे सजा मुकर्रर करते हैं। सजा कुछ वैसी, जैसी घीसू और माधव ने बुधिया को दी थी तड़पा-तड़पा कर मौत। धर्मगुरु हर स्त्री से पूछते फिरेंगे बताओ, तुम कौन सी बुधिया हो?

उधर, आदर्श रामराज्य की परिकल्पना है। इसमें मर्यादा, नैतिकता और सदाचरण का सारा बोझ स्त्रियों पर है। ऐसे में उनका चरित्र कभी न कभी संदिग्ध हो ही जाएगा। उसे खुद को निर्दोष साबित करते रहना होगा। बार-बार परीक्षा देनी होगी। परीक्षा भी मामूली नहीं अग्नि परीक्षा! रामराज्य में स्त्री का वजूद नगण्य है। राम स्वयं कहते हैं 'नारि हानि बिसेष छति नाही।' यह ऐसा समाज है जिसमें अफवाह सुनकर स्त्री पर शक कर लिया जाता है, उसे घर से निकाल दिया जाता है। घर से निकाली गई स्त्री यहां-वहाँ भटकती है और अंततः जमीन में समा जाती है।

धर्मगुरु बहस नहीं करते। फतवे देते हैं। प्रश्न पूछो तो गीत गाते हैं। अपने को कबीर की परंपरा में बताते हैं। लेकिन कबीर वाला आत्मविश्वास कहाँ से लाएँ? कबीर ने अपने वक्त में ही ऐसे किसी कबीरपंथी को लक्ष्यकर कहा होगा कि 'मेरी

साखी सबदी गाकर खुद को कबीरपंथी दिखाने का ढोंग करते हो। तुम्हें तो अपनी ही खबर नहीं है।’

‘साखी सबदी गावत भूले आतम खबरि न जाना’

धर्मगुरु को चले चाहिए। उन्हें अपना सम्प्रदाय बढ़ाने की चिंता है, सो, वे चुन-चुन कर लोगों के घर जाते हैं वहाँ ठहरते हैं उन्हें मन्त्र देते हैं। मन्त्रबिद्ध व्यक्ति सम्मोहनावस्था में बड़बड़ाता है मैंने गुरुजी की बानी का मर्म समझ लिया है, बूझ लिया है। वही असली दलितोद्धारक हैं। उन्हें समझना आसान नहीं। वे जिस पर अनुग्रह करते हैं वही समझ पाता है ‘सो जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई॥’ धर्मगुरु की शरण में जाने के लिए अपनी बुद्धि को स्थगित करना पड़ेगा, तर्क-शक्ति को श्रद्धा के आवरण से ढांपना पड़ेगा ‘श्रद्धावान लभते ज्ञानं।’ इन शर्तों का पालन करते हुए लोग धर्मगुरु के सम्प्रदाय में शामिल हो रहे हैं। उनकी संख्या क्रमशः बढ़ रही है। मुझे इस प्रसंग में एक लोककथा याद आ रही है। इसी के साथ मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ। किसी जमाने में एक धर्मगुरु थे। कहते थे कि मैंने ईश्वर को पा लिया है। उनका दावा था कि वे दूसरे को भी ईश्वर के साक्षात् दर्शन करा सकते हैं। बस इच्छुक व्यक्ति को उनके सम्प्रदाय में आना होगा। उनके सम्प्रदाय में शामिल होने की एक शर्त थी। दीक्षाकुल व्यक्ति अपनी नाक कटाएगा। धर्मगुरु नाक को एक बड़ी बाधा मानते थे। बताते थे कि नाक ओट कर लेती है। नाक की ओट में ईश्वर दिखाई नहीं देते। नाक कटाओ और ईश्वर को सामने पाओ। लोग नाक कटाते थे। गुरु जी उन्हें मन्त्र देते थे और नककटा ‘यूरेका’, ‘यूरेका’ ‘ईश्वर मेरे सामने हैं, साक्षात् खड़े हैं’ चिल्लाने लगता था। नककटों का सम्प्रदाय बढ़ता जा रहा था। राजा को यह बात मालूम हुई। उनके मन में भी ईश्वर को देखने की प्रबल इच्छा जगी। वे नाक कटाने को तैयार हो गए। उनका मन्त्री बुजुर्ग और समझदार था। उसने राजा से कहा कि पहले वह नाक कटाएगा, ईश्वर के दर्शन करेगा फिर राजा की बारी आएगी। राजा मान गए। मन्त्री की नाक काटी गई। धर्मगुरु ने कान में मन्त्र फूँका, ‘देखो, तुम्हारी नाक तो कट ही गई है। अब वापस जुड़ेगी नहीं, इसलिए जोर से कहो कि ईश्वर सामने खड़े हैं। ऐसा कहते रहने से नाक कटने का दर्द भी कम हो जाएगा।’ मन्त्री ने ईश्वर-प्राप्ति का रहस्य जान लिया था। बाकी जनता नककटों की जमात में जाने से बच गई। आमीन!

शत्रु को नामजद किये बिना युद्ध कैसे लड़ सकते हैं?

भागीरथ

बुद्धिजीवियों का काम समाज को दिशा देने का है। डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर के कथनानुसार वे बुद्धिजीवी ही इस महत् कार्य को कर सकते हैं जो (1) ईमानदार हैं (2) समर्थ हैं (3) जिम्मेदार हैं और (4) निस्पृह हैं। लेखक भी बुद्धिजीवी होते हैं। इनके लिए ये चारों मानदण्ड पूरी तरह लागू होते हैं। लेखक स्वयं को भी इस तराजू पर तौल सकता है और पाठक व चर्चा करने वाले प्रबुद्ध जन भी किसी लेखक के लेखन को इन कसौटियों पर देख-परख सकते हैं और निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

लेखन बड़ी ही ईमानदारी और जिम्मेदारी का काम है। उसके लिए सामर्थ्य भी चाहिए और निर्लिप्तता भी। सामर्थ्य और निर्लिप्तता लेखन को गम्भीरता प्रदान करती है, चिरंतनता प्रदान करती है। वह लेखन आने वाली पीढ़ियों की चिंता करता है साथ ही उस शत्रु को भी नामजद करता है, जिसने पिछली अनेकानेक पीढ़ियों को मानवोचित अधिकारों से वंचित किया और वंचित रखा। पिछले कुछ दशकों से दलित साहित्य के झण्डे तले काफी कुछ लिखा गया है। इस लिखे को मान्यता भी मिली है। इस लेखन की नींव बुद्ध, कबीर, फुले, अम्बेडकर जैसे ब्राह्मणवाद विरोधी महामानवों की विचारधारा पर रखी गयी है।

ऐसा लगता है, आज दलित साहित्य, दलित लेखन ऐसे दौराहे पर आ खड़ा हुआ है जिसमें एक रास्ता ऐसा भी है जिसमें लेखक लेखन से, साहित्यकार साहित्य से बड़ा हो गया प्रतीत होता है। वह अपने लेखन के इतिहास को ही भुला देना चाहता है। डॉ. धर्मवीर की पुस्तक 'प्रेमचन्द : सामन्त का मुंशी' पर 12 सितम्बर 2005 को आयोजित चर्चा में डॉ. धर्मवीर ने जो बीज भाषण पढ़ा, उसके निम्नलिखित अंश तो कुछ ऐसा ही संकेत करता है

“...बोधिसत्व डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'द बुद्ध एण्ड हिज धम्मा' में बुद्ध से स्वदेश लौट आने की प्रार्थना की है, लेकिन मेरा कहना है इस देश को बुद्ध की जरूरत नहीं है। दलितों को बुद्ध की बिल्कुल जरूरत नहीं है। बुद्ध के लौटने के लिए प्रार्थना करना सही नहीं है। वे अपने घर नहीं लौटे थे, देश

में क्या लौटेंगे, दलितों में क्या लौटेंगे।”

मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि डॉ. धर्मवीर ने ऐसा कह कर किस लेखकीय दायित्व का निर्वाह किया है! क्या बुद्ध एक हाड़-मांस के प्राणी मात्र थे? क्या बाबा साहब अम्बेडकर के माने एक कोट-पैट-टाई और ऐनक वाला आदमी था? क्या उन्होंने बुद्ध के स्वदेश लौटने की प्रार्थना हाड़-मांस के बुद्ध के लिए की थी? इन सवालों के उत्तर लेखक ही दे सकते हैं।

डॉ. अम्बेडकर महान लेखक थे। भारत के संविधान के रूप में उन्होंने भारत के कोटि-कोटि नागरिकों को अधिकार प्राप्त के संघर्ष के लिए रणभूमि तैयार की। वे कभी नहीं चाहते थे कि दलित अपना सम्मान खोकर याचक बनें। उन्होंने बुद्ध के स्वदेश लौटने की प्रार्थना ही नहीं की, वे 14 अप्रैल 1956 के दिन तीन लाख लोगों के साथ धर्मांतरण करके बुद्ध को स्वदेश लौटा लाए थे। बाबा साहब के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके अंतिम संस्कार के अवसर पर मुम्बई में दो लाख लोगों ने संस्कार स्थल पर ही बौद्ध धर्म अंगीकार किया। यह सिलसिला अभी तक थमा नहीं है।

मेरा डॉ. धर्मवीर से प्रश्न है कि क्या बाबा साहब की प्रार्थना निष्फल गई? क्या वे बुद्ध को स्वदेश नहीं लौटा लाए? दलितों को बुद्ध की जरूरत नहीं है तो क्या वैदिक ऋषियों की जरूरत है? पुष्यमित्र शुंग की जरूरत है? वाल्मीकि और तुलसीदास की जरूरत है? मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों की जरूरत है? वशिष्ठ और आपस्तम्ब जैसे सूत्रधारों की जरूरत है? जो लोग शत्रु को चीन्हना नहीं चाहते, जो लोग अपने शत्रुओं को नामजद करना नहीं चाहते, वे लड़ाई किससे लड़ेंगे?

उन्होंने इन दिनों प्रेमचंद के खिलाफ मोर्चा खोल रखा है। प्रेमचंद दलित विरोधी या महिला विरोधी हैं या नहीं हैं, इस पर चर्चा करने से पहले इस सत्य को जानना जरूरी है कि प्रेमचंद की इस विरोध या समर्थन की पृष्ठभूमि क्या है? दलित विरोध और महिला विरोध यदि प्रेमचंद के कृतियों में मिलता भी है तो इसका सोता तो ब्राह्मणवाद रूपी सरोवर से निकलता है। जिस शत्रु को फुले और अम्बेडकर खुलेआम नामजद करते हैं उसे नामजद करने में डॉ. धर्मवीर को क्या परेशानी है? इस परेशानी को समझने की आवश्यकता है।

डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर ने कहा है, “जो कौम अपना इतिहास नहीं जानती, वह अपना इतिहास नहीं बना सकती।” ऐसी बात नहीं है कि डॉ. धर्मवीर इस कथन से अपरिचित और अनजान होंगे। इतिहास कौमों का भी होता है और साहित्य का भी। हिन्दी साहित्य के इतिहास में पं. रामचन्द्र शुक्ल जैसे लोग तुलसी की ‘अब लों नसानी अब न नसेहों’ छाप अवधी को हिन्दी मान कर उन्हें हिन्दी का श्रेष्ठ कवि घोषित करके सरकारी खर्च पर भारत की भावी पीढ़ियों को

‘रामचरित मानस’ पढ़ाने की दुरभिसंधि कर लेते हैं वहीं कबीर की ‘माया मरे न मन मरे, मर-मर गये सरीर’ जैसी हिन्दी पर ‘सधुक्कड़ी’ होने का लेबल चस्पाँ कर देते हैं। इस सरिता के उद्गम को जानते हुए भी डॉ. धर्मवीर अनजान क्यों बन जाते हैं।

अपनी पुस्तक के एक खण्ड ‘प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी’ में सर्वत्र ‘हिन्दूवाद’ या ‘हिन्दूवादी’ शब्द का प्रयोग डॉ. धर्मवीर करते हैं। हकीकत में हिन्दूवाद तो एक मुखौटा भर है जिसे वर्तमान में ब्राह्मणवादी लोग प्रयोग में ला रहे हैं। पहले उन्होंने आर्य, वैदिक, सनातन जैसे मुखौटे भी प्रयोग में लिए थे। मुझे नहीं लगता कि डॉ. धर्मवीर इस हकीकत से अनजान होंगे। जानबूझ कर क्या कोई अनजान बनता है? डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने एक पुस्तक लिखी है ‘रिडल्स ऑफ हिन्दुइज्म’। पुस्तक के नामकरण में शब्द ‘हिन्दुइज्म’ अवश्य है किन्तु भीतर की हर पहली में वे प्रश्न करते हैं ब्राह्मणों ने ऐसा क्यों किया--- ऐसा क्यों किया? सबसे पहले तो वे, हिन्दू एक धर्म है, इस पर ही सवाल खड़ा करते हैं।

डॉ. धर्मवीर प्रेमचंद पर हिन्दूवादी होने का आक्षेप करते हैं किन्तु हिन्दूवाद के मुखौटे के भीतर छिपे ब्राह्मणवाद को क्षमा कर देते हैं। स्त्री को वस्तु, भोग्या और प्रजनन की मशीन से बदतर स्थिति में रखने का काम ब्राह्मणवाद करता है। उस ब्राह्मणवाद को कांशीराम और मायावती जैसे राजनेता ‘मनुवाद’ का नाम देते हैं। यह नाम 1990 के आसपास दिया जाता है और ब्राह्मणों से हाथ मिलाने का काम 2005 में किया जाता है। भूमिका 15 साल पहले बांधनी होती है। मैं नहीं जानता कि डॉ. धर्मवीर जैसे दलित साहित्यकारों की योजना क्या है? किन्तु उन्होंने साहित्य के नाम पर जो कर्म किया है वह साहित्य के अतिरिक्त भी कुछ हो सकता है, ऐसी शंका का उठना स्वाभाविक है।

डॉ. धर्मवीर कहते हैं कि “बुद्ध की इस देश को जरूरत नहीं है” किन्तु उनका यह कथन किसी चरम सत्य की उद्घोषणा नहीं होकर ‘थोथे चने की आवाज’ बन कर रह जाता है। बुद्ध की जरूरत भारत को ही नहीं, समग्र विश्व को है। यह जरूरत सामयिक नहीं होकर सार्वकालिक है। ‘बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ का सूत्र बुद्ध की देन है। इस मानदण्ड पर व्यक्ति, देश, समाज और विश्व अपनी मानवता की दिशा तय कर सके तो स्वर्ग की संकल्पना तक साकार हो सकती है।

साहित्यकार का ध्येय सत्ता प्राप्ति नहीं होता। सत्ता प्राप्ति का ध्येय राजनेताओं का, शासकों का होता है। साहित्यकार तो स्वतन्त्रता, समानता और बंधुत्व जैसे मानवीय आदर्शों का समाजिक जीवन में प्रतिफलन चाहता है। वह लोगों को तोड़ता नहीं, लोगों को जोड़ता है। वह सत्ता का नहीं, मानवता का प्रहरी होता है। ब्राह्मणों ने धर्म के नाम पर राजनीति की, षड्यंत्र किया। लोगों को जोड़ने की बजाय तोड़ने

का काम किया। उन्होंने समग्र समाज को पहले चार वर्णों में और तत्पश्चात् हजारों जातियों में तोड़ने का काम किया। साहित्यकार भी यदि जातियों की धारा में कैद रहे, बार-बार चमार और कायस्थ का राग अलापे जैसा डॉ. धर्मवीर ने 'प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी' में किया है, तो वह साहित्यकार का काम नहीं करता। वह तो राजनीति करता हुआ दिखायी देता है।

राजनेता, राजनीति करे तो बात समझ में आती है किन्तु साहित्यकार राजनीति करे तो बात समझ में नहीं आती। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने राजनीति करते हुए 'इनहिलेशन ऑफ कास्ट' जातियों को तोड़ने का सपना देखा। उन्होंने गूंगों को बोलने का हक दिलाया जिन हाथों को कलम पकड़ने का हक नहीं था उनके हाथों में कलमें थमाई। उनमें से चंद कृतघ्न मुंह और कृतघ्न हाथ उनके अवदान को भूलकर अनर्गल लिखने लग जाँएँ, अनर्गल बोलने लग जाँएँ तो दुख होता है। यह दुख लिखने-बोलने को विवश भी करता है। जातिवाद, ब्राह्मणवाद का हथियार है, उससे चिपके रहना और उसे मजबूत करते रहना तो ब्राह्मणवाद को मजबूत करना है। अपने शत्रु को मजबूत करना है, उस शत्रु को मजबूत करना है जिसने जुबानों पर, हाथों पर सदियों तक पहरे बिठाये।

प्रेमचंद ने जो कुछ लिखा अपने समय से, अपनी सोच से, अपनी आशाओं-आकांक्षाओं-आदर्शों-विश्वासों से प्रेरित होकर लिखा। प्रेमचंद ने किसी तरह का कोई इहलाम होने की दैवीय घोषणा भी नहीं की। प्रेमचंद का व्यक्तिगत जीवन उनका अपना जीवन था। एक व्यक्ति के जीवन को लेकर, एक व्यक्ति के लेखन को लेकर किस-किस की चीर-फाड़ करते रहोगे? और करते रहोगे तो गंदगियों के बखान के अलावा आपकी क्रेडिट पर क्या रहेगा? यह आज के साहित्यकार को सोचना है और डॉ. धर्मवीर को भी। यदि वे स्वतन्त्र नहीं हैं, किसी के इशारे पर या किसी के अवदान की गरज से या अपनी सत्ता की स्थापना की हवस में कुछ किये जा रहे हैं तो बात दूसरी है। फिर तो 'साहित्य' उनके लिये मुखौटा बन कर रह जाता है ठीक उसी तरह, जिस तरह 'धर्म' ब्राह्मणवाद की राजनीति का है।

यौन-शुचिता, नैतिकता का एक अंग अवश्य है किन्तु नैतिकता केवल यौन और देह के दायरे तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य पर विश्व, देश, समाज, परिवार, दाम्पत्य और व्यक्तिगत सभी प्रकार की जिम्मेदारियाँ होती हैं। इन सबकी नैतिकता की परिधियाँ पृथक-पृथक होती हैं। यौन व देह सम्बन्धी नैतिकता एक सीमित नैतिकता है भारत के लोगों की आदत इस नैतिकता पर अधिक ध्यान देने की रही है। यह ब्राह्मणवादी साजिश की ही परिणति है।

'मनुवाद' शब्द पर मुझे आपत्ति है। 'मनुवाद' शब्द का प्रयोग 1990 के आसपास

कांशीराम और मायावती ने एक सोची-समझी योजना के तहत शुरू किया था ताकि वक्त-जरूरत ब्राह्मणों से हाथ मिलाया जा सके। डॉ. अम्बेडकर ने केवल ब्राह्मणवाद शब्द का प्रयोग किया और यह सही भी है। वैसे तो ब्राह्मणवाद में भी यौन-शुचिता के लिए कोई स्थान उन्नीसवीं सदी तक नहीं रहा। सारे ब्राह्मणी शास्त्र स्त्री को मात्र वस्तु और बच्चे जनने और पुरुष की यौन-तृप्ति की मशीन बना देने के लिए कटिबद्ध हैं। यह संकल्पना उन्होंने श्रमण संस्कृति से चुरायी है।

दयानन्द सरस्वती अति उदार और बहुत बड़े समाज-सुधारक थे किन्तु उन्होंने 1883 में 'सत्यार्थ प्रकाश' पुस्तक लिखी। उसमें भी उन्होंने कथित तीन उच्च वर्ण की स्त्रियों का पुनर्विवाह वर्जित किया और साथ ही नियोग की वकालत करते हुए उन पर अपने परिजनों से सहवास करके कम-से-कम ग्यारह बच्चे पैदा करने की गुलामी तय की। दुखद और घृणित बात तो यह है कि यह सब धर्म के नाम पर किया गया। ब्राह्मणवाद ने सारी बंदिशें महिलाओं पर लगाईं और धर्म के नाम पर लगाईं। इस एकांगी नैतिकता का जनक ब्राह्मण धर्म है जिस पर उन्होंने आज हिन्दू धर्म का लेबल चस्पाँ कर दिया है।

जहाँ तक जातिवाद का प्रश्न है, तथागत गौतम बुद्ध के समय में जाति-व्यवस्था थी ही नहीं, इस कारण, गौतम बुद्ध के जातिवाद के समर्थक होने का प्रश्न ही नहीं है। तथागत समता के समर्थक थे। जो समता का समर्थक होता है वह न तो जातिवाद का समर्थक हो सकता है और न वर्ण-व्यवस्था का।

गौतम बुद्ध श्रमण परम्परा, श्रमण संस्कृति के समर्थक थे। उनकी विचारधारा के आधार थे अनीश्वरवाद, अनित्यवाद, कार्य कारण संबंध और सदाचार। उन्होंने इन सिद्धांतों को कार्य रूप में परिणत भी किया। उनके भिक्षु संघ के दरवाजे सभी के लिए खुले थे। उसमें प्रवेश के लिए कोई भेदभाव नहीं किया जाता था। उन्होंने स्त्रियों के लिए भी संघ के दरवाजे खोले। वे शासित थे। उन्होंने संघ के लिए नियम बनाए। बौद्ध-धम्म की शिक्षाओं के प्रसार के लिए भिक्षुओं के रूप में समाज के पथ-प्रदर्शक तैयार किए।

ये भिक्षु परोपजीवी नहीं थे। बीस वर्ष तक बुद्ध के शिष्यों ने समाज से चीवर तक स्वीकार नहीं किया। पांशकुलिक रहे गुदड़ी ओढ़ कर रहे। जब चीवर ग्रहण की आज्ञा शाशिता ने दी तो कहा चीवर फट जाय तो अंगवस्ता बनाओ, अंगवस्ता फट जाय तो झाड़न बनाओ। ऐसा था बुद्ध का शासन! ऐसे शासन में जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं था। जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था तो ब्राह्मणवाद की साजिश है। इस साजिश का सूत्रपात बुद्ध के चार सौ वर्ष बाद पुष्यमित्र शुंग नामक ब्राह्मण ने किया।

बुद्ध क्षत्रिय थे और वर्तमान दलित क्षत्रिय नहीं थे यह भ्रम ब्राह्मणों का फैलाया

हुआ है जिसे बहुत सारे दलित बुद्धिजीवी भी जाने-अनजाने में फैला रहे हैं। वस्तुतः क्षत्रिय शब्द समूचे गैर-ब्राह्मण वर्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसकी पुष्टि परशुराम द्वारा पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रिय-विहीन करने के ब्राह्मणी मिथक से होती है। इस मिथक की काट के लिए वशिष्ठ-विश्वामित्र संघर्ष के मिथक को खड़ा किया गया है। जो ब्राह्मण गौतम बुद्ध को आज अपनी वर्ण-व्यवस्था में न केवल क्षत्रिय मानते हैं वरन उन्हें विष्णु का अवतार मानते हैं, वही ब्राह्मण उन्हें जीते जी काले और ब्रह्मा के पैरों की उपज बताने से नहीं चूकते। त्रिपिटक का अम्बट्ट सूत्र इसकी पुष्टि करता है। अम्बट्ट नामक ब्राह्मण उन्हें अशिष्टतापूर्वक कहता है “हे गौतम, जो मुण्डक, श्रमण, नीच, काले, ब्रह्मा के पेट की सन्तान हैं, उनके साथ ऐसे ही कथा-संलाप किया जाता है।” *

ब्राह्मणी वर्ण-व्यवस्था में सारे भारतीय मूल निवासी या तो शूद्र में परिगणित होते थे या वर्ण-बाह्य श्रेणी में। तीन उच्च वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, आक्रमणकारी आर्य-ब्राह्मणों की आंतरिक व्यवस्था थी। वर्ण का अर्थ ‘रंग’ होता है। इन तीनों का वर्ण श्वेत था इसलिए उन्हें ‘सवर्ण’ की संज्ञा प्राप्त हुई। इसी कारण अम्बट्ट ने बुद्ध को काला कहा था। वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था के जनक और नियामक ब्राह्मण थे। जाति और वर्ण उनके बनाए हथियार हैं जो उन्होंने समय-समय पर भारतवासियों को आपस में लड़ाने के लिए प्रयुक्त किये।

पुष्यमित्रो षड्यंत्र का प्रतिफलन प्रतिक्रांति के रूप में हुआ और बौद्ध धर्म के पराभव के फलस्वरूप ब्राह्मणों की बन आयी और वे अपने शास्त्रीय भ्रम फैलाने में कामयाब हुए। भारत में इससे पहले न ब्राह्मणी वर्ण-व्यवस्था प्रभावी थी और न ही जातियाँ विद्यमान थीं। ऐसे में दलित और क्षत्रिय का विभाजन बेमानी हो जाता है। इस प्रश्न को इतिहास के इस आईने में देखना चाहिए।

डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर कोई भूल नहीं की थी। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर युग-प्रवर्तक महापुरुष थे। जो व्यक्ति ब्राह्मणवादी विधि-व्यवस्था, मनुस्मृति प्रणीत व्यवस्था को अपदस्थ करके उसके स्थान पर भारत का समता, नैतिकता एवं सदाचार समन्वित संविधान दे सकता है वह भूल करेगा, यह सोचना भी गलत है। बाबासाहब ने यह निर्णय एकदम आनन-फानन में नहीं लिया था। उन्होंने 13 अक्टूबर 1935 को येवला (नासिक) में इस बात की घोषणा की थी “मैं हिन्दू के रूप में पैदा हुआ, यह मेरे बस में नहीं था। किन्तु मैं हिन्दू के रूप में मरूँगा नहीं।”

इस घोषणा के पूरे इक्कीस वर्ष बाद 14 अक्टूबर 1956 के दिन उन्होंने नागपुर में ऐतिहासिक धर्मांतरण किया जिसमें तीन लाख से अधिक लोग सम्मिलित थे, जो बौद्ध बने थे। बाबासाहब कोई धर्म अंगीकार कर सकते थे तो यह बौद्ध

धम्म ही हो सकता है। बाबासाहब क्या कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति कोई धर्म स्वीकार कर सकता है तो वह बौद्ध धम्म ही हो सकता है। बाबासाहब जानते थे कि चतुर-चालाक ब्राह्मण उनकी विचारधारा और उनके आन्दोलन को ध्वस्त करने के लिए अनेकानेक साजिशें करेंगे इसलिए वे जीते जी अपने अनुयायियों को ब्राह्मणवाद की परिधि से बाहर खड़े कर गये।

हिन्दूवाद तो ब्राह्मणवाद का एक मुखौटा भर है। वैदिक, आर्यसमाज, सनातन, पौराणिक आदि अन्य मुखौटे हैं। डॉ. धर्मवीर जैसे लोग ब्राह्मणवाद रूपी शत्रु को सीधे-सीधे न तो चीन्हते हैं न उसकी पहचान करते हैं न घोषणा ही करते हैं कि इस देश के लोगों का शत्रु है कौन, जिसके खिलाफ वे युद्ध ठान रहे हैं। ऐसे अर्ध सत्य को उठाकर घूमने वाले बुद्धिजीवियों पर कौन समझदार व्यक्ति विश्वास कर सकता है?

... के आलोचक का फासीवाद

ओमप्रकाश वाल्मीकि

‘स्त्री-विमर्श’ की आड़ में इधर कुछ ऐसे सवाल उठाये जा रहे हैं, जो किसी सार्थक बहस का हिस्सा नहीं लगते हैं। ये सवाल बाह्य तौर पर प्रगतिशील और अन्तर्द्वन्द्वों की गहनता समझने की कोशिश होती है, तो निष्कर्ष पुरातनपंथी फासीवाद और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रबल समर्थक दिखायी देते हैं। जिसमें स्त्री-विरोध मुखरता से अभिव्यक्त होता है। ये सवाल पितृसत्तात्मक व्यवस्था से उत्पन्न अंतर्विरोधों को और भी ज्यादा जटिल बनाने की कोशिश करते हैं और साथ ही दलित विमर्श से जुड़े वैचारिक संवाद में घालमेल करने की मंशा भी दिखायी देती है। ये घालमेल ऐसे रचनाकारों, आलोचकों द्वारा किये जा रहे हैं, जो स्वयं को दलित-संघर्ष के साथ खड़ा होने का भ्रम पैदा करते हैं लेकिन इनकी रचनाओं में कहीं दलित चेतना का कोई अंश भी दिखायी नहीं पड़ता है। इसीलिए घालमेल की संभावनाएँ ज्यादा प्रबल हैं।

दलित-साहित्य का वैचारिक आधार डॉ. अम्बेडकर और बुद्ध-दर्शन है न कि रैदास और कबीर। रैदास और कबीर दलितों के प्रेरणास्रोत अवश्य हैं, लेकिन दलित-आंदोलन, दलित साहित्य के आदर्श नहीं हैं। दलित चेतना में जो जुझारूपन और जीवटता है, वह अम्बेडकर की देन है क्योंकि कबीर और रैदास के सामाजिक आंदोलन धार्मिक आख्यानो और रहस्यवाद की बारीकियों में कहीं गुम हो गया है, जो वर्ण-व्यवस्था से जूझने और मुक्त होने का विकल्प नहीं बन पाया। जबकि अनेक विद्वान कबीर और रैदास को बुद्ध की परंपरा से जोड़ते हैं। भक्तिकाल के अनेक कवि दलित और शूद्र हैं, फिर भी वे कोई स्वतन्त्र आंदोलन खड़ा नहीं कर पाये, जो दलितों, शूद्रों में स्वाभिमान और आत्मविश्वास पुख्ता करके, उनकी अस्मिता की पहचान बनता। ये काम डॉ. अम्बेडकर ने किया। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर की भूमिका ज्यादा प्रभावशाली है। ऐसे अनेक विद्वान विचारक हैं जो जाने-अनजाने डॉ. अम्बेडकर की इस भूमिका को नजरअंदाज करने की कोशिश करते हैं। साथ ही स्त्री विरोधी विचार की मुहिम में दलित स्त्री की अस्मिता को तार-तार कर देने की साजिश में शामिल हो जाते हैं। यह दलित साहित्य

में भटकाव पैदा करने के उद्देश्य से किया जा रहा है, ऐसी संभावनाएँ व्यक्त हो रही हैं क्योंकि दलित विरोधी खेमों में शामिल अवसरवादी विद्वान, रचनाकार, समीक्षक ऐसा कर सकते हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

साहित्य की किसी मान्यता को स्थापित होने में समय लगता है। साहित्य का पाठक सबसे बड़ा समीक्षक होता है। यह मेरी मान्यता है। राजधानियों के वातानुकूलित सभाकक्षों में गाल-बजाऊ विमर्शों से साहित्यिक सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने का भ्रम जो लोग पाले बैठे हैं, वे बहुत बड़ी गफलत में हैं, उनके इर्द-गिर्द जो चाटुकारों, अवसरवादी, पुरुषवादी, जातिवादी संकीर्ण लेखकों, रचनाकारों का जोड़ है, वह उन्हें सोचने का समय ही नहीं देती है। जिनके लिए अपनी स्वार्थपरकता और निजी हितों का मुख्य प्रश्न ही सर्वोपरि होता है। जिन्हें वे विमर्श की आड़ में साधने में जुटे रहते हैं।

साहित्य में सकारात्मक, गुणात्मक पहलुओं के बजाय, जब सिर्फ नकारात्मक पहलुओं पर ही विमर्श केंद्रित होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि विमर्श दिशाहीनता की ओर जा रहा है। नकारात्मक दृष्टिकोण साहित्य विमर्श को भटकाने का काम करते हैं। इसीलिए जरूरी होता है कि रचना का मूल्यांकन, विश्लेषण करते समय तार्किक और तथ्यों के आधार पर हो, न कि कल्पनाजनित छिपे तथ्यहीन रहस्यों को ढूँढ़ लेने के आधार पर आधारित हो। प्रेमचंद को लेकर जो इन दिनों कहा जा रहा है, वह भी इसी तरह के तर्कों पर आधारित है जहाँ प्रेमचंद के बहाने दलित स्त्री की अस्मिता पर चोट की जा रही है। इस तरह के आरोप-प्रत्यारोप दिशाहीनता के ही परिचायक हैं जो दलित स्त्री की अस्मिता को समझने के बजाय, अपनी व्यक्तिगत कुंठाओं और त्रासदियों को लादने के प्रयास ही कहे जाएँगे लेकिन इन पर एक विशाल जनसमूह की पैनी नजर होती है, जो इन्हें विफल कर देने की क्षमता रखती है। इसीलिए जब-जब भी ऐसे नकारात्मक विचार साहित्य में आए, थोड़े समय बाद ही वे हाशिये पर चले जाते हैं।

साहित्य और समाज अलग-अलग ईकाई होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक होते हैं। साहित्य में आलोचना का जो विशिष्ट महत्व होता है, वही उसे समाज-सापेक्ष, वस्तुगत बनाता है।

दलित स्त्री ने तमाम अवरोधों, सामाजिक, धार्मिक प्रपंचों, वैचारिक षड्यंत्रों के बावजूद कभी भी ऐसे छदम विचारों की परवाह नहीं की है, जो उसकी सृजनात्मक, श्रमशक्ति की महत्ता को स्थापित करने के बजाय उसे व्याभिचारिणी सिद्ध करे। ऐसे विचारक (?) जो शब्दों से खिलवाड़ तो कर सकते हैं लेकिन वे अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं की पहचान को स्थापित करने की कोशिश नहीं करते। वे उन तमाम धनात्मक, सकारात्मक मूल्यों की भी अनदेखी कर देने के लिए अभिशप्त हैं और

अपनी निजी कुंठाओं का सामान्यीकरण करके दलित स्त्री को लांछित करने की कोशिश में रत हैं। स्त्री की कोख से जन्मा पुरुष आलोचक जब उसी स्त्री को व्याभिचारिणी या जारकर्म में रत कहे, तब ऐसे आलोचकों से तर्कपूर्ण तथ्यों और आंदोलन को आगे बढ़ाने की आशा करना व्यर्थ है। एक दलित स्त्री तमाम विपरीत परिस्थितियों में अपने परिवार का उत्तरदायित्व जिस ऊर्जा और मानवीय सामाजिक सरोकारों के साथ वहन करती है, उसे अनदेखा करना स्त्री के साथ अन्यायपूर्ण कृत्य ही कहा जाएगा। दलित स्त्री किसी भी युग में घर की चार दीवारी में कैद नहीं रही है। उसने पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर, अपनी सक्रियता से अपने दायित्वों का निर्वाह किया है। उसने श्रमसाध्य कार्यों से लेकर विश्वसनीयता, नैतिकता और वीरता के आदर्श रचे हैं। चाहे राजसत्ता का युग रहा हो या सामंतों का या तथाकथित उच्चवर्णियों की सेवा-चाकरी, खेती-बाड़ी, उत्पादन से जुड़े कार्य, कला कौशल, संगीत-नृत्य, जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों में उसने अपनी पहचान बनायी है। लेकिन पुरुष वर्चस्व और ब्राह्मणवादी वर्चस्व ने उसे हमेशा नकारा है। निजी पारिवारिक फैसलों में भी वह बराबर की भागीदार रही है।

उसका शोषण-दमन घर-बाहर दोनों जगह हुआ है लेकिन उसने कभी भी हार नहीं मानी। यही उसके जीवट और संघर्षमय जीवन का रहस्य है। जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है।

दलित संघर्ष में दलित स्त्री का और भी ज्यादा महत्व है क्योंकि समाज में रची-बसी विषमतामूलक समाज संरचना को तोड़ने में दलित स्त्री की भूमिका अहम रही है। जबकि पितृसत्तात्मक मानसिकता ने उन्हें घर की देहरी में कैद करने, उसकी स्वतन्त्रता को खंडित करने, उसकी अस्मिता पर चोट करने का कोई भी अवसर नहीं छोड़ा है।

प्रेमचंद के बहाने दलित स्त्री पर जो हमला हुआ, वह इसी कड़ी का हिस्सा है। जिसमें तर्क और तथ्यों को मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़ कर अपनी व्यक्तिगत कुंठा को स्थापित करने की मंशा ही झलकती है। ये प्रयास दलित आन्दोलन को कमजोर करते हैं। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का यह अर्थ कतई नहीं कि चौराहे पर खड़े होकर आने-जाने वाली स्त्री को लांछित करें, अपमानित करें, जो समाज स्त्री को अपमानित करता है वह असभ्यता की अमानवीय अंधेरी खाइयों में खो जाता है।

बेधर्मवीर और बेशर्मवीर बनने की दास्तान

डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना

डॉ. धर्मवीर से मेरी पहली मुलाकात आज से लगभग 20 वर्ष पहले कनाट प्लेस के 'काफी हाउस' में हुई थी, जहाँ उन दिनों विष्णु प्रभाकर और भीष्म साहनी जैसे वरिष्ठ लेखक भी नियमित रूप से आया करते थे। तब तक उन्होंने कुछ कविताएँ ही लिखी थीं और उनमें से कुछ पुस्तकाकार भी छप चुकी थीं। तभी उन्होंने विष्णु प्रभाकर जी से संबंधित एक पुस्तक भी लिखकर छपवाई, जिसका शीर्षक था 'लोकायती वैष्णव : विष्णु प्रभाकर।' इस पुस्तक की पर्याप्त चर्चा हुई लेकिन डॉ. धर्मवीर को संभवतः इससे सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने 'सीमांतनी उपदेश' शीर्षक से एक नई पुस्तक खोजकर प्रकाशित कराई। इस पुस्तक में बड़े ही खोजपूर्ण तरीके से यह सिद्ध किया गया था कि स्त्री को चूंकि कुछ भी लिखने-पढ़ने या कहने की स्वतन्त्रता नहीं थी, इसलिए वह यह सब करती थी, तो 'गुमनाम' रहकर ही करती थी। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद से उन्हें न जानने वाले लोग भी उन्हें जान गए क्योंकि उन्होंने इस पुस्तक का व्यापक प्रचार किया-कराया और उससे उनकी दलित वर्ग से आए एक ऐसे हिंदी लेखक की छवि निर्मित हो गई, जो आई.ए. एस. वर्ग का सुविधा-सम्पन्न अधिकारी होते हुए भी स्त्रियों और पिछड़े वर्ग के लोगों का हिमायती है।

उक्त 'छवि' के फलस्वरूप डॉ. धर्मवीर को, केरल चले जाने के बाद भी, दिल्ली में काफी मान-सम्मान मिलता रहा और राजेन्द्र यादव जैसे वरिष्ठ कथाकार भी अपनी पत्रिका 'हंस' में उनके आलेख और टिप्पणियाँ आदि छापने लगे तथा उनकी पहली 'कहानी' छापते हुए भी उनका परिचय एक 'चर्चित कथाकार' के रूप में देने लगे। नतीजा यह हुआ कि डॉ. धर्मवीर 'चर्चित' शब्द से प्रेरित होकर संभवतः स्वयं भी लगातार चर्चा में बने रहना चाहने लगे और इसीलिए उन्होंने कुछ वर्षों पहले कबीरदास के बारे में जो पुस्तक लिखी, उसमें उन्होंने पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा कई अन्य विद्वानों की काफी खिंचाई की।

उक्त सारे 'रचना-कर्म' या 'रचना-क्रम' के परिणामस्वरूप डॉ. धर्मवीर जैसे-जैसे 'चर्चित' होने लगे, वैसे-वैसे चर्चा के केंद्र में रहने के मोह में भी पड़ने लगे और

इसीलिए 'हंस', 'कथादेश' या 'जनसत्ता' आदि में विवादास्पद लेख और टिप्पणियाँ लिखने लगे।

डॉ. धर्मवीर की नई पुस्तक-शृंखला 'मातृसत्ता, पितृसत्ता और जारसत्ता' की पुस्तकों और विशेष रूप से हिंदी-उर्दू के विश्वप्रसिद्ध लेखक प्रेमचंद के बारे में लिखी हुई उनकी मात्र 80 पृष्ठों की पुस्तिका को भी एक प्रकार से उनके चर्चा में बने रहने के लिए विवादास्पद लेखन का ही परिणाम माना जा सकता है। मुझे लगता है इस विवादास्पद लेखन के कारण ही राजेन्द्र यादव जी उनके बारे में अपनी पत्रिका 'हंस' में छह पृष्ठों का 'संपादकीय' लिखने को मजबूर हुए और रमणिका जी भी 'हंस' में उक्त पुस्तिका की समीक्षा लिखने के बाद 'युद्धरत आम आदमी' का जो विशेषांक निकाल रही हैं, उसमें भी डॉ. धर्मवीर किसी-न-किसी रूप में चर्चा के केंद्र में रहेंगे। यह कुछ-कुछ उसी तरह है जैसे इन दिनों अबू सलेम 'खलनायक' बनकर हर टी.वी. चैनल द्वारा प्रचार पा रहा है और अनेकानेक अभियोगों से घिरे होकर भी चर्चाओं के केंद्र में है!

अस्तु, उक्त 'भूमिका' से इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि डॉ. धर्मवीर ने 'जारसत्ता' की खोज का जो दावा किया है और उसके माध्यम से 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' पुस्तिका में प्रेमचंद के 125वीं जयंती-वर्ष में उन पर 'जारकर्म' के जो अभियोग सुनिश्चित किए हैं, वे मूलतः और मुख्यतः उनके चर्चा-मोह का ही परिणाम है। अतः मेरा अपना सुविचारित मत यह है कि उन्हें किसी भी प्रकार से और ज्यादा विवादास्पद न बनाया जाए, बल्कि उनके कुतर्कों के भी तर्कसंगत उत्तर ही खोजे जाएँ और प्रस्तुत किए जाएँ।

मैंने स्वयं आज से तीस वर्ष पहले सन् 1975 में 'काम-संबंधों के यथार्थ' पर अपना शोधग्रन्थ लिखा था और तब उसके लिए लगभग 200 पाठकों-पाठिकाओं और लगभग 100 लेखक-लेखिकाओं के प्रेम और काम से संबंधित अनुभूतियों और विचारों का एक गोपनीय प्रश्नावली के आधार पर सर्वेक्षण भी किया था। उस प्रश्नावली के माध्यम से दिल्ली में रहने वाले लगभग 80% पुरुषों और लगभग 64% महिलाओं ने अपने विवाहपूर्व या विवाहेतर प्रेम अथवा काम-संबंधों को स्वयं स्वीकारा था। अंततः छोटे शहरों और कस्बों की स्थिति जानने के लिए मैंने एक नगर बरेली और एक कस्बा बिसौली के पाठक-पाठिकाओं का भी सर्वेक्षण किया था। उसके माध्यम से भी यह तथ्य उभरकर सामने आया कि जीवन में कभी-न-कभी विवाहपूर्व या विवाहेतर प्रेम अथवा काम-संबंध रखने वाले पुरुष और स्त्रियाँ वहाँ भी कुछ कम नहीं हैं और आंकड़ों की दृष्टि से 50% से अधिक ही हैं।

इसी क्रम में यह भी उल्लेखनीय है कि अपने शोधग्रन्थ के निष्कर्षों को अखिल भारतीय स्तर पर परखने के लिए मैंने 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' पत्रिका के

सहयोग से सन् 1981 में एक व्यापक सर्वेक्षण भी किया, जिसमें 601 पाठक-पाठिकाओं ने भाग लिया। इस सर्वेक्षण के माध्यम से भी यह तथ्य उभरकर सामने आया कि लगभग 80% पुरुष और 58% महिलाएँ जीवन में कभी-न-कभी विवाहपूर्व या विवाहेतर प्रेम अथवा काम-संबंध का स्वाद चख चुकी हैं। यह बात अलग है कि उक्त व्यक्तियों के विवाहपूर्व या विवाहेतर प्रेम अथवा काम-संबंधों में पूर्ण शारीरिक संपर्क लगभग 32% पुरुषों तथा 14% महिलाओं के लिए ही संभव हो पाया।

उक्त निष्कर्षों और पिछले दिनों 'इंडिया टुडे' आदि पत्रिकाओं द्वारा किए गए सर्वेक्षणों से स्पष्ट है कि विवाह-संस्था के वर्चस्व के बावजूद विवाहपूर्व एवं विवाहेतर प्रेम तथा काम-संबंध हमेशा रहे हैं और अभी भी जारी हैं। इसलिए ऐसे संबंधों को केवल 'व्यभिचार' मानना या उन्हें 'जारकर्म' की संज्ञा देना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता। इस बारे में 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' में व्यक्त विचारों का विवेचन करने से पूर्व कुछ लेखिकाओं के विचार यहाँ उद्धृत करना चाहूँगा। ये विचार मैंने अपने शोधकार्य के दौरान स्वयं साक्षात्कार करके संबंधित लेखिकाओं से एकत्रित किए थे। (मैं यहाँ लेखकों के विचार जानबूझ कर इसलिए नहीं उद्धृत कर रहा, क्योंकि उन पर पुरुषवादी मानसिकता का आरोप लगाया जा सकता है।) तो प्रस्तुत है कुछ सुप्रसिद्ध-सुपरिचित हिंदी लेखिकाओं के विचार

कृष्णा सोबती : विवाहपूर्व और विवाहेतर सेक्स-संबंधों को उचित-अनुचित के बजाय 'स्वाभाविक' कहना ज्यादा सही है। कोई भी स्त्री-पुरुष यदि स्वेच्छा से सेक्स-संबंध रखते हैं, तो दूसरों को क्या हक है कि वे उन पर टिप्पणी करें या उनके कार्य को अनुचित बताएँ।

मनू भंडारी : किसी भी प्रकार के सेक्स-संबंध के बारे में सैद्धांतिक रूप से अनुचित कुछ भी नहीं है। --पर व्यवहार के धरातल पर चाहते सब यही हैं कि लड़की बिलकुल 'फ्रिज' से निकलकर आ रही हो।

शशिप्रभा शास्त्री : विवाह के बाद कई चीजें सामने आ सकती हैं। पति की नपुंसकता या उसके अन्य स्त्री के साथ संबंध हो सकते हैं और पत्नी को इस आधार पर अरुचि हो सकती है। फिर वह किसी दूसरे के साथ संबंध स्थापित कर ले, तो क्या यह अनुचित है?

कृष्णा अग्निहोत्री : विवाह की सफलता के निर्वाह में भारतीय पति सहयोग नहीं देता, न ही पत्नी की शारीरिक सन्तुष्टि को महत्व देता है। ऐसे में पत्नी भी इतर संबंध रख सकती है।

सांत्वना निगम : इनमें अनुचित कुछ भी नहीं है। यह व्यक्ति विशेष की

रुचि पर निर्भर है।

निरूपमा सेवती : विवाह को व्यक्ति और समाज के लिए आवश्यक संस्था मानती हूँ लेकिन फिर भी निजी स्वतन्त्रता से बढ़कर नहीं।

मृदुला गर्ग : किसी की निजी (सेक्स-संबंधों की) समस्या को उचित-अनुचित की कसौटी पर परखना ही मैं गलत मानती हूँ।

उक्त लेखिकाओं के अलावा मैं यहाँ उन अनेक पाठिकाओं के विचारों को भी उद्धृत कर सकता हूँ, जिनका संकलन मैंने अपने शोधकार्य के दौरान या बाद में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सहयोग से सन् 1981 में किया था! लेकिन विस्तार में जाने की बजाय मैं यहाँ संक्षेप में केवल 5 पाठिकाओं के विचारों को ही उद्धृत कर रहा हूँ

1. **उर्मिला गुप्ता (दिल्ली)** : यदि पति द्वारा उपेक्षित नारी अन्यत्र कहीं अपने लिए प्रेम पा जाती है, तो उस व्यक्ति के साथ उसके शारीरिक संबंधों पर प्रश्नचिह्न कैसे लगाया जा सकता है?

2. **शशि शर्मा (दिल्ली)** : आज के जीवन को बौद्धिक धरातल पर नापने-तोलने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप असन्तुष्ट परिस्थितियों में विवाहेतर संबंध बहुत अनुचित नहीं कहे जा सकते।

3. **कुसुम तिवारी (हल्द्वानी)** : प्रेम, सेक्स, विवाह, तलाक आदमी का निजी मामला है। जिन मूल्यों को कोई हेय दृष्टि से देखता है, तो कोई इसका अनुसरण करता है। इसलिए अपने को सही और दूसरे को गलत समझना निराधार है।

4. **पूनम खन्ना (वाराणसी)** : आधुनिक दृष्टिकोण से विवाह-संस्था काफी हद तक अप्रासंगिक हो गई है, क्योंकि विवाहित साथी के साथ प्रायः जीवन-भर सुखपूर्वक रह पाना कठिन है।

5. **गीता (पिपरी, जि. मिर्जापुर)** : सेक्स को शारीरिक आवश्यकता के साथ मानसिक आवश्यकता भी समझना चाहिए। सेक्सजनित कुंठाओं और तनावों से मुक्त होकर ही व्यक्ति देश और समाज की प्रगति में अपना उचित योगदान देने में समर्थ हो सकता है।

ऊपर उद्धृत लेखिकाओं तथा पाठिकाओं के विचारों से भी इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि, किन्हीं स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम और सेक्स-संबंधों को 'स्वाभाविक', 'उचित', 'विशेष परिस्थिति में उचित' अथवा 'अनुचित' भले माना जाए, किन्तु 'व्यभिचार' या 'जार-कर्म' मानना सरासर अन्याय ही कहा जाएगा और मुझे लगता है कि यही अन्याय डॉ. धर्मवीर ने 'प्रेमचंद: सामंत का मुंशी' में न केवल प्रेमचंद के साथ किया है, बल्कि उनकी कहानी 'कफन' की दलित स्त्री-पात्र बुधिया के

साथ भी किया है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने बिना किसी सबूत के अपनी कल्पना के अनुसार उसे अपराधी सिद्ध करके मरणोपरांत अनेक सजा भी सुना दी है।

कानून के जानकार तो जानते ही हैं, पर यह बात एक आम आदमी भी जानता है कि जब तक अपराध सिद्ध न हो जाए, तब तक किसी भी अभियुक्त को सजा नहीं दी जाती। बावजूद इसके यहाँ डॉ. धर्मवीर ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' में प्रेमचंद के साथ-साथ अनेक अन्य लोगों को भी कटघरे में खड़ा कर दिया है और बिना किसी ठोस सबूत के 'अपराधी' सिद्ध करके सजा सुना डाली है। वे अपनी पुस्तिका के अंतिम अध्याय में लिखते हैं "भेरी जानकारी में कोई हिन्दू लेखक ऐसा नहीं है, जो वैवाहिक मामलों में तलाक का हामी हो, कविता और साहित्य कहकर जारकर्म के सब हामी हैं। जैनेन्द्र कुमार ने अपनी पुस्तक 'प्रेम और विवाह' में अपने जार-सूत्र ही लिखे हैं।---" (पृ. 79) इसी क्रम में वे आगे लिखते हैं "प्रेमचंद से शुरू होकर हिंदी साहित्य में ऐसी राय बनी है कि, लेखक होना जार होना हो गया है। -..साहित्यकारों का सारा सौंदर्यशास्त्र और धार्मिकों का सारा अध्यात्मवाद, इस कील पर घूम रहा है कि व्यभिचारी का कुछ न बिगड़े। उनके सारे प्रयत्न इस बात के लिए होते हैं कि सौंदर्य और अध्यात्म के बहाने जारकर्म को प्रोत्साहन और पुरस्कार मिलते रहें।" (वही)

उक्त इकतरफा निर्णय को पढ़कर कौन मूर्ख होगा, जो डॉ. धर्मवीर से सहमत होगा और उन्हें अपना समर्थन देना चाहेगा? और तो और, उनकी उक्त पुस्तिका के विमोचन के अवसर पर दलित महिलाओं तक ने उनका खुलकर विरोध किया था। (देखें 'हंस' के अक्टूबर, 2005 के अंक में प्रकाशित रिपोर्ट) ऐसे में सबसे बड़ा प्रश्न तो यही है कि डॉ. धर्मवीर ने किसके हित में अपनी पुस्तिका लिखी है और प्रत्येक विवाहपूर्व या विवाहेतर प्रेम और सेक्स-संबंध को 'जारकर्म' घोषित करके किसका भला करना चाहा है?

प्रसंगवश यहाँ मैं यह अवश्य कहना चाहूँगा कि यदि किसी स्त्री का बिना उसकी मर्जी के यौन-शोषण होता है या कोई उसके साथ बलात्कार करता है, तो वह अवश्य एक दंडनीय अपराध है और इसके लिए संबंधित पुरुष को, वह चाहे 'द्विज' हो या 'कायस्थ' या 'दलित' दंड भी दिया जाना चाहिए। जैसा कि मैंने अनेक लेखिकाओं और पाठिकाओं के विचारों को उद्धृत करके सिद्ध किया है, किसी के भी प्रेम या काम-संबंध को मात्र किसी कल्पना के आधार पर 'वर्जित' नहीं माना जाना चाहिए।

अस्तु, डॉ. धर्मवीर ने 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' में जिस तरह स्वयं प्रेमचंद

और उनके कई पात्रों पर जारकर्म का आरोप लगाया है और बाद में अनेक अन्य लेखक-लेखिकाओं, यहाँ तक कि दलित लेखिकाओं को भी जारकर्म में लिप्त बताया है, उससे यही पता चलता है कि वे बिना किसी संवाद के विवाद उठाकर चर्चा के केंद्र में बने रहना चाहते हैं। ऐसे डॉ. धर्मवीर को, उनकी 'काल्पनिक खोज' के निमित्त, मैं केवल यही सुझाव देना चाहूँगा कि वे तनिक अपने और अपने 'कुटुंब' के लोगों के जीवन और उनके यथार्थ का भी विश्लेषण करके देखें। तभी उन्हें यह भी पता चल जाएगा कि वे अतिरिक्त चर्चा के मोह में सभी प्रकार के नियम-धर्म को भूलकर कहीं 'बेधर्मवीर' और 'बेशर्मवीर' तो नहीं बन गए हैं!

अंत में यह तथ्य भी रेखांकित करना चाहूँगा कि डॉ. धर्मवीर ने 'जारकर्म' का विवाद खड़ा करके उसके माध्यम से अनेक बेबुनियाद विवाद भी खड़े किए हैं। अतः 'जारकर्म' या 'जारसत्ता' को खारिज करते ही अन्य संबंधित विवाद स्वतः ही ध्वस्त हो जाएँगे। आमीन!

जारकर्मि दार्शनिकता का दस्तावेज

हरीश मंगलम्

डॉ. दयानंद बटोही ने 'साहित्य और सामाजिक क्रांति' में लिखा है कि "दलित साहित्य, दलित साहित्यकारों की ही रचनाएँ हैं। ऐसा कोई दुःराग्रह नहीं है। कबीर, रैदास, प्रेमचंद और निराला या फिर अन्य कोई भी दलित रचनाकार बन सकता है यदि उन्होंने नीति, धर्म और वर्णगत भावना से ऊपर जाकर साहित्य को भावना के धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।" पर डॉ. धर्मवीर के दिमाग में तो : "दलित साहित्य के लेखन को लेकर गैर-दलित लेखकों से काम बिगड़ता ही है, सुधरता नहीं। (पृ. 16)... दलित की समस्याओं का वर्णन करने से दलित साहित्य का सृजन नहीं हो जाता। दलित की भूख, पीड़ा और त्रासदी के बखान में उसकी इतिश्री नहीं होती। दलित साहित्य का असली सृजन तब होता है, जब उसमें दलित का चिन्तन आता है।" (पृ. 53) 'दलित साहित्य' और 'दलित साहित्यकार' के बारे में ऐसा आधा-अधूरा मत धर्मवीर के साहित्य दर्शन की मर्यादा सामने ला देता है। अगर हमें दलित साहित्य का सही अर्थ पाना है तो मेरे हिसाब से इन बातों पर ध्यान देना पड़ेगा। मैंने पहले ही लिखा है कि "दलित साहित्य कोई एक वर्ग-जाति-क्षेत्र-प्रान्त और देश के लिए निश्चित की हुई कोई चीज नहीं है... गैर दलित सर्जकों के हाथ से भी दलित साहित्य बन रहा है। सिर्फ दलित साहित्यकारों द्वारा रचा गया साहित्य ही दलित साहित्य है, कह कर इसे सीमित करने की जरूरत नहीं है (एकवचन- विवेचनग्रन्थ)" हम धर्मवीर को बताना चाहते हैं कि आप पहले 'दलित साहित्य' का पूरा अध्ययन करें, उसकी लाक्षणिकता के मूल्यों को समझें कि दलित साहित्य क्या है?

डॉ. गिरीश कुमार रोहित ने अपने शोध निबन्ध 'दलित चेतना केंद्रित हिन्दी-गुजराती उपन्यास' में बताया है "महाराष्ट्र में ज्योतिबा के समाजोत्थान कार्य के साथ-साथ बाबा साहब अम्बेडकर की विचारधारा के फलस्वरूप छुआछूत-विरोधी आंदोलन ने और जोर पकड़ा। इसका प्रभाव पूरे भारत पर पड़ा था। वह आंदोलन केवल अस्पृश्यता तक ही सीमित नहीं था। इसके भी आगे वह हर प्रकार की परिस्थितियों से त्रस्त मनुष्य को स्वतन्त्रता दिलाकर उसके सम्मानित अस्तित्व की

खोज का आंदोलन था। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप दलित साहित्य का आवर्तन हुआ जो सबसे पहले दलित की मनुष्य के रूप में पहचान करवाकर उसे मानवीय अधिकारों से परिचित कराता है।”

सिर्फ ‘मनुष्य’ और ‘मानवीयता’ को केंद्रस्थ करके चलने वाला दलित साहित्य समतामूलक न्यायिक प्रणाली की अपेक्षा रखता है। डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे का यह मत कि “दलितों द्वारा लिखे गये साहित्य को ही दलित साहित्य कहा जाय।” इस परिभाषा की अपेक्षा हमारा विश्वास इस परिभाषा में है कि जिस साहित्य में दलित-जीवन की संवेदना को प्रखरता से पकड़ा जाता है, वह दलित-साहित्य है, फिर वह किसी भी वर्ण या जाति के व्यक्ति द्वारा क्यों न लिखा गया हो। हिन्दी के प्रसिद्ध दलित साहित्यकार एवं पत्रकार मोहनदास नैमिशराय के “दलित साहित्य यानी बहुजन समाज में सभी मानवीय अधिकारों एवं मूल्यों की प्राप्ति के उद्देश्य से लिखा गया साहित्य।” शब्द डॉ. धर्मवीर को समझकर आगे बढ़ना चाहिए।

‘प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी’ की भूमिका में डॉ. धर्मवीर लिखते हैं “यदि एक भी स्त्री या पुरुष का अपमान होता है तो वहाँ राष्ट्र अपमानित हो जाता है। लेकिन यहाँ जातियों के रूप में वर्गों के वर्ग बनाकर असंख्य लोगों को अछूत कहकर अपमानित किया जाता है। इसे राष्ट्र और राष्ट्र का निर्माण कौन कहेगा?... यह राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने का कौन-सा लक्षण है? कौन-सा तरीका है? वह एक ओर स्त्री-पुरुष के अपमान की दुहाई देते हैं तो दूसरी ओर जातियों में विभाजित राष्ट्र की बात भी दोहराते हैं, लेकिन यह सब भूमिका तक ही सीमित है। जब हम पुस्तक पढ़ते हैं तो पाते हैं कि धर्मवीर ने पन्ने-पन्ने पर स्त्री जाति को, साहित्यकार के निजी जीवन को अपनी जारकर्मी दार्शनिकता के माध्यम से अपमानित किया है।

“सबसे पहले में आपको बताऊँ कि मेरी स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखने की योजना रही है।” यह धर्मवीर का कथन है, उन्होंने एक ‘योजना’ बनाई है और हम सब जानते हैं कि साहित्य में सिर्फ योजनाओं से काम नहीं चलता। साथ ही धर्मवीर ने मार्क्स, डार्विन और फ्राईड की दार्शनिकता से अपनी सोच को मिलाने की नाकाम कोशिश में ‘एक भारतीय दिमाग की खोज--- आपके धर्मवीर की खोज’ प्रकट करके आत्म प्रशंसा करने का प्रयास करने के साथ-साथ अपनी ‘जारसत्ता’ की बातों में अपना वजूद खोजा है। मान लिया कि दो-चार किताब लिखकर वजूद वाला लेखक बन जाता है तो “इस ख्याति की जानकारी दूर-दूर तक फैली हुई है कि प्रेमचंद भारत में प्रगतिशील साहित्य के पुरोधा थे” जैसे इ.एम.एस. नम्बूदरीपाद के मत को धर्मवीर बिना-वजूद कैसे उद्धृत कर सकते हैं?

युवा लेखिका अनिता भारती, रमणिका गुप्ता, प्रोमिला और ‘दलित लेखक

संघ' की अध्यक्ष डॉ. विमल थोरात जब नारी स्वातंत्र्य, दलित चेतना, समानता और मानवता की न्याय प्रणाली को आगे बढ़ा रही है तब धर्मवीर जैसे 'कामसूत्री' प्रेमचंद के सामाजिक पहलू को आधारशिला बनाकर अपनी गंवार सोच से विरोध करके 'प्रेमचंद' जैसे प्रगतिशील साहित्यकार को 'सामन्त का मुंशी' बताते हैं। धर्मवीर का मानना है "पुनर्जन्म में विश्वास और दलित साहित्य का समाधान दोनों एक साथ नहीं चल सकते।" (पृ. 26) और "दलितों का लिखा हुआ साहित्य प्रेमचंद के साहित्य की काट है, उस पर रोक है, उसका क्रमिक विकास नहीं। दलित साहित्य, जिस जगह पर अपने मरने तक भी नहीं पहुँचता है।" (पृ. 80)

क्या हम आज तक 'रामायण' के वाल्मीकि या 'महाभारत' के रचनाकार 'वेदव्यास' को जाति के सही ढांचे में जान सके हैं? क्या ईसा मसीह और पैगम्बर मौहम्मद की जाति का प्रमाण हमारे पास है? उत्तर स्पष्ट रूप से 'ना' है। फिर भी, उनके हाथों रचा गया साहित्य सारे विश्व में रहबर बनकर हमारे सामने खड़ा है। लेकिन धर्मवीर लिखते हैं "भारत के जातीय वातावरण में किसी लेखक की जाति जानने से उसके साहित्य को समझने में काफी मदद मिलती है। सही मूल्यांकन के लिए साहित्यकार की पैदाईश जान लेने से लाभ ही लाभ होते हैं।" (पृ. 13) अगर यह सच है तो हमें धर्मवीर को आह्वान करना चाहिए कि जिस सोच के बलबूते पर उन्होंने अपनी गलत सोच 'प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी' में प्रस्तुत की है, पुस्तक में वह मार्क्स, डार्विन, फ्राइड और आइन्स्टीन आदि की सच्ची जाति (Real Caste) सबसे पहले प्रस्तुत करें!

प्रेमचंद को 'सामन्त का मुंशी' घोषित करने से पहले धर्मवीर को प्रेमचंद के पूर्वकालीन और समकालीन साहित्य को नजर में रखने की जरूरत थी कि क्या प्रेमचंद के पूर्व किसी भी साहित्यकार ने दलितों के साथ हो रहे अत्याचारों को शब्द दिया था? क्या किसी ने नारी यातनाओं और सामंतों के आंतक को शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत करके, जमींदारों की वृत्तियाँ समाज के सामने नंगी करने का साहस किया है? अगर नहीं, तो दलितोद्धार और स्त्री शोषण के खिलाफ आवाज उठाने वालों में प्रेमचंद अग्रणी साहित्यकार हैं। प्रेमचंद ने विपुल साहित्य की रचनाओं में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा अछूत समस्या पर सद्भावना की दृष्टि से कई उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। विचार के विकास के लिए 'हंस' जैसी पत्रिका चलाई तथा अनेक लेख प्रस्तुत किये। यह साहित्य उन्होंने भारतीय जनता के लिए लिखा।

दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की बात करें तो मेरा मानना है कि 1. पारंपरिक साहित्य में बड़ी मात्रा में उपयोग की जाने वाली श्रद्धा को विदाई! 2. रूढ़ियों से बंधे लोगों-पंडितों और असमानता के सामने जंग और 3. सामान्य जन का कल्याण

और ऐसे समाज का निर्माण जो क्षेत्रविहीन-वर्गविहीन हो” यह दलित साहित्य के प्रयोजन हैं।

एक बार विवाह करना या तीन बार, अंधविश्वास को मानना और पुनर्जन्म में आस्था रखना आदि बातें किसी भी इन्सान का जाती मामला है। यह सब व्यक्तिगत भावना के द्योतक भी हो सकते हैं, इससे ‘साहित्य सृजन’ और ‘साहित्यकार’ का क्या लेना-देना? हां, यदि साहित्यकार इन सब बातों को ‘कला’ के नाम से साहित्य में प्रवृत्त करता है तो वाचक-आलोचक के लिए बाधा रूप बन सकता है, खास करके दलित साहित्य के विषय में। पर इन्सान के ‘कर्म’ और ‘धर्म’ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। ‘इन्सान-लेखक जैसा करे वैसा ही साहित्य में लिखना चाहिए’ यह उचित होकर भी किसी लेखक पर जोर डालकर लागू नहीं किया जा सकता। मगर धर्मवीर इतने दुर्भावनाग्रस्त बन गये हैं कि खुद की सोच-विचारधारा बदलने के बगैर प्रेमचंद के व्यक्तिगत जीवन बदलने पर तुले हैं। धर्मवीर का मानना है “साहित्यकार का जैसा सामाजिक जीवन हो, वैसा ही इसका साहित्य होना चाहिए।” लेकिन ऐसी अपेक्षा की पूर्ति कोसों दूर है क्योंकि Write what the way you live-do मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन है। उदाहरण के तौर पर देखें तो, अगर लेखक ‘युद्ध कथा’ लिखना चाहे तो इसे युद्ध में जाना पड़ेगा और अगर ‘मृत्यु के अनुभव’ पर कविता-कहानी लिखनी हो तो लेखक को पहले मर जाना पड़ेगा, बाद में ‘मृत्यु’ के बारे में वह लिख सकेगा। क्या यह सम्भव है? इसीलिए कहना पड़ता है कि धर्मवीर ने अपने मन में सजाई हुई अपेक्षाएँ Artificial रखी है। यहाँ याद रहे कि हम जमाना नहीं बदल सकते, जमाने के साथ-साथ हमें बदलना पड़ता है।

अनिता भारती सही कहती है कि “आज बहुत से गैर-दलित लेखक हैं जो सच में दलितों के प्रति अपनी संवेदना लेकर उनके बराबरी के हकों की लड़ाई के पक्ष में निकलकर आए हैं और लिख भी रहे हैं, लेकिन धर्मवीर ने कहा है कि “अनिता भारती प्रेमचंद के रूप में एक जार पुरुष की प्रशंसा कर रही है” (पृ. 51) इतना ही नहीं, अनिता भारती पर वह आरोप लगाते हैं कि “अनिता भारती दलित कौमों के दुखों को और ज्यादा कुरेदना चाहती है... उसे फ्रेडरिक एंगेल्स की पुस्तक ‘परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति’ को पढ़ना चाहिए।” (पृ.51)

धर्मवीर ने अपनी वासनाग्रस्त मानसिकता को उचित ठहराने हेतु रामशरण जोशी को उनके विश्वासघात लेख से उद्धृत किया है “यदि हम लोग ऐसा नहीं करेंगे तो ये औरतें भूखी मर जायेंगी।” (पृ. 53) और तो और, उन्होंने डॉ. अम्बेडकर को भी साथ में घसीट लिया “डॉ. अम्बेडकर ने अपनी कौम की वेश्याओं को वेश्यावृत्ति छोड़ने के लिए कहा था” (पृ. 55) मेरा ख्याल है डॉ. धर्मवीर यौन कुंठाग्रस्त

हैं। इसलिए बेहतर होगा कि साहित्य की पटरी से उतरकर **Blue Film** यानी पोर्न फिल्मों में काम करें, साहित्य के माध्यम से उनके सेक्स संबंधी विचार सभी लोगों तक नहीं पहुँच पाएँगे, खासकर भारतीय मानसिकता से जुड़े लोगों तक।

‘कफन’ और ‘दलित स्त्री-विमर्श’ में अनिता भारती ने और ‘अपने-अपने प्रेमचंद’ में वीरेन्द्र यादव ने भारतीय साहित्य धारा में, हिन्दी साहित्य धारा में और खास करके प्रगतिशील क्रांतिकारी और प्रतिबद्ध साहित्य प्रवाह में मुंशी प्रेमचंद का स्थान कितना ऊपर है यह बताने की कोशिश की है। साथ ही मुंशी प्रेमचंद के साहित्य में नारी समानता, सामन्तों-जमींदारों द्वारा प्रस्थापित अत्याचार और वैचारिक क्रांति के माध्यम से की गई दलितोद्धार को एक नयी लेखन शैली में प्रस्तुत की है मगर यह बात छोटे-मोटे मोहन, गार्डन, एंगेल्स या धर्मवीर कैसे समझ पाएँगे? हाँ, किसी के जाती-निजी मामलों में दखलंदाजी करके कुछ भी बोलना, कैसा भी लिखना--- यह सब आसानी से कर पाते हैं। पर हाय रे करुणा। यह बोला-बताया-लिखा गया सुनने वाला पढ़नेवाला है कौन? धर्मवीर भले ही शोर मचायें कि “प्रेमचंद एक कायस्थ थे, रखैल रखते थे, जारकर्मी थे, व्यक्तिगत जीवन में जारकर्म करना जारकर्म का अभ्यास करने वाला हिन्दुत्व का विरोधी कैसे कहा जा सकता है!” (पृ. 69) अगर यह बात सच होती तो फिर धर्मवीर ने “जो हिन्दुत्व अब कहीं नजर आता है, तो गुंडों में जो कभी-कभी हरिजन समाजों में विघ्न डालने की चेष्टा करते हैं। (पृ.69) के प्रेमचंद को उद्धृत क्यों किया?

डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचंद के नारी-सम्बन्धी दृष्टि के बारे में लिखा है “प्रेमचंद, स्त्री की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता की दिशा में रती भर भी आगे नहीं बढ़े। घर में स्वतन्त्रता देने के लिए प्रेमचंद के पास स्त्री-स्वातंत्र्य की हवा तक भी नहीं है।” (पृ. 36) यहाँ सवाल खड़ा होता है कि धर्मवीर ने खुद ‘नारी स्वातंत्र्य’ की विकासात्मक चेतना का विकास करने के लिए क्या साहित्यिक योगदान दिया है? स्त्री-पुरुष के विवाह को ‘हिन्दुत्ववादी’ और ‘ब्राह्मणवादी’ विवाह प्रणाली” बताने वाले धर्मवीर ने अपने बचाव में डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के ‘हिन्दू कोड बिल’ के विचारों का जिक्र किया है। भारत में युगों से विवाह-प्रणाली चली आ रही है। यह प्रणाली स्त्री-पुरुष सामाजिक व्यवस्था, कौटुम्बिक संचालन, स्त्री स्वातंत्र्य और मानव जीवन व्यवस्था में कितनी उपयोगी या गैर-उपयोगी है, यह तो अपने-अपने समाज, अपने-अपने विचार और अपने-अपने विचार-व्यवहार-वर्तन पर निर्भर करता है। लेकिन धर्मवीर ने इस प्रणाली को “विवाह न कहकर ‘विवाह’+जारकर्म’ कहा जाय तो सच्चाई के ज्यादा नजदीक जाया जा सकता है।” (पृ. 26) कह कर इसे सभी स्त्री-पुरुष पर लागू करना चाहा। धर्मवीर ने ‘विवाह प्रणाली’ को ‘जारकर्म’

कहकर समग्र नारीजगत का अपमान किया है, क्योंकि कोई भी विरोधी-विद्रोही इंसान अगर 'विवाह+जारकर्म' की सच्चाई खोजना चाहता है तो उसे अपने घर से और खुद के जन्मस्थल से शुरुआत करनी पड़ेगी और भारत में कोई भी माई का लाल ऐसा नहीं है, जो अपनी मां-बहन के विवाह को 'जारकर्म' साबित कर सके बोल सके!

वीरेन्द्र यादव के 'अपने-अपने प्रेमचंद' लेख के संबंध में डॉ. कमल किशोर गोयनका ने 'प्रेमचंद का पाठ कुपाठ' लेख को प्रस्तुत करके, अपनी विचारधारा में सफल होने का व्यर्थ प्रयत्न किया है। जबकि हम जानते हैं कि अगर किसी की रेखा (Line) को छोटी बनानी है तो हमें अपनी रेखा बड़ी करनी पड़ती है और मुझे नहीं लगता धर्मवीर अपनी रेखा बड़ी कर सकेंगे क्योंकि धर्मवीर ने खुद माना है कि "प्रेमचंद के समय में भारत में हिन्दू कौम पूरे रूप से शासक नहीं थी, लेकिन हिन्दू धर्म, हिन्दू समाज और हिन्दू परिवार पर उसका दबदबा सिरे से कायम था।" (पृ. 7) और खासतौर पर जब "उदारवादी हिन्दुओं ने दलित का साथ देने का मजाक बना लिया।" (पृ. 18) था, ऐसे परिवेश में 'कफन', 'गोदान', 'गबन' जैसे उपन्यास और 'ठाकुर का कुआँ' जैसी असंख्य प्रगतिशील कहानियाँ लिखकर प्रेमचंद ने सही अर्थ में दलितोद्धार का काम किया है।

धर्मवीर के मतानुसार "दलितों के हिसाब से तीन प्रकार की गुलामियों का जिक्र मिलता है

1. उनका ईश्वर, धर्म और मंदिर का अधिकार छीना गया।
2. उनका राज्य, युद्ध और शस्त्र का अधिकार छीना गया।
3. उनका धन, कृषि और सम्पत्ति का अधिकार छीना गया।" (पृ. 41)

मान लिया जाए कि यह बात सही है, पर धर्मवीर "एक चौथे प्रकार की गुलामी 'बलात्कार' और 'जारकर्म' के द्वारा दलितों की स्त्रियाँ उनसे छीनी गई।" (पृ. 41) आरोपित करके अपनी जारकर्म भरी दार्शनिकता के दायरे में सिर्फ दलित स्त्रियों को ही क्यों खड़ा किया है? 'बलात्कार' सिर्फ 'वर्ण-जाति' पूछकर-देखकर नहीं किया जाता। कोई वासनाग्रस्त पुरुष किसी भी निर्बल नारी को बलात्कार का शिकार बना देता है और रही बात 'जारकर्म' की तो, यह एक शारीरिक असन्तोष-पीड़न का भी मामला हो सकता है, जिसमें ब्राह्मण स्त्री क्षत्रिय पुरुष के साथ, क्षत्रिय स्त्री वैश्य पुरुष के साथ, वैश्य-क्षत्रिय या ब्राह्मण स्त्री दलित-शूद्र पुरुष के साथ 'जारकर्म' करने के लिए विवश हो जाती है क्योंकि यह एक शारीरिक संवेदना का प्रश्न है कोई सामाजिक स्तर का दिखावा नहीं! अगर कोई गरीब-लाचार-पीड़ित स्त्रियाँ 'जारकर्म' में फंसी हुई है, तो मेरे ख्याल में आर्थिक समस्या का कारण इसमें जिम्मेदार है और धर्मवीर जी को जान लेना चाहिए कि आर्थिक समस्या किसी एक 'वर्ण-जाति'

के लिए ही खड़ी नहीं होती! आज पूरे विश्व में चल रही 'वेश्यावृत्ति-देह व्यापार' से जुड़ी स्त्रियाँ सिर्फ दलित ही है इसका क्या प्रमाण है? सच तो यह है कि 'बलात्कार' और 'जारकर्म' जैसी धिनैनी हरकत से सिर्फ दलित-अछूत ही नहीं, सारी नारी जाति बदनाम हो रही है इसीलिए स्त्री को 'पददलित' कहा जाता है और रही बात ईश्वर, धर्म, मन्दिर... से लेकर धन-सम्पत्ति के अधिकार छिन जाने की तो यह खुलेआम बीच बाजार होता है, जबकि 'बलात्कार' और 'जारकर्म' खुलेआम और हर रोज सबके सामने नहीं हो पाता, इसीलिए दलितों के लिए 'मानवता भरी' समानता का अधिकार जरूरी है सिर्फ 'बलात्कार' या 'जारकर्म' से ही आजादी क्या?

डॉ. धर्मवीर की 'मातृसत्ता, पितृसत्ता और जारसत्ता' की तीसरी मानस सन्तान 'प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी' कृति की भूमिका से लेकर इनके स्त्री सम्बन्धी साहित्य पर की गई बहस तक के पन्ने-से गुजरने पर हमें धर्मवीर की दलित स्त्रियों के नियंत्रण, दलित स्त्रियों का गैर-दलित मर्दों के साथ का व्यभिचार, स्त्रियों का जारकर्म-बलात्कार, जात-पात तोड़ने की चाल, विवाह प्रणाली के नाम से कामसूत्र का प्रचार और प्रेमचंद जी के जीवन और साहित्य का विरोध उभरकर सामने आ जाता है। कुछ टिप्पणियाँ देखें तो

'दलित और स्त्री के मामले में समय के दबाव के बदले हुए सामन्ती विचारों के व्यक्ति और प्रतिनिधि साहित्यकार थे।' (पृ. 9)

'दलित का असली शोषण यह है कि कई बार उसकी कथित औलाद उसकी असल औलाद नहीं है।' (पृ. 17)

'प्रेमचंद ने भारत की सामाजिक व्यवस्था के पारस्परिक और बहु प्रचलित शब्द 'चमार' का प्रयोग जानबूझ कर किया है।' (पृ. 18)

'प्रेमचंद के पात्र के विचार हिन्दू स्वामी विवेकानंद के विचारों के समरूप हैं।' (पृ. 33)

'इतिहास मनुष्य के निर्णय लेने की क्षमता से जाना जाता है और आगे बढ़ता है। लेकिन ब्राह्म-विवाह के पर्सनल कानून की वजह से हिन्दुओं की सारी सोच निर्णय न लेने की शैली में तब्दील हो गई है।' (पृ. 39)

'पितृत्व की प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप मानव-पुरुषों के लिंग इस अद्भुत प्रकार से विकसित हुए हैं कि वे स्त्रियों की योनियों में रखे गए, अन्य पुरुषों के पहले वीर्यों को हटा सकें।' (पृ. 47)

'मेरा मत है कि दलित लेखकों को जाति तोड़ने के प्रश्न पर अभी अधिक ऊर्जा नहीं खपानी चाहिए।' (पृ. 75)

'डॉ. धर्मवीर ने दलितों के लिए पृथक मांगों को रख कर अतिरिक्त और वास्तविक दबाव बना दिया था।' (पृ. 7)

‘डॉ. अम्बेडकर मानते हैं कि भारतीय समाज की जातिवाद से भी बड़ी समस्या जाकर है।’ (पृ. 63)

ऐसी टिप्पणियों से धर्मवीर को सस्ती वाहवाही और सूखी तालियों के सिवा कुछ नहीं मिल सकती।

मान लिया जाये कि प्रेमचंद का गैर स्त्री के साथ संबंध था, पर यह तो किसी भी पुरुष के लिए लागू की जा सकती है। पर इसे ‘साहित्य’ और ‘दलित चेतना’ से क्या लेना-देना? किसी भी साहित्यकार की घरेलू बातों का सहारा लेकर ‘कामसूत्र’ में प्रयुक्त वासना से खदबद उद्धरण प्रस्तुत करके धर्मवीर ने सूर्य के सामने धूल उड़ाने का प्रयत्न किया है। हां, धर्मवीर को स्त्री स्वातंत्र्य की अगर इतनी ही चिंता है तो उन्हें ‘मनुस्मृति’ में विदित की गई नारी विरोधी बातों का विरोध करना चाहिए।

डॉ. योगेन्द्र के ‘प्रेमचंद ऐसे ही हैं’ लेख की चर्चा में धर्मवीर ने बताया है कि “जो चिन्तन संसद में, सरकार में, स्थानीय पंचायतों और निगमों में, स्वायत्त निकायों में और निजी संस्थानों में दलितों के प्रतिनिधित्व और उनकी हिस्सेदारी के खिलाफ हो, दलितों की ऐसी न्यायपूर्ण मांगों से मुंह विचकता हो, उसे दलित लेखक साहित्य के क्षेत्र में अपना नेतृत्व कैसे दे देंगे?” और “यदि अस्पृश्यता हिन्दुओं की लाखों संस्थाओं में पैठी हुई है तो उसे बाहर करने के लिए समानान्तर स्तर पर लाखों संस्थाएँ खड़ी कीजिए।” (पृ. 76) ऐसे दो-चार आश्वासन को छोड़ धर्मवीर ने अपनी सोच की कटुता फैलाकर सचमुच “साहित्य में और कानून में ‘जाकर’ की खोज आपके धर्मवीर ने की है।” भूमिका में महत्वाकांक्षा हांसिल करने का निष्फल प्रयास किया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि डॉ. धर्मवीर द्वारा लिखी ‘प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी’ जाकरमी दार्शनिकता का दस्तावेज लगता है और कुछ नहीं।

यह 'दलित' से 'हरिजन' हो जाना है

रमेश निर्मल

डॉ. धर्मवीर का दुख यह है कि क्यों डॉ. अम्बेडकर पराए बुद्ध की शरण में जाने की बजाय अपने सन्तों के ढिग नहीं बैठे। कबीर भक्ति डॉ. धर्मवीर के इस कदर सिर चढ़कर बोल रही है कि अपनी 1990 में लिखी पुस्तक 'डॉ. अम्बेडकर और दलित आन्दोलन' में उन्हें बाबा साहब का धर्मांतरण बड़ा ही क्रांतिकारी लगा था, अब उन्हें वह दलित-विमर्श के बीच में 'रिटायरिंग रूम' लगता है। डॉ. अम्बेडकर को सन्त साहित्य की अनुपलब्धता के बहाने का लाभ देते हुए डॉ. धर्मवीर लिखते हैं "बाबासाहब के पास उस समय के तमाम दलित सन्तों का साहित्य उपलब्ध होता तो वे बुद्ध की शरण में जाने के बजाय अपने सन्तों के ढिग बैठते।"¹ लेकिन अपनी पुस्तक 'जाति उन्मूलन' में डॉ. अम्बेडकर कबीर के बहाने भक्ति साहित्य पर अपनी राय कुछ यूँ दे गये हैं "जो सन्त होते हैं वह उठ सकते हैं लेकिन सन्त व्यक्तिवादी होता है इसलिए सन्तों का प्रभाव समाज पर नहीं पड़ा, इसे सामूहिक होना चाहिए था।"² बाबासाहब की सन्तों पर टिप्पणी पर अनजाने ही डॉ. धर्मवीर अपनी मोहर लगा देते हैं, जब वह लिखते हैं कि "तब वे त्रिपिटक में माथापच्ची कर सिर खपाने की बजाय, निर्गुण शब्दवाणी की गंगोत्री में स्नान करते।"³ अब डॉ. धर्मवीर को यह कौन समझाए कि उनका 'गंगोत्री में स्नान' और बाबासाहब का 'सन्तों का व्यक्तिवाद', दोनों का एक ही मतलब होता है। निर्गुण शब्दवाणी की गंगोत्री में स्नान करना डॉ. धर्मवीर को भले ही रुचिकर हो और उन्हें ही मुबारक हो, बाबासाहब का कभी यह अभीष्ट नहीं हुआ। किसी गंगोत्री में स्नान करने की बजाय अपनी वैचारिकी को लेकर उन्होंने मनुवादी-ब्राह्मणवादी व्यवस्था से लड़ते और उसे कमजोर करते हुए, नष्ट करके मनुष्यता के एक बड़े हिस्से को उसके चंगुल से मुक्त करना, ज्यादा जरूरी समझा था। ता-उम्र वे अपने इसी ध्येय में लगे रहे। डॉ. अम्बेडकर कोई सन्त नहीं थे। न ही वे होना चाहते थे, बल्कि वे तो अपने ही समकालीन सन्तई का चोला धारण किये एक राजनीतिज्ञ से दलित हितों के लिए मुठभेड़ कर रहे थे। डॉ. अम्बेडकर यह अच्छी तरह जानते थे कि गांधी की राजनीतिक सन्तई से दलितों को बहुत फायदा होने वाला नहीं है और

इसका फायदा सवर्ण ही उठा लेंगे। हुआ भी ऐसा ही। इसमें किसी शक की अब गुंजाइश नहीं बची है कि गांधी के बाद उनका 'हरिजन चिन्तन' सवर्णों के बहुत काम का सिद्ध हुआ है। सन्त प्रवृत्ति के बारे में डॉ. अम्बेडकर की राय को हम गांधी पर लागू करके देखें तो भी वही नतीजा पाते हैं। यह कोई अनायास नहीं है कि बाबासाहब की विचार-प्रक्रिया में न सन्त मत को स्थान है, न 'सन्त' गांधी से कभी उनकी विशेष वैचारिक सहमति बन पाई। ईश्वर के मामले में कबीर और गांधी एक ही परम्परा में आते हैं। लेकिन कबीर भक्त डॉ. धर्मवीर दो विपरीत व्यक्तियों गांधी और बुद्ध में समानताएँ तलाश करने का पराक्रम करते हैं। उन्हें "लगता ऐसा है कि डॉ. अम्बेडकर अपने समय के गांधी के रूप में जन्मे नए बुद्ध से तो जुझारू होकर लड़े थे लेकिन ढाई हजार साल पहले बुद्ध के रूप में जन्मे पुराने गांधी के शिष्य बन गये थे।"⁴ वे चाहते हैं कि वास्तव में "दलितों को आज अपने उन ऐतिहासिक डॉ. अम्बेडकर की खोज करनी है जो बुद्ध के समय में बुद्ध से ऐसे ही लड़े थे। ऐसे किसी डॉ. अम्बेडकर ने उस समय जरूर जन्म लिया होगा।"⁵

विचारधाराओं की साधारण समझ रखने वाला कोई भी व्यक्ति अहिंसा को छोड़कर (बुद्ध ने अहिंसा पर भी गांधी जितना जोर नहीं दिया था।) गांधी और बुद्ध में बहुत साम्य तलाशने की कोशिश नहीं कर सकता। यह किसी विद्वान के ही बूते का काम है। डॉ. धर्मवीर ऐसे ही विद्वान हैं। दलित उनकी नेक सलाह को दरकिनार करते हुए, बुद्ध के समय में बुद्ध से लड़ने वाले किसी अम्बेडकर की तलाश बेशक नहीं करेंगे, इस खोजबीन में जरूर जुट सकते हैं कि अम्बेडकर वैचारिकी में पलीता लगाने में डॉ. धर्मवीर जो योगदान दे रहे हैं, ऐसा ही महान योगदान बुद्धकालीन दौर में बौद्ध दर्शन में पलीता लगाने में कितने 'धर्म-वीरों' का रहा होगा।

बुद्ध और अम्बेडकर को आपस में भिड़ते हुए डॉ. धर्मवीर दलित वैचारिकी को कुंद कर रहे हैं और परोक्षतः हिन्दुत्व को धार दे रहे हैं। भविष्य में अगर आप पाएँ कि कबीर का यह भक्त बुद्ध और अम्बेडकर का घोर आलोचक होते हुए गांधी को दण्डवत प्रणाम कर रहा है, तो कृपया आश्चर्यचकित न हों। यह लेकिन उल्टे बांस बरेली जाना है। यह 'दलित' से 'हरिजन' हो जाना है। डॉ. धर्मवीर उधर ही जा रहे हैं। हे राम! लेकिन उधर जाते हुए अपनी तरफ से उनसे जितना भी बन पड़ेगा, दलित वैचारिकी के कुएँ में भांग डाल जायेंगे। उन्हें गुस्सा इस बात का है कि उनके विरोधियों ने यह 'काम' उनसे पहले क्यों नहीं कर डाला। वह मानते हैं कि "लोकायत दर्शन के क्षेत्र में बहुत साफ-सुथरा रास्ता था। वह विज्ञान परीक्षण का रास्ता था"⁶। विरोधियों से उन्हें शिकायत है कि "खुद विरोधी लोग वेदों के देवतावाद से वेदान्त के एकेश्वरवाद तक पहुँच गए परन्तु दलितों को उनके

लोकायत में ईश्वरवाद को समाहित नहीं करने दिया गया। हिन्दुओं ने अपने दिग्दर्शन खड़े कर लिए लेकिन लोकायत को अनीश्वर और ईश्वरवाद की दो धाराओं में भी नहीं बहने दिया गया।⁷ अनीश्वरवाद में ईश्वरवाद मिला देने से 'कॉकटेल' हो जाता है। आदमी वमन करने लगता है। डॉ. धर्मवीर यही कर रहे हैं।

हिन्दू धर्म, मेरा मतलब है वर्ण-व्यवस्था, लौकिक मामलों में चाहे जितना तंगदिल हो, पारलौकिक मामलों में बहुत दखलंदाजी नहीं करती। वह किसी से किसी का 'ईश्वर' नहीं छीनती। इसलिए डॉ. धर्मवीर का यह कहना कि विरोधी लोग वेदों के देवतावाद से वेदान्त के एकेश्वरवाद तक पहुँच गये, परन्तु दलितों को उनके लोकायत में ईश्वरवाद को समाहित नहीं करने दिया; विरोधियों को जानना है न लोकायत को समझना। अपने दर्शन में ईश्वरवाद की मिलावट कर लोकायत उसका सत्यानाश नहीं कर सकते थे। न ऐसी कोई मिलावट संभव ही है। डॉ. धर्मवीर कर चुके हों, या कर सकें तो यह एक अजूबा होगा। अपनी सारी भक्ति, बुद्धिबल लगाकर भी वे ऐसा नहीं कर सकते। वे इतना अवश्य कर सकते हैं कि लोकायत और निर्गुण सन्तों का मिलन बिठा सकते हैं। उनके हिसाब से "दलित सन्तों के निर्गुण धर्म को स-ईश्वर लोकायत कहा जा सकता है। खुद लोकायत दर्शन को निरीश्वर-निर्गुण-धर्म का नाम दिया जा सकता है।"⁸

इस तरह डॉ. धर्मवीर लोकायत और निर्गुण सन्तों के बीच अपनी गंगा बहा कर, उसमें दलितों को आनंद स्नान करा सकते हैं। लोकायत और निर्गुण सन्तों को मिलाना, घी और शहद को मिलाना और उसे जहर बना डालने जैसा प्रयोग करना है। डॉ. धर्मवीर अपनी बौद्धिक प्रयोगशाला में दलितों के लिए कुछ ऐसा ही रसायन तैयार करने में लगे हुए हैं।

लोकायत और चार्वाक दर्शन की सर्वोत्कृष्ट परिणति हम बौद्ध-दर्शन में पाते हैं। देश-दुनिया के इतने सारे धर्मो-दर्शनों का गहन अध्ययन-मनन करने के बाद ही, डॉ. अम्बेडकर को बौद्ध धर्म सर्वोत्कृष्ट लगा था तो इसलिए कि वह किसी आस्था-भक्ति की बजाय, तर्क-विवेक पर आधारित दर्शन रहा है। डॉ. धर्मवीर का यह कथन कि "उनकी (बाबासाहब) समस्या यही थी कि वे इल्हामी ज्ञान में विश्वास नहीं करते थे, इस कारण बुद्ध के शिष्य बन गए पर क्या उनकी दलित सन्तान भी अपने महापुरुष को बुद्ध के सामने छोटा देखना चाहेगी"⁹ न केवल बौद्ध-दर्शन के क्रांतिकारी तत्व से अज्ञानता का द्योतक है बल्कि ये बुद्ध के प्रति सामान्य शिष्टाचार से भी परे है। डॉ. धर्मवीर की तरह बाबासाहब भक्ति के मरीज नहीं थे। वे वैज्ञानिक बुद्धि के विवेकशील विचारक थे। कबीर दर्शन तो बाबासाहब को घुट्टी में मिला था, फिर भी वह बौद्ध-दर्शन के कायल हुए तो इसमें अनीश्वरवाद एक बड़ी और महत्वपूर्ण वजह रही है। अनीश्वरवाद में छिपी अनन्त ऊर्जा को पहचानना, जिसकी बुद्धि के बूते के बाहर की बात हो,

वही उसे 'इल्हामी ज्ञान में अविश्वास' कहने की 'समझदारी' दिखा सकता है।

डॉ. अम्बेडकर ने न केवल बौद्ध-दर्शन को अपनी वैचारिकी का प्रमुख आधार बनाया, उसमें आ गई कमियों, खामियों को दुरुस्त कर उसे अत्यन्त प्रभावशाली और नया रूप भी दिया। जिस व्यक्तित्व को और उसके द्वारा स्थापित दर्शन को डॉ. अम्बेडकर ने अपनाया, उसके प्रति वे विनीत और विनम्र ही हो सकते थे। कोई भी सभ्य-सुसंस्कृत व्यक्ति यही करता है। डॉ. धर्मवीर में यह सब गुण नहीं है इसलिए हम पाते हैं कि जिस कबीर-भक्ति में उन्होंने 5-7 पुस्तकें लिख डाली हैं, वे कबीर ही डॉ. धर्मवीर से हमें छोटे पड़ते दिखते हैं। अपनी प्रयोगशाला में उन्होंने कबीर को 'बोनसाई' कर डाला है।

'पराये' बुद्ध से डॉ. धर्मवीर इतनी खार खाए हैं कि कबीर पर 'विरोधियों' से जूझने वाले डॉ. धर्मवीर उन्हीं विरोधियों की बकवास "विरोधियों का यह तर्क सत्य सिद्ध होकर रह जाता है कि बुद्ध लोगों को भ्रमित करने आए थे"¹⁰ को आधार बना, बौद्ध-दर्शन के बारे में भ्रांतियाँ फैला रहे हैं। डॉ. धर्मवीर के कुतर्क का आधार यह है कि "बुद्ध को पैदा हुए ढाई हजार साल बीत जाने के बाद भी अस्पृश्यता ज्यों-की-त्यों बनी रही है, इसलिए मानना पड़ता है कि चिन्तन या रणनीति में कहीं-न-कहीं कमी रही है।"¹¹ डॉ. धर्मवीर के 'तर्क' को आगे बढ़ाएँ और उनसे पूछें कि यह काम लोकायतों, चार्वाकों से और बहुत बाद में कबीर से क्यों नहीं बन पड़ा। इनका चिन्तन या रणनीति तो बहुत परिपूर्ण मानते हैं डॉ. धर्मवीर! शायद इनका मिलन नहीं हुआ!

कमी चिन्तन या रणनीति में नहीं, उनके क्रियान्वयन में है। लोकायत या बौद्ध-दर्शन निरन्तर संघर्ष करने की और इस तरह मनुष्य-मनुष्य के बीच की कृत्रिम दूरियाँ पाटने की वैचारिकी है। जो कमी या द्वेष है वह दलितों की गंगोत्री में स्नान करने की मानसिकता का है। अपराध जितना वर्ण-व्यवस्था को निर्द्वन्द्व बनाए रखने में ब्राह्मणी-सामंती विचारकों का है, उतना ही, बल्कि कुछ अधिक ही, दलित विमर्श के नाम पर हर युग में मिलने वाले न जाने कितने ही डॉ. धर्मवीरों का भी है। मनुवाद से लड़ने के लिए बहुत विवेक, हिम्मत और जुनून चाहिए। वह सब न हो तो अपने अहम् की तुष्टि के लिए अपनों पर पिल पड़ने में ही समझदारी है। अपने प्रक्षिप्त चिन्तन से डॉ. धर्मवीर यही कर रहे हैं। अपने इस चिन्तन में उन्हें बाबासाहब का बौद्ध धर्म ग्रहण करना दलित चिन्तन के बीच 'रिटायरिंग रूम' ही लग सकता है। बौद्ध-दर्शन लेकिन कोई 'रिटायरिंग रूम' नहीं है। न केवल बौद्ध-दर्शन, लोकायत, चार्वाक और आधुनिक युग का मार्क्सवाद, अम्बेडकरवाद निरन्तर संघर्ष के पक्ष में है जिनका सत्व अनीश्वरवाद है। बेशक इन दर्शनों का शोधन-परिशोधन निरन्तर चलता भी रहता है और चलते भी रहना चाहिए।

इन दर्शनों की तब तक उपयोगिता बनी रहेगी जब तक कि मनुष्य-मनुष्य के बीच बनी असमानताओं की ऊबड़-खाबड़ खाइयाँ मिट नहीं जातीं। डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध-दर्शन को इसी ध्येय में लगाया था। वे जाति, वर्ण की बजाय, विचार के आधार पर अपने-पराये की पहचान करते थे। डॉ. धर्मवीर ऐसा नहीं कर रहे हैं बल्कि सोच-समझकर इसके विपरीत काम कर रहे हैं। वे जन्मगत/ वर्णगत आधार पर अपनों-परायों की पहचान कर, दलित विमर्श के नाम पर, जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था को पुष्ट करने में लगे हैं। **ठीक से कहें तो वे हिन्दुत्ववादियों को बिन मांगी मदद दे रहे हैं।** धर्मांतरण पर कोई स्वस्थ बहस न चलाकर और डॉ. अम्बेडकर के धर्मांतरण के बारे में विभ्रम फैलाकर वे हिन्दुत्ववादियों की, धर्मांतरण की रोक की मानसिकता को अपना 'वैचारिक' आधार प्रदान कर रहे हैं।

अगर सन्त साहित्य, जैसा कि डॉ. धर्मवीर मानते हैं, निर्गुण शब्दवाणी की गंगोत्री में आनंद स्नान है तो फिर 'रिटायरिंग रूम' बौद्ध-दर्शन नहीं, सन्त साहित्य हुआ। वर्ण-व्यवस्था तो मनुष्यता की कब्रगाह ही है। चिरशांति का दर्शन। कोई भी सन्त, फिर चाहे वह आध्यात्मिक हो या राजनीतिक या 'मिक्स' और उसका दर्शन मनुष्यों के बीच के विभेदीकरण से जूझने की बजाय शांति और अहिंसा का पाठ पढ़ाता है और शासकों, शोषकों का बचाव करते हुए सुलह-समझौतों पर ही जोर देता है। जाहिर है ऐसा कोई भी 'सुलह-समझौता' शक्तिशाली के पक्ष में ही झुका होता है। कमजोर पक्ष को इस सुलह-समझौते से दया, सहानुभूति जैसी निरर्थक चीजें ही मिलती हैं। किसी भी सन्त और उसके दर्शन का यही फलितार्थ है। यही सीमा है। भक्तों की कथा अलग है। भक्ति जब सिर चढ़कर बोलती है तब विवेक पर भावना चढ़ बैठती है और ऐसे में भक्त अपने-परायों की पहचान कुछ अलग ढंग से करता है। वह जहाँ 'अपनों' के प्रति अतिरिक्त सहृदय होता है, वहीं 'परायों' के प्रति अनावश्यक दुराग्रह पाल लेता है। डॉ. धर्मवीर ने यह अच्छा काम किया कि कबीर को सवर्ण आलोचना के घेरे से बाहर निकाल लिया। बुरा यह किया कि उन्हें 'अपने' दलित खूँटे से बांध दिया। 'अपनों' के प्रति अतिरिक्त मोह की यही परिणति हो सकती थी। इसी वजह से 'अपने' निर्गुण सन्तों की निर्गुण शब्दवाणी की गंगोत्री में स्नान करने वाले डॉ. धर्मवीर को 'पराये' बुद्ध का बौद्ध-दर्शन, दलित-विमर्श का 'रिटायरिंग रूम' लगता है। 'पराये' बुद्ध की वैचारिकी को आधार बनाकर जिन 'अपने' डॉ. अम्बेडकर ने 20वीं सदी में सामाजिक क्रांति का बिगुल बजाया था, बुद्ध की नजदीकी के कारण ही डॉ. धर्मवीर के कोप का शिकार हो रहे हैं। डॉ. धर्मवीर चाह रहे हैं कि दलित उनके या उनके 'अपनों' के सहारे ही समाज में अपना बेहतर स्थान बनाएँ। वे द्विज या अन्य उदारपंथियों द्वारा दलितों के प्रति सहृदय होने को

लेकर भी अतिरिक्त संवेदनशील और चौकस लगते हैं, जब वह अस्पृश्यता के बहाने से लिखते हैं कि ‘ऐसी हालत में दलित व्यक्ति उदारवादी द्विज से कह सकता है कि पहले आप अपने कट्टरपंथी भाई को समझा लो, फिर मुझसे बात करना। लेकिन यह तो वही बात हुई कि न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।

लगता है डॉ. धर्मवीर दूध के कुछ ज्यादा ही जले हैं। दलित वह जितने भी और जैसे भी हों, दलित होने की हीन-ग्रंथि के अतिरिक्त शिकार जरूर लगते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपने खोल से बाहर आने से बहुत भय खाता है। अपने इर्द-गिर्द ही एक मजबूत खोल बना, उसी में सिकुड़-सिमट रह, वहीं से ‘दूसरों’ पर गुराना और पत्थरबाजी करना उसे अधिक प्रीतिकर लगता है। ‘दूसरों’ का मित्रता के लिए बढ़ा हाथ भी ऐसे में आक्रमण करता-सा लगता है।

यह ठीक है कि पिछले कुछ बरसों से हिन्दुत्व काफ़ी तेजी से बढ़ा है लेकिन इस संकीर्णता, कट्टरता के बावजूद सवर्णों में दलित-विमर्श की समझ भी बढ़ी है। डॉ. धर्मवीर अपने जातीय पूर्वग्रह से बाहर आयेंगे तो पायेंगे कि बहुत से गैर-दलित लेखक-विचारक दलितों के साथ हैं और हिन्दुत्व से, दलितों से बेहतर जूझ रहे हैं। किसी के गैर-दलित, विशेषकर सवर्ण होने भर से उनके प्रति शक, संदेह और अलगाव रखना स्वस्थ मानसिकता का परिचायक नहीं है।

दलित विचारकों, लेखकों को केवल दलितों (जन्मना) के लिए ही नहीं, उस मनुष्य मात्र के लिए भी संघर्ष करना चाहिए जो किसी भी किस्म की गैर-बराबरी और वर्चस्ववाद को झेल-भुगत रहा है। तभी वे अपनी संकीर्णता से बाहर आ सकेंगे और दलित विमर्श को समस्त शोषितों-उत्पीड़ितों का विमर्श बना सकेंगे, अपने खोल में सिमट, सुरक्षित महसूस करना और वहीं से दूसरे पर पत्थरबाजी करना और जो भी हो, दलित-विमर्श कतई नहीं है।

अपने समय का सर्वाधिक क्रांतिकारी और प्रगतिशील व्यक्तित्व होने के बावजूद, हम जानते हैं कि कबीर ईश्वर के परे नहीं जा सके थे। हम कह सकते हैं कि अपने विवेक-तर्क को, निर्गुण ही सही, उन्होंने ईश्वर को खूंट्टी पर बांध रख छोड़ा था। कबीर की क्रांतिकारिता, प्रगतिशीलता के बावजूद, हम यह भी जानते हैं कि स्त्री के प्रति कबीर के विचार किसी पुरातनपंथी से बेहतर नहीं थे। मैं यह तो नहीं कहता कि ऐसा होने के पीछे उनका ईश्वरवाद था लेकिन इसकी पड़ताल की जाए कि ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियों में स्त्री के प्रति धारणाओं में कितना और कैसा अन्तर है तो हमें दिलचस्प नतीजे मिल सकते हैं। ईश्वर में आस्थावान होने के कारण ही कबीर के साथ भक्त भी अक्सर जुड़ जाता है। डॉ. धर्मवीर कबीर के भक्त तो खैर हैं ही, ईश्वर और अनीश्वरवाद को लेकर भी वह अधर में हैं। मैं इधर जाऊं या उधर जाऊं। इस मानसिकता और भक्ति के संक्रमण ने उनके

विवेक को रोगग्रस्त कर डाला है। इससे पहले कि उनके बौद्धिक विचलन की जांच-परख करते हुए किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता, स्त्री पर भी उन्होंने अपने सद्विचार अभिव्यक्त करने शुरू कर दिए। यह उनके विवेक का सन्निपात की अवस्था में पहुँच जाने का लक्षण है। इससे पहले कि यह रोग, संक्रामक बीमारी बन, घर के दूसरे सदस्यों में भी घर कर जाए और वे हिन्दुत्व से लड़ने में अपने को कमजोर और असहाय पाएँ बल्कि गुलामी में ही आनंद लेना शुरू कर दें, डॉ. धर्मवीर के बौद्धिक उपचार की तुरन्त आवश्यकता है। इस काम के लिए 'डॉ. अम्बेडकर बौद्धिक स्वास्थ्य एवं उपचार संस्थान' से बेहतर जगह दूसरी नहीं है। मैं जानता हूँ कि अपने को बौद्धिक रूप से बीमार बताए जाने को न केवल वे अस्वीकार करेंगे, बल्कि उनके भड़क जाने का ही अधिक खतरा है। अपनी स्थिति को अगर वह स्वीकार लें तब भी संभव है वे अम्बेडकर संस्थान की सेवाएँ लेने की बजाय गांधी आश्रम का 'प्राकृतिक उपचार' लेना अधिक पसंद करें। ऐसे में उनका फिर 'भगवान' ही मालिक है।

सन्दर्भ

1. हरिजन से दलित : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 147, संपादक राजकिशोर
2. अपेक्षा अंक : संपादक तेजसिंह,
3. हरिजन से दलित : पृ. 148
4. हंस मार्च 97, पृ. 52
5. वही
6. हरिजन से दलित : पृ. 146
7. वही।
8. वही, पृ. 154-155
9. वही, पृ. 147
10. मानवाधिकारों का संघर्ष : पृ. 85, संपादक राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली
11. वही, पृ. 85
12. वही, पृ. 83

तनी मुट्टियाँ और प्रतिरोधी स्वर की अहमियत

रामचन्द्र

ऐसे दौर में जब वर्चस्व और शोषण के खिलाफ संघर्ष की मुहिम तेज हुई हो, मुक्तिकामी आंदोलन चल रहे हों तब, पितृसत्तात्मक एवं सामंतवादी विचारों का पनपना तथा उसे प्रश्रय मिलना अचंभे में डालता है, चिंतित करता है। ऐसी सोच का उभरना तब और खतरनाक लगता है जब दलित विमर्श ने अपना राष्ट्रीय स्वरूप निर्मित कर साहित्य एवं राजनीत की मुख्यधारा के समानान्तर जगह बनाई है, अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को स्थापित करने में सफल हुआ है। कितनी जद्दोजहद एवं लंबे संघर्षों के बाद दलित चिन्तन ने व्यवस्था के हर मोर्चे पर अपनी अस्मिता को कायम किया है। अपनी उपस्थिति को प्रत्येक क्षेत्र में दर्ज किया है। आत्म-सम्मान, स्वतन्त्रता और अधिकारों के लिए दलितों ने न जाने कितनी पीढ़ियाँ खोई हैं कितनों ने खून बहाया है। दलितों के सपने, अरमान और वजूद को रौंद कर जो संस्कृति विकसित की गई थी उसके प्रतिरोध में खड़ा संपूर्ण दलित आंदोलन समतापरक समाज की स्थापना में लगा है।

दलित विमर्श ने सभी क्षेत्रों में एक नया दृष्टिबोध पैदा किया है। चेतना का नवीन बीज बोया है और यह सब कुछ फलीभूत हो रहा है बाबासाहेब की दृष्टि, संघर्ष एवं आंदोलन से। ऐसे वक्त में डॉ. धर्मवीर का स्त्री-चिन्तन और उनका उपदेश हिंदी दलित विमर्श को कठघरे में ला खड़ा किया है। सब कुछ चेतनाहीन आंदोलन की परिणति जैसा लगता है। जब हिंदी के कुछेक दलित साहित्यकार मराठी दलित साहित्य के प्रभाव को नकारते हैं तब उनकी चेतनाहीन नियति ही बोल रही होती है। यह हिंदी क्षेत्र की अजीब विडंबना है। सच को छुपाने और नियंता बनने का हथ्र बुरा ही होता है। दरअसल हिंदी की जड़ता यहाँ के कुछेक दलित बुद्धिजीवियों में गहरे बैठी हुई है। वे बाबासाहेब की उगाई फसल का उपभोग कर रहे हैं, उनकी वजह से आज सिर ऊंचा करके जी रहे हैं लेकिन ताव दिखाते हुए ऐसा एहसास दिलाएँगे जैसे वे खुद दलित साहित्य और आंदोलन के प्रणेता हों। हिंदी दलित विमर्श में लेखकीय पहचान का संकट खड़ा हो गया है। ऐसा इसलिए कहा जा सकता है कि यहाँ बुद्ध और डॉ. अम्बेडकर की व्यवस्था के बाहर एक नई पितृसत्तात्मक दुविधा बनाने में कुछ लोग लगे हुए हैं। यदि वास्तव में

बाबासाहेब की वैचारिकता से हिंदी लेखकों का लगाव है तो फिर डॉ. धर्मवीर का फतवा, उनकी भविष्यवाणियाँ और उनकी स्त्री विरोधी प्रवृत्तियों को क्यों बर्दाश्त किया जा रहा है? स्त्री विरोधी सोच का कोई भी व्यक्ति अम्बेडकर विरोधी ही होगा, बुद्ध के समता, स्वतन्त्रता और बंधुता का विरोध करने वाला दलित विरोधी ही कहलाएगा। यदि हिंदी दलित विमर्श का मौन इस विषय पर नहीं टूटा तो दलित स्त्रियों के बरक्स दलित पुरुषों का गठजोड़ ही कहा जाएगा।

डॉ. धर्मवीर का स्त्री चिन्तन और उनकी नित नई-नई परिकल्पनाओं को प्रश्रय देने वालों का आखिर इरादा क्या है? ऐसे दलित साहित्यकार गांध बांध लें कि ज्योतिबा और डॉ. भीमराव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के समानान्तर कोई भी रेखा छोटी ही साबित होगी। ज्योतिबा ने सावित्रीबाई को शिक्षित-प्रशिक्षित करके स्त्री-मुक्ति एवं स्त्री शिक्षा आंदोलन क्यों चलाया? क्या इससे ज्योतिबा जैसे का आंदोलन धीमा पड़ गया? ज्योतिबा और बाबा साहेब ने स्त्री शिक्षा के माध्यम से उन्हें मुक्ति की राह दिखाई, उनमें चेतना के बीज बोए, जागरूकता पैदा करते हुए समानता की स्थापना हेतु विधिक प्रावधान दिया। यह सब कुछ रमाबाई के सहयोग और त्याग से ही संभव हो सका था।

स्त्री-समानता के विधिक प्रावधानों के बावजूद क्या स्त्रियाँ आज भी समानता का अधिकार पाने में सफल हो सकी हैं? अपने घर, परिवार और समाज में कंधे से कंधा मिलाकर काम करने के बावजूद दलित स्त्री यह दावा करने की स्थिति में नहीं है कि वह पूर्णतः स्वतन्त्र है। क्या उसकी अभिव्यक्ति पर पाबंदी नहीं है? घर के बाहर वह असुरक्षित तो है ही; क्या घर के भीतर यौन उत्पीड़न से लेकर अन्य शोषण एवं जुल्म उसके ऊपर नहीं हो रहे हैं? दरअसल पुरुषों को नैतिक बनने-बनाने की आज ज्यादा जरूरत है जो अपने ढंग से अपने अनुरूप पितृसत्तात्मक और सामंतवादी विचारों की कुंडली मारे हर पल शिकार की फिराक में बैठा है। एक स्त्री पैदा होते ही अपने पिता, चाचा, भाई (छोटा हो या बड़ा), भतीजे आदि की सेवा करते हुए ससुराल में ससुर, जेठ, पति, देवर और घर में आने वाले पुरुषों की गुलामी करने के लिए क्या अभिशप्त नहीं रही है? बहू की प्रशंसा और खूबसूरत शब्दों के आवरण में शोषण की भीषण लम्बी प्रक्रिया को देखने की दृष्टि विकसित करनी होगी। पितृसत्ता ने स्त्री के दिमाग को कुंद करके उसके तन-मन-धन बल्कि उसके सर्वस्व पर तो पहले से ही नियंत्रण कर रखा है। जब स्त्री इससे मुक्त होने की ओर अग्रसर हुई है, तब स्त्रियों को काबू में रखने की कवायद पुरुष हताशा का ही परिचायक कहा जाएगा। स्त्री साक्षर हो या निरक्षर पुरुषों की उनसे अपेक्षा एक-सी है। पितृसत्ता ने पहले से ही नियमों, नैतिकताओं और अपेक्षाओं का लबादा थोप रखा है। पुरुष वर्चस्व की यंत्रणाओं से गुजरती हुई स्त्री आज मुक्ति के लिए, बराबरी के लिए उठ खड़ी हुई है। ऐसे में स्त्री नैतिकता का विमर्श स्त्री विरोधी

कार्यवाही ही कहा जाएगा।

जिस समाज में पहले से ही कदम-कदम पर स्त्री शोषण के बाड़ लगाए गए हों और यह सब कुछ पुरुष वर्चस्व के लिए किया गया हो वहाँ स्त्री विरोधी संहिताओं की रचना से क्या अर्थ निकाला जाए? नैतिकताएँ एवं मूल्यों की सम्पूर्ण स्थापनाएँ स्त्रियों के लिए ही क्यों? क्या यह हिन्दू धर्माधिकारी बनने के निमित्त नहीं? डॉ. धर्मवीर जिस सैद्धांतिकी की निर्मिति कर रहे हैं वह सिर्फ स्त्रियों के लिए ही क्यों? क्या पुरुष के कामुकतापूर्ण नंगा नाच के विरुद्ध भी कोई संहिता तैयार होगी? दलित पुरुषों के खिलाफ डॉ. धर्मवीर कुछ भी नहीं बोलते, उनकी कैटेगरी भी नहीं बनाते क्यों? धर्मसत्ता की गद्दी पर आसीन होकर दुनिया बदलने की इस नियति के पीछे की राजनीति क्या हो सकती है इसे समझना भी जरूरी है। 12 सितम्बर, 2005 को 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' पुस्तक के लोकार्पण के अवसर पर डॉ. धर्मवीर के बीज व्याख्यान के कुछेक संदर्भों से उनकी नीयत, उनकी वैचारिकता और उनकी धार्मिकता की पोल खुलती है जब वे कहते हैं कि बोधिसत्व डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'द बुद्ध एण्ड हिज धम्मा' में बुद्ध से स्वदेश लौट आने की प्रार्थना की है। इस सन्दर्भ में स्वयं डॉ. धर्मवीर का अद्भुत मत दर्शनीय है

“इस देश को बुद्ध की जरूरत नहीं है। दलितों को बुद्ध की बिल्कुल जरूरत नहीं है। बुद्ध के लौटने के लिए प्रार्थना करना सही नहीं है। वे अपने घर नहीं लौटे थे, देश में क्या लौटेंगे, दलितों में क्या लौटेंगे? बुद्ध को लौटना है तो पहले अपने घर लौटें। घरबारी बनें, पत्नी से प्यार करें, बच्चों को स्कूल भेजें और कबीर की तरह भगवान के गुण गाएँ।”

यहाँ स्पष्ट है कि वे बाकायदा एक धर्म खड़ा करने की तैयारी में हैं। डॉ. धर्मवीर जानबूझकर कबीर के भगवान को बुद्ध के बरक्स हिन्दुवाइज्ड भगवान बनाने पर तुले हुए हैं। कबीर ने तो किसी भी धर्म, जो अस्तिकता पर टिके हुए हैं, को स्वीकार नहीं किया बल्कि वह कर्मकांडों को जड़ से समाप्त करने के लिए कृतसंकल्प दिखाई देते हैं। बौद्ध धम्म का नकार कबीर के यहाँ नहीं मिलता बल्कि उसका विकास कबीर के दुःख में देखा जा सकता है। डॉ. धर्मवीर अपना धर्म खड़ा करने की आपाधापी में संपूर्ण दलित समाज को हिन्दू धर्म की तरज पर भाग्य और भगवान की ओर धकेलना चाहते हैं, जब वे कहते हैं “ईश्वर और आस्तिकता का किसी प्रतिक्रिया से कोई मतलब नहीं होना चाहिए। यह कोई तर्क नहीं हुआ कि चूँकि ब्राह्मण ईश्वर में विश्वास रखता है इसीलिए दलित ईश्वर में विश्वास नहीं करेगा। यह वैसा ही तर्क हुआ कि चूँकि ब्राह्मण रोटी खाता है इसीलिए दलित रोटी नहीं खाएगा। होना यह चाहिए था कि ब्राह्मण के ईश्वर के जबाव में दलित चिंतक अपना ईश्वर अलग से खोजता।” (दलित चिन्तन का विकास : अभिशप्त चिन्तन से इतिहास चिन्तन की ओर डॉ. धर्मवीर)

इन वक्तव्यों का यहाँ विशिष्ट अर्थ है। इसी तरह हिन्दुत्व ने एक नहीं हजार भगवानों को खड़ा किया फिर शोषणपरक संहिताएँ-व्यवस्थाएँ बनाई, लागू कीं, मनुस्मृति जैसी रचनाएँ कीं। गौतम बुद्ध ने इस व्यवस्था को पलट दिया तो षड्यंत्र करके बौद्धों का विनाश किया गया। विगत एक शताब्दी में हिन्दू धर्म के उठान को दलितों ने बौद्ध धर्म के माध्यम से ही नियंत्रित करने की निरंतर कोशिश की है, हिन्दुत्वाद के रथ को थामा है। बौद्ध धर्मांतरण से हिन्दू धर्म के मठाधीशों की नींद हराम हुई है। ऐसे दौर में अचानक बौद्ध धर्म को दरकिनार करते हुए आस्तिकता और ईश्वर को खड़ा करने की पहल दलितों को अविवेकी और चेतनाहीन बनाना ही हुआ। डॉ. धर्मवीर के चिन्तन में हिन्दुत्ववाद का सतत विकास दिखाई देता है। उनका सारा दर्शन हिन्दुत्ववाद की तर्ज पर चल रहा है भले ही उसका नाम दलित धर्म हो। लेकिन वह काम हिन्दू धर्म का ही रहा है। जब-जब हिन्दू धर्म हारने लगता है तब-तब वह अपना अनुकूलित पुरुष दर्शन ढूँढ लेता है। धर्माधता, जड़ता, वर्ण-व्यवस्था, शोषण, असमानता, अपमान और अन्याय के बरक्स चल रहे मुक्ति आंदोलनों के बीच ऐसे दर्शन चिन्तन की उपस्थिति का क्या अभिप्राय हो सकता है? सन् 1994 से आज तक के सांस्कृतिक हलचल को, बल्कि पिछले 10 वर्ष के अंदर जिस तरह का हिन्दू पुनरुत्थान हुआ है, उसकी पूरी झलक धर्मवीर दर्शन में ढूँढी जा सकती है। फुले-अम्बेडकर का नकार, स्त्री स्वाधीनता का विरोध तथा बौद्ध विवेक का नकार उन्हें अंततः हिन्दुत्ववादी ही सिद्ध करता है। वैचारिक साम्य दिखाई देता है हिन्दुत्व और धर्मवीरत्व में। उनका पूरा मॉडल, उनका स्वर हिन्दुत्ववादी स्वर में गुंथा हुआ है। उनकी पुस्तकें/ लेख हिन्दुत्ववादी अराजकता की तरह ही अपनी बानगी पेश करती हैं। सन् 1994 से 2005 ई. तक के लेखन से इसको पुष्ट किया जा सकता है। 'दलितों का दर्शन क्या हो?', 'हिन्दू विवाह की तानाशाही', 'झूठ पर खड़ी इमारत', 'मूल समस्या स्त्री को लेकर है (साक्षात्कार)', 'अस्मितावाद बनाम वर्चस्वाद', 'बाबा साहेब अम्बेडकर और यौन सदाचार', 'दोहरा अभिशाप, कितना दोहरा?' 'एक डायनासोर औरत' तथा 'मातृसत्ता, पितृसत्ता और जारसत्ता' शीर्षक छः पुस्तकों की शृंखला के विश्लेषण-विवेचन से डॉ. धर्मवीर स्वयं सामंत का मुंशी साबित होंगे।

लगभग 12-13 वर्ष से दलित स्त्री को निठल्ली, व्याभिचारिणी, 24 घंटे की सेक्स की बकवास और उसे काबू में रखने के फतवे की निरंतर घोषणाएँ हो रही हैं। उसे साबित करने, अमल में लाने, मनवाने की सारी कवायद निम्नतर स्तर पर गिरकर, भाषा का लफंगीकरण करके डॉ. धर्मवीर पितृसत्तात्मक व्यवस्था को मजबूत करने के लिए ऐड़ी-चोटी एक किए हुए हैं। अपने पक्ष में दबे पांव दलित लेखकों की मौन स्वीकृति भी हासिल कर ली है। *दलित पुरुषों की ओर से उन्हें भरपूर शह दी जा रही है लफंगई करने की भरपूर छूट मिली हुई है आखिर क्यों न*

हो? दलित स्त्री को काबू में करने से ही तो हिंदी में दलित विमर्श पर केवल पुरुषों का कब्जा है। यदि काबू से बाहर निकल जाएँगी तो पुरुष की 'मर्दानगी' के सच को ही बाहर लाएँगी। बैसंत्री जी ने पुरुष के असली चेहरे को सामने रखने की कोशिश की तो वह 'डायनासोर' बना दी गई। वास्तव में मनुस्मृति के लेखक धर्मवीर जी ही हैं जिन्होंने 'पिछले' जन्म में इसकी रचना करके समस्त दलितों को काबू में करने का नियम बनाया, दंड विधान बनाया। गलती से आज दलितों के बीच पैदा हो गए हैं लेकिन 'जन्म जन्मांतर' उन्हें इलहाम होता रहा है कि उन्हें किस-किस को ठीक करना है। चूंकि दलित पुरुष हैं (?) इसलिए दुश्चरित्र दलित पुरुषों को तो ठीक कर नहीं सकते। घर के भीतर उनके 'अपनों' ने दगा किया, उसका बदला कैसे लेंगे? उन पुरुषों के लिए कौन-सी संहिता है जो सदियों से स्त्री को छलता रहा है, आंख में धूल झोंककर 24 घंटे का बकवास करता रहा है। बीवी के रहते हुए घर में कामवाली का 5-5 रुपये में चुंबन लेता है। ऐसे दलित लेखकों को क्यों नहीं पकड़कर सजा देते जो बीवी को भी धोखा देता है और स्त्री की लाचारी को भोगता भी है। स्त्रियाँ अब ऐसे पुरुषों के लिए भी दंड-संहिताएँ स्वयं लिखेंगी। बुद्ध को बुद्धू कहने वाला दलित नहीं हो सकता, अम्बेडकरवादी नहीं हो सकता, हां! वह बहुरूपिया जरूर हो सकता है जो दलित परिवार के घर में संधमारी करने आया है। वह ब्राह्मणवाद का खिलौना हो सकता है, मोहरा हो सकता है, उनका पैरोकार हो सकता है लेकिन चेतनाशील दलित तो कतई नहीं हो सकता।

खेत-खलिहानों में काम करने वाली औरतों ने अनेक पुरुषों की मर्दानगी को हंसिया-कुदाल की धार पर कुंद किया है। औरत को गुलाम बनाए रखने की हिन्दूवादी संस्कृति को डॉ. धर्मवीर जैसा 'कुशल' हथियार मिल गया है। व्यवस्था हमेशा से अपने अनुकूल चरित्र ढूंढ ही लेती है। हिन्दुत्वादी संस्कृति के हथियारों से लैस, फासीवादी विचारों से लबरेज, कुलांचे मारते उच्छृंखल अश्वमेध के घोड़े को स्त्रियों ने धर-दबोचा है। उनके पास हिनहिनाने के अलावा और कोई चारा नहीं है। अम्बेडकरवादी चोले को उतारकर सामंती नख-दंत को तोड़ने की तैयारी हो चुकी है। दलित लेखक संघ की अध्यक्ष डॉ. विमल थोरात ने इस ओर संकेत कर दिया है 'मर्दवादी ताकतों के एकत्र होने से पहले नारीवादी ताकतों को इस खतरे को भांप लेना चाहिए। एकजुट होकर संघर्ष करने की जरूरत बड़ी शिद्दत से महसूस होने लगी है। अपनी लेखनी में सौ-सौ मिसाइलों की मारक शक्ति भरकर लिंग-पिचाशों पर हमला बोलने का समय आ गया है। नारीवादी, समतावादी, स्वतन्त्रचेत्ता मुक्तिकांक्षी समूहों के लिए यह एक चेतावनी की घड़ी है।' (कथादेश, जुलाई 2003) हिंदी में मुक्तिकामी दलित आंदोलन की कमी ने ऐसे 'अवतारों' को जन्म दिया है। वर्णव्यवस्था का वर्चस्ववादी मिजाज पुरुषों पर इस कदर हावी

है कि अब उनकी मुक्ति के लिए एक नए तरह की मुहिम छेड़ने की जरूरत है। अधिकांश दलित पुरुषों का लेखक वर्ग अहंवादी, शोषणवादी संस्कृति को आत्मसात करके मनु की व्यवस्था को ही चिरस्थायी करने जा रहा है। ऐसा लगने लगा है तभी वे धर्मवीरीय प्रलापों पर मौन हैं और फासिस्ट विमर्श में शामिल होते जा रहे हैं। “फासिस्ट विमर्श स्त्री की अपनी कोई अस्मिता स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार स्त्री सामुदायिक पवित्रता की प्रतीक है, उसे काबू में रखना हर ‘समाज’ का स्वाभाविक अधिकार है। अपने आपको मनुष्य मानने और मनुष्य सुलभ स्वतन्त्रता का उपयोग करने का स्त्री का अधिकार इस ‘समाज की पवित्रता’ वाले अधिकार से कट जाता है।” (पुरुषोत्तम अग्रवाल, तद्भव-9) फासिस्ट सोच का आलम यह है कि हिन्दुत्ववादी चमत्कार के तहत डॉ. धर्मवीर हर स्त्री के पेट में पल रहे बच्चे का अपनी नजरों से ही डी.एन.ए. टेस्ट कर लेते हैं, तभी तो उन्होंने 1936 की बुधिया को भी जान लिया है।

इतिहास साक्षी है बार-बार स्त्रियों के लिए ही नैतिक संहिताएँ लिखी गई हैं। मसलन उसे कितना सच्चरित्र होना चाहिए। चरित्रवान बनाए रखने की संहिताएँ सर्वदा से पुरुषों ने ही लिखी। यह काम कभी पुरुष समूहों ने किया जो बेनाम रहा, तो कभी धार्मिक पाखंडियों ने किया, आज नैतिकता के नए मठाधीश (अवतारी पुरुष) खुल्लमखुल्ला सीना ताने फासीवादी चोंगा पहने अबाध गति से अपनी कुचाल की ओर अग्रसर हैं। पुरुषों के लिए, उनको काबू में रखने के लिए, चरित्रवान बनाने के लिए डॉ. धर्मवीर को सबसे पहले आचार संहिता बनानी चाहिए। जिससे उन्हें अपनी और अन्य पुरुषों की सच्चरित्र-कुचरित्रता को परखने का अवसर मिल जाता। यह कैसे तय होगा कि पुरुष जो कर रहा है या संस्कृति विजय करने जा रहा है क्या वह अपने अनुकूल व्यवस्था नहीं बना रहा है जिसके बाद स्त्री के साथ उसे जीवनपर्यंत बदमाशियाँ करने का सर्टिफिकेट मिल सके? कुविवेक और कुतर्क के सहारे ब्राह्मणवादी-फासिस्ट सोच को मनवाने-लागू कराने की रणनीति के पीछे क्या है? स्त्री विरोधी विचारों को प्रश्रय देने वाली शक्तियों की एकजुटता आज नहीं तो कल बेनकाब होगी ही। अम्बेडकरवाद की आड़ में जो खेल चल रहा है वह बहुत लंबा चलने वाला नहीं है। समय रहते चेत जाएँ तो हिंदी दलित विमर्श को अन्तर्विरोधों से बचाया जा सकता है और एक साथ मिलकर समग्रता में दलित आंदोलन को बाबासाहेब की राह पर ले जाया जा सकता है। हिंदी दलित विमर्श के भीतर यदि स्त्री संवेदना को जगह मिली होती तो शायद यह स्थिति नहीं आती। अब स्त्रियों की तनी मुड़ियाँ और उनका प्रतिरोधी स्वर ही अपनी संवेदना की अहमियत बताएँगे जरा इंतजार करें।

दलित स्त्रियाँ किसकी संपत्ति हैं

राजकिशोर

बहुजन समाज पार्टी ने भारतीय राजनीति में जिस तरह के मुहावरे चलाए हैं, कुछ लोग उन्हें हिन्दी साहित्य में चलाना चाहते हैं। इनमें नरम दल के नेता हैं मुद्राराक्षस और गरम दल के नेता हैं, डॉ. धर्मवीर। 'हिन्दी की आत्मा' पुस्तक से धर्मवीर की बहुत अच्छी पहचान बनी थी लेकिन अब उनकी विचारधारा ने एक ऐसा मोड़ ले लिया है कि वे अपनी ताजा पुस्तकों के फ्लैप पर अपनी प्रकाशित रचनाओं की सूची में उस पुस्तक का उल्लेख नहीं करते। ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने उदारवादी अतीत से मुक्त होकर पूरी तरह अनुदारवादी हो जाने का फैसला किया है। इसका एक दुर्भाग्यपूर्ण और दुखद परिणाम है दलित अलगाववाद, जिसे रोकने के लिए महात्मा गांधी ने एक बार जान की बाजी लगा दी थी।

कुछ लोग यह उचित सवाल उठा रहे हैं कि साहित्य में संवाद चलेगा या जूते चलेंगे। इसका उत्तर स्पष्ट है। कहना तो यह भी चाहिए कि साहित्य में ही नहीं, कहीं भी जूते नहीं चलने चाहिए। जूतमपैजार सभ्य लोगों का गुण नहीं है उनका दुख चाहे जितना भी गहरा हो लेकिन इस उत्तर के साथ एक प्रश्न भी गुंथा हुआ है। प्रश्न यह कि साहित्य में संवाद चलेगा या गाली-गलौज। दूर से फेंके गए जूतों से तो कोई खास चोट नहीं लगती। दरअसल, यह गाली-गलौज का ही एक सक्रिय संस्करण है। मुश्किल यह है कि जो लोग जूतों का विरोध कर रहे हैं, वे स्वयं गाली-गलौज में यकीन रखते हैं। धर्मवीर की एक ऐसी ही पुस्तक है 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' जो उनकी पुस्तक शृंखला 'मातृसत्ता, पितृसत्ता और जासत्ता' का तीसरा खंड है। जिन्हें उग्रवादी दलित मानसिकता को जानना हो, उन्हें ये पुस्तकें जरूर पढ़नी चाहिए। इनसे हिन्दू समाज की कुछ भयावह विकृतियों का भी अच्छा ज्ञान होता है।

आजकल धर्मवीर के चिन्तन का एक बीज शब्द है, जासकर्म। वे प्रेमचंद को बार-बार जासकर्म बताते हुए धुनते जाते हैं क्योंकि प्रेमचंद ने अपनी एक पत्नी को त्याग दिया था और अपने अंतिम क्षणों में दूसरी पत्नी को बताया था कि 'मैंने अपनी पहली पत्नी के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने

पर भी मेरा उससे संबंध था।' इसे ही धर्मवीर जारकर्म कहते हैं। वे पूछते हैं कि 'क्या प्रेमचंद ऐसा साहित्य लिख सकेंगे, जिसमें जारकर्म व्यक्ति को पांच साल की जेल की सजा काटने का विधान है?' प्रेमचंद ने जो किया, उसका समर्थन कोई नहीं कर सकता। वह स्पष्ट रूप से अनैतिक था। यही कारण है कि प्रेमचंद के प्रेमियों और भक्तों ने इस तथ्य को प्रचारित होने से रोका, पर चूंकि धर्मवीर के लेखन का एक हिस्सा बहुत ही तकनीकी और कानूनी बारीकियों से भरा हुआ है, इसलिए उन्हें यह बताना जरूरी है कि जारकर्म का वास्तविक अर्थ क्या है।

'जार' शब्द के दो अर्थ हैं एक सामाजिक, कोशगत और दूसरा कानूनगत। पहले कोशगत अर्थ को लें। वामन शिवराम आपटे द्वारा संपादित संस्करण 'हिन्दी कोश' के अनुसार 'जार' शब्द का अर्थ है उपपति, प्रेमी, आशिक। कालिका प्रसाद राजवल्लभ सहाय और मुकुंदीलाल श्रीवास्तव द्वारा संपादित 'वृहत् हिन्दी कोश' के अनुसार, इस शब्द का अर्थ है परस्त्री से प्रेम करने वाला, उपपति, आशना। जारकर्म का अर्थ बताया गया है 'व्यभिचार।' अब देखना चाहिए कि 'व्यभिचार' का अर्थ क्या बताया गया है। 'संस्कृत-हिन्दी कोश' में इसके कई अर्थ दिए गए हैं। जिन अर्थों से हमारा यहाँ प्रयोजन है, वे हैं विचलन, सन्मार्ग छोड़ देना, कुमार्ग का अनुसरण करना। 'वृहत् हिन्दी कोश' में इसका अर्थ दिया गया है सत्पथ का परित्याग, कुमार्ग गमन, पाप, दुराचार, दुष्कर्म, अनुचित यौन संबंध (एडल्टरी)।

अब जारकर्म का कानूनी अर्थ देखना चाहिए। भारतीय दंड संहिता की धारा 497 के अनुसार जारकर्म 'जो कोई ऐसे व्यक्ति के साथ, जो कि किसी अन्य पुरुष की पत्नी है और जिसका किसी अन्य पुरुष की पत्नी होना वह जानता है या विश्वास करने का कारण रखता है, उस पुरुष की सहमति या मौनानुकूलता के बिना ऐसा मैथुन करेगा वो बलात्संग के अपराध की कोटि में नहीं आता, वह जारकर्म के अपराध का दोषी होगा और दोनों में से किसी भाँति के कारावास से, जिसकी अवधि पांच वर्ष तक की हो सकेगी, या जुर्माने से, या दोनों से दंडित किया जाएगा। ऐसे मामले में पत्नी दुष्प्रेरक के रूप में दंडनीय नहीं होगी'।

क्या प्रेमचंद जारकर्म थे? जहाँ तक कानूनी परिभाषा का सवाल है, एक ही समय में दो स्त्रियों से संबंध (इसमें यौन संबंध भी आ जाता है) बनाना जारकर्म नहीं है, अगर इन दोनों में से कोई भी किसी अन्य पुरुष की पत्नी नहीं है। धर्मवीर ने या किसी अन्य ने ऐसा कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया, जिसके आधार पर कहा जा सके कि अपनी पहली पत्नी के जीवन-काल में ही प्रेमचंद ने 'जिस स्त्री को रख छोड़ा था' (यह अभिव्यक्ति बहुत ही फूहड़ है और प्रेमचंद जैसे लेखक को कतई शोभा नहीं देती), वह किसी और की पत्नी थी। ज्यादा संभावना यह है कि वह किसी की पत्नी नहीं थी क्योंकि व्यभिचार के ऐसे गुप्त संबंध बहुत समय तक नहीं टिकते। जहाँ तक कोशगत अर्थ का सवाल है, इस अर्थ में भी उन्हें जार ठहराना मुश्किल

है। वे किसी स्त्री के उपपति नहीं थे और न ही किसी परस्त्री से उन्होंने संबंध बनाया था। क्या वे व्यभिचारी थे? यह आरोप लगाने के लिए मानना होगा कि वे दुष्कर्म के दोषी थे, उन्होंने कोई अनुचित यौन संबंध बनाया था।

जहाँ तक ज्ञात तथ्यों का सवाल था, ऐसा कुछ भी नहीं था। नैतिक आधार पर यह जरूर कहा जा सकता है कि उन्होंने पहली पत्नी का परित्याग कर अच्छा नहीं किया था। यह भी कहा जाना चाहिए कि विवाहित होते हुए किसी अन्य स्त्री से संबंध बनाना और दूसरी बार विवाह करने के बाद भी उस संबंध को जारी रखना उचित नहीं था। संबंध था भी, तो उसे गोपनीय रखना प्रेमचंद की कमजोरी या कायरता थी लेकिन इसे बार-बार जारकर्म कहना बदनीयती का प्रमाण है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि तब तक हिन्दू विवाह कानून नहीं बना था और बहुविवाह या बहुगमन सामाजिक रूप से अमान्य नहीं था।

डॉ. अम्बेडकर द्वारा प्रस्तावित हिन्दू कोड बिल के प्रति डॉ. धर्मवीर को बहुत श्रद्धा है लेकिन इस कोड बिल में भी बहुगमन की मनाही नहीं है। धर्मवीर ने इस हिन्दू कोड बिल की धारा 30 उद्धृत की है, जिसके अनुसार 'कोई ऐसा विवाह, चाहे वह इस कोड के आरंभ होने से पहले अथवा बाद में संपूर्ण हो चुका है, निम्नांकित आधारों में से किसी एक के कारण खत्म हो जाएगा (2) यदि पति किसी स्त्री को रखैल के रूप में रख रहा है...।' धर्मवीर के अनुसार यह बहुत ही क्रांतिकारी प्रावधान था लेकिन इस प्रावधान में भी किसी अन्य स्त्री से संबंध बनाने की मनाही नहीं थी, न यह मनाही आज है। इसलिए उसकी सजा नहीं थी, न है। हां, यह तलाक का एक आधार जरूर था और अब भी है।

जहाँ तक 'रखैल' शब्द का सवाल है, इसका प्रयोग प्रतिबंधित कर देना चाहिए। यह स्त्री की गरिमा के अनुकूल नहीं है। हेमा मालिनी और शबाना आजमी के उदाहरणों से स्पष्ट है कि कोई स्त्री कितनी मजबूरी से (यह मजबूरी दिल की हो या किसी और किस्म की) दूसरी स्त्री बनना स्वीकार करती है। जहाँ तक बहुविवाह या बहुगमन का सवाल है, धर्मवीर ने बार-बार यह प्रतिपादित किया है कि हिन्दू कानून मनुष्य को अनिवार्य रूप से जार बनाता है। यानी कोई हिन्दू है, तो वह विवाह की मर्यादाओं का पालन कर ही नहीं सकता। यह सफेद से भी ज्यादा सफेद झूठ है। जिस समाज के सदस्य अनिवार्य रूप से जार हों वह समाज टिक ही नहीं सकता।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो सभी समाजों में व्यभिचार मौजूद रहा है और यह काम ज्यादातर उच्च वर्ग ने किया है। सिर्फ ईसाई धर्म ने एक पुरुष, एक स्त्री का कानून बनाया लेकिन शक्तिशाली लोग इस कानून का भी उल्लंघन करते रहे हैं। धर्मवीर द्वारा उद्धृत फ्रेडरिक एंगेल्स का कहना है, 'सभी लोगों के पितृसत्तात्मक परिवार में, केवल कुलपति या अधिक से अधिक उसके दो-एक पुत्रों

के पास, एक से अधिक पत्नियाँ होती थीं। परिवार के अन्य सदस्यों को एक-एक पत्नी से ही सन्तोष करना पड़ता था। समूचे पूरब में यही हालत है। बहु-पत्नी विवाह केवल धनिकों और अभिजात लोगों का विशेषाधिकार है और ये पत्नियाँ मुख्यतः दासियों के रूप में खरीदी जाती हैं। आम लोगों के पास एक-एक पत्नी होती है।’

इसका एक जैविक कारण भी है। एंगेल्स लिखते हैं, ‘सामाजिक संस्थाएँ जो भी रही हों, पुरुषों और स्त्रियों की संख्या अभी तक, मोटे तौर पर, सदा बराबर रही है।’ धर्मवीर ने इन पंक्तियों को अपने पक्ष में उद्धृत किया है, पर ये जाकरकर्म से संबंधित उनकी प्रत्येक स्थापना का खंडन करती है। उन्हें याद दिलाने की जरूरत है कि जब दलित भी सत्ता में आता है, तो वह रामविलास पासवान की तरह एक ही पत्नी से सन्तुष्ट नहीं रहता।

धर्मवीर ने बार-बार ब्रह्मा विवाह का जिक्र किया है। इस तरह किया है मानो वह आज भी जारी हो, जैसे ‘हंस’ ख्याति के रामशरण जोशी के सन्दर्भ में लेकिन मित्रवर, विवाह की ये सारी किस्में अब इतिहास अधिनियम लागू होने के बाद हिन्दू समाज में एक ही तरह का विवाह मान्य है। यह सच है कि इस अधिनियम के पूर्व हिन्दू समाज में तलाक की छूट नहीं थी लेकिन ईसाइयत में भी लंबे समय तक तलाक की सुविधा नहीं थी और उसकी कैथोलिक शाखा आज भी विवाह को अटूट मानती है। इस्लाम में पुरुष को तलाक की छूट है। कहा जाता है कि मुस्लिम स्त्रियाँ भी तलाक दे सकती हैं लेकिन व्यावहारिक स्तर पर यह बहुत कठिन होता है।

धर्मवीर की यह स्थापना कि प्रेमचंद तलाक के विरोधी थे या स्त्री स्वतन्त्रता के खिलाफ थे, सत्य नहीं है। यह तो नादानी से भी कुछ ज्यादा है कि ‘मेरी जानकारी में कोई हिन्दू लेखक ऐसा नहीं है जो वैवाहिक मामलों में तलाक का हामी हो।’ स्वयं प्रेमचंद के समकालीन जयशंकर प्रसाद ने ‘ध्रुवस्वामिनी’ में तलाक का समर्थन किया है। ‘नदी के द्वीप’ में तलाक का समर्थन है। यहाँ तक कि अनेक हिन्दी लेखकों ने तलाक लिया है, जैसे अज्ञेय, बालकृष्ण राव, उपेन्द्रनाथ अशक, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती। जहाँ तक तलाक लेने वाले हिन्दू लेखकों का सवाल है, उनकी संख्या कई दर्जन होगी। जहाँ तक तलाक की स्वतन्त्रता का हामी होने का सवाल है, मेरा ख्याल है अस्सी प्रतिशत से ज्यादा हिन्दू या हिन्दी लेखक तलाक के हामी हैं लेकिन प्रगतिशील होने का अर्थ तलाकशुदा होना कब से हो गया?

अब रह गई बात ‘कफन’ की, जिसकी एक नई व्याख्या धर्मवीर ने की है। उनका मानना है कि घीसू और माधव बुधिया की दुर्दांत मौत से इसीलिए अप्रभावित (या प्रसन्न) थे कि बुधिया के गर्भ में किसी जमींदार का बच्चा था। वे कहते हैं, ‘लेकिन घीसू और माधव का चमार होकर यह पहला ज्ञात विद्रोह है जो मुंशी प्रेमचंद

की कहानी 'कफन' में व्यक्त हुआ है।' यह इस बात का प्रमाण है कि स्वैर कल्पना किस तरह सत्य को दबा सकती है। अगर धर्मवीर की स्थापना में दम होता, तो घीसू यह न कहता 'मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते हो गया, जा देख तो आ।' न माधव यह कहता 'मैं सोचता हूँ कोई बाल-बच्चा हुआ, तो क्या होगा? सौंठ गुड़, तेल कुछ भी तो नहीं है घर में।' शराब पीकर पुड़िया उड़ाते हुए घीसू कहता है 'हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे पुत्र न होगा?' 'माधव श्रद्धा से सिर झुका कर' उसकी तसदीक करता है 'जरूर-से-जरूर होगा। भगवान, तुम अंतर्दामी हो। उसे बैकुंठ ले जाना। हम दोनों हृदय से उसे आशीर्वाद दे रहे हैं...' क्या यह विद्रोहियों की भाषा है?

धर्मवीर की एक बड़ी समस्या यह है कि वे उन दलित पुरुषों का तो समर्थन करते हैं जो हिन्दू समाज में घुस कर जीविका और सम्मान प्राप्त करते हैं (इस बढ़ते हुए वर्ग में धर्मवीर खुद शामिल हैं), लेकिन दलित स्त्रियों को अपने जातीय बाड़े में बांध कर रखना चाहते हैं। वे दलित स्त्रियों को अपनी संपत्ति समझते हैं और उन्हें सवर्णों से मिलने-जुलने की इजाजत नहीं देते। धर्मवीर सवर्ण स्त्रियों की स्वतन्त्रता के हामी हैं (ताकि वे दूसरों के लिए भी सुलभ हों सकें), पर दलित स्त्रियों को सीमाबद्ध करना चाहते हैं (ताकि वे गैर-दलित के साथ संबंध न बना सकें और सिर्फ दलितों के लिए सुलभ रहें।) इस तरह के अंतर्विरोधी विचार दलित अलगाववाद से ही पैदा होते हैं। कोई भी मनुष्य किसी की संपत्ति नहीं है यहाँ तक कि वह अपनी भी संपत्ति नहीं है। इसीलिए वह अपने को बेच नहीं सकता। यह सच है कि अतीत में दलितों का बहुत यौन शोषण हुआ है और आज भी जारी है। इसका उपाय जातिविहीन और खुशहाल समाज है।

यह शोक और शर्म की बात है कि दलित समस्या आज भी बनी हुई है लेकिन सभी पक्षों द्वारा जोरदार प्रयास करने से ही यह समस्या खत्म होगी। यह प्रयास सिर्फ जाति तोड़ने का नहीं, आर्थिक संपन्नता फैलाने का भी होना चाहिए। दलितों को इसलिए भी दलित रखा जा सका, क्योंकि उत्पादन के साधनों पर उनका कोई अधिकार नहीं था। अतः धर्मवीर को एंगेल्स ही नहीं, मार्क्स भी पढ़ना चाहिए। जब वे ऐसा करेंगे, तो इस तरह की बात नहीं करेंगे स्वतन्त्र भारत के संविधान के माध्यम से देश में राज्यों का गणतन्त्र खड़ा किया ही गया है, इसमें जातियों का गणतन्त्र जुड़ रहा है, तो कुछ बुराई नहीं है।' बुराई है, क्योंकि ऊंच-नीच पर आधारित जाति-प्रथा का चरित्र ही ऐसा है कि जातियों के बीच विषमता और तानाशाही ही हो सकती है, उनका गणतन्त्र नहीं।

दलित चिन्तन का वितंडावाद

अरुण माहेश्वरी

मायावती दलितवादी राजनीति का सबसे सटीक और ठोस उदाहरण हैं। वे दलित हितों के नाम पर बहुजन समाज की बात करती हैं लेकिन आश्चर्यजनक रूप से भारतीय राजनीति की किसी भी प्रगतिशील परंपरा से उनका कभी कोई संपर्क नहीं रहा है। खुद को वे अम्बेडकरवादी कहती हैं। उत्तरप्रदेश में अपनी सरकार के दिनों में अम्बेडकर की मूर्तियाँ और उनके नाम के पार्क बनवाने में करोड़ों रुपए पानी की तरह बहा चुकी हैं। मगर उनके मुंह से बहुजन समाज के हित के जाप के अलावा शायद ही कभी किसी ने अम्बेडकर और उनके विचारों के बारे में सिलसिलेवार कुछ सुना होगा।

इंटरनेट पर वेबसाइट है दलितिस्तान। इसे बहुजन समाज पार्टी का बताया गया है। इसमें 'अम्बेडकर लाइब्रेरी' के नाम से एक पुस्तकालय भी है। इस पुस्तकालय में आपको अम्बेडकर के अलावा और सब कुछ मिल जाएगा। इसमें संकलित की गई पुस्तकों में 'मनुस्मृति' है। ज्योतिबा फूले की एक जीवनी के साथ उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्तेवरी इन ब्रिटिश एंपायर' है। सीताराम येचुरी की पुस्तिका 'व्हाट इज हिन्दू राष्ट्र' भी है, जिन्हें कुछ महत्व की पुस्तकें कहा जा सकता है लेकिन इनके साथ ही डॉ. के. जमनादास की कुछ पुस्तकों सहित तथाकथित 'दलितत्व' के आधार पर भारत के पूरे इतिहास के पुनर्लेखन की भोंडी कोशिशें करने वाली कुछ चाकलेटी किताबें भी परोसी गई हैं। मज़े की बात यह है कि इस अम्बेडकर पुस्तकालय में अब तक अम्बेडकर के जीवन और कृतित्व पर एक भी किताब नहीं है। उल्टे, अम्बेडकर द्वारा अपने परवर्ती जीवन में अपनाए गए बौद्ध दर्शन के पतन की कहानी इसमें जरूर शामिल की गई है। 'गाथा' को विशेष महत्व के साथ इसमें संकलित किया गया है।

स्वतन्त्रता आंदोलन से लेकर आजादी के बाद की राजनीति में अम्बेडकर की क्या भूमिका रही है, भारतीय राजनीति में उनके हस्तक्षेप का क्या विशेष तात्पर्य रहा है और भावी भारत का उनका सपना क्या था, मायावती को इन विषयों से कभी खास सरोकार नहीं रहा। वे वर्तमान व्यवस्था का अंत करके निजी संपत्ति को समाप्त करने और प्रगतिशील मूल्यों को आत्मसात करने की अग्रगामी राजनीति नहीं, आम लोगों को हर प्रकार से पिछड़ा रख कर दलितों की साम्राज्यी बनने की प्रतिक्रियावादी राजनीति करती हैं।

अपने शरीर पर करोड़ों रुपये के गहनों और अपने चाटुकारों में चंद सवर्ण चेहरों

का प्रदर्शन करके वे दलितों की संघर्ष-चेतना का विकास नहीं, शुद्ध ईर्ष्या और दलितों के बीच कुछ समय से संपन्न बने मुट्टी भर लोगों की प्रतिद्वंद्विता की भावना से खिलवाड़ करती हैं। मायावती अपने सिवाय भारत की समूची राजनीति को 'मनुवादी' कहती हैं और इस सर्व-नकारवाद की ओट में आसानी से सत्ता का चरम अवसरवादी खेल खेलती हैं। भ्रष्टाचार और सत्ता के दुरुपयोग के साथ ही दूसरे मामलों में भी तमाम बुर्जुआ दलों के नेताओं के भी कान काटती हैं।

मायावती की तथाकथित 'दलितत्व' या 'दलित शास्त्र' के सिद्धांतकारों की पूरी शृंखला विचारों की दुनिया में कोरे भड़काऊ, उन्मूलनवादी और सिद्धांतविहीन लोगों के जमावड़े के अलावा और कुछ नहीं है। डॉ. के. जमनादास की तरह ही हिंदी में उनके एक स्वयंभू प्रतिनिधि हैं, डॉ. धर्मवीर। उत्तर भारत की राजनीति में मायावती का जो ढंग और तेवर है, हिंदी आलोचना में वही धर्मवीर का है। विचारों की दुनिया में उनके जैसा तू-तुक्कड़ और गाली-गलौच करने वाला विरला ही कोई दूसरा होगा। उन्होंने अपने हमले के लक्ष्य के रूप में सबसे पहले चुना था हजारीप्रसाद द्विवेदी को। द्विवेदी जी का दोष यह था कि उन्होंने जाति से ब्राह्मण होकर कबीर पर लिखने की जुर्रत क्यों की? द्विवेदी जी पर हमले के बाद अब उन्होंने चुना है 'कायस्थ' प्रेमचंद को। उन्होंने 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' जैसे अपमानजनक शीर्षक से एक घटिया-सी पंफलेटनुमा किताब लिखी है। इसमें उन्होंने यह सवाल उठा कर प्रेमचंद को कठघरे में खड़ा किया है कि वे क्यों नहीं जान पाए (जिसे बुधिया ने सपने में आकर धर्मवीर को बताया) कि उनकी 'कफन' कहानी की बुधिया के पेट में जो बच्चा पल रहा था, वह माधव का नहीं, बल्कि किसी सवर्ण के 'जारकर्म' की देन था? इसीलिए प्रेमचंद यह नहीं पकड़ पाए कि घीसू, माधव ने बुधिया को मरने देकर या उसके कफन के लिए जुटाए गए रुपयों को शराब में उड़ा कर सवर्णों के 'जारकर्म' का नैतिक प्रतिवाद किया था! धर्मवीर के अनुसार 'कायस्थ' भला इसे कैसे समझ पाते, क्योंकि वे खुद भी 'रखैल' रखकर जारकर्म के अभ्यस्त जो थे!

धर्मवीर की दृढ़ धारणा है कि हर सवर्ण अनिवार्य तौर पर 'जारकर्म' का अभ्यस्त होता है। वे बुद्ध से सवाल करते हैं कि उन्होंने डॉ. अम्बेडकर की भांति हिन्दू कोड बिल तैयार करने का बीड़ा क्यों नहीं उठाया! और तो और, वे यहाँ तक कहते हैं कि बुद्ध के संघ में जो भिक्षुणियाँ आईं, वे सभी 'बदफैल' और 'वेश्याएँ' होती थीं। त्रिपिटक के सूत्र पिटक के खुदक निकाय के पंद्रह ग्रंथों में एक थेरीगाथा, जिसे अन्यों ने 'नारी स्वतन्त्रता को प्रकट करने वाला प्रथम ग्रंथ' कहा है, उसे धर्मवीर 'बदचलन' औरतों और 'बदमाश' पुरुषों की कहानियों का संकलन बताते हैं। बुद्ध पर धर्मवीर के आरोपों में एक यह भी है कि वे स्त्री के दुख की बात क्यों कहते हैं? क्यों कहते हैं कि, 'बच्चों को... जनना दुःख है।' क्यों कहते हैं कि, 'कोई-कोई.. जनने वाली माताएँ एक बार ही मृत्यु चाहती हुई अपना गला काट लेती हैं ताकि

दुबारा यह असह्य दुख न सहना पड़े।’

धर्मवीर का तर्क है कि यह ‘किस दुनिया की बात हो रही है? कभी प्रसव बिगड़ जाया करता है तो आज का चिकित्सा विज्ञान उसे सफल बनाने में हमारी बेहद सहायता करता है। हम बुद्ध की सुनें या मेडिकल साइंस की सुनें।’

‘हिन्दू कोड बिल’ न बनाने और प्रजनन के वक्त आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सहयोगी रूप को न समझ पाने के दोषी बुद्ध को लेकर धर्मवीर पूछते हैं कि ऐसे बुद्ध पर अम्बेडकर को गर्व क्यों है? अम्बेडकर को मानो नसीहत देते हुए वे आगे कहते हैं कि ‘बुद्ध जो शिक्षा देते थे वह परिवार को तोड़ने वाली थी। ...उनके सिद्धांत और व्यवहार में एकरूपता थी लेकिन एकरूपता समेत उनके सिद्धांत और व्यवहार दोनों गलत थे।’ धर्मवीर यह बताने से नहीं चूके हैं कि आखिरकार बुद्ध भी एक क्षत्रिय ही थे, जो स्वभावतः जारकर्म को जायज मानते थे।

इसी प्रकार धर्मवीर ने भारत के श्रेष्ठ कम्युनिस्ट नेता ईएमएस नंबूदरीपाद को भी घसीटा है। ईएमएस कम्युनिस्ट नहीं जारकर्मी ‘ब्राह्मण’ थे, इसके प्रमाण के तौर पर धर्मवीर ईएमएस को ही उद्धृत करते हैं। ईएमएस ने लिखा था कि ‘वेदोपनिषद आदि के भारतीय सांस्कृतिक भंडार को और मार्क्सवाद-लेनिनवाद के क्रांतिदर्शन को मैंने भारतीय मार्क्सवाद में मिला कर आगे बढ़ाया है।’ इस पर धर्मवीर बिफरते हैं, ‘बताइए, दलित लोग मार्क्सवाद को इसलिए अपनाना चाहते हैं कि इससे उनका ब्राह्मणों की वर्णव्यवस्था से पीछा छूटेगा, लेकिन इधर ब्राह्मण नंबूदरीपाद मार्क्सवाद को इसलिए अपना रहे हैं ताकि उनकी वेदोपनिषद की वर्ण-व्यवस्था कायम रह सके।’

भारतीय चिन्तन परंपरा के साथ मार्क्सवाद के क्रांतिकारी दर्शन के सूत्रों को जोड़ना वर्ण-व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश कैसे है, इसे धर्मवीर और उनके जैसे ‘दलित-शास्त्रियों’ के अलावा शायद ही और कोई जान सकता है। कहना न होगा, इस अनर्गलता से जो एक बात दिन के उजाले की तरह साफ हो जाती है, वह यह कि ये ‘दलित शास्त्री’ निश्चित तौर पर भारत की क्रांतिकारी राजनीति और प्रगतिशील चिन्तन परंपरा के पक्के दुश्मन हैं।

वाणी प्रकाशन से धर्मवीर की एक शृंखला प्रकाशित हो रही है, ‘मातृसत्ता, पितृसत्ता और जारसत्ता। इस शृंखला में अब तक प्रकाशित तीन पुस्तकों में यही सब कहा गया है, जिनका हमने ऊपर जिक्र किया है। इन पुस्तकों से आपको पता चलेगा कि भारतीय सन्दर्भ में उन्होंने सामाजिक विकास के इतिहास में एक नई सत्ता, ‘जारसत्ता’ को खोज निकाला है। जार अर्थात् यौन अपराध। समाज को वे दो वर्गों में बांटते हैं जारकर्म करने वाले और जारकर्म नहीं करने वाले। वे अब तक के भारत के इतिहास को यौन अपराधों का इतिहास बताते हैं, जिसे आप उनकी सबसे मौलिक खोज समझ सकते हैं। इस इतिहास के खलनायकों में आज के सभी प्रगतिशील भी शामिल हैं और प्रेमचंद चूंकि प्रगतिशीलों में अब्बल स्थान पर आते हैं, इसलिए उनकी लानत-मलामत

के लिए एक पूरी किताब ही लिख मारी है 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी'।

भारत के प्राचीन इतिहास के बारे में उनकी दृढ़ राय है कि उसमें जाजरकर्म के अलावा कुछ नहीं था और भारतीय समाज की यही वह कमजोरी थी, जिसके कारण भारत विदेशी ताकतों के हाथों गुलाम बना रहा। यहाँ के लोग जाजरकर्म में लिप्त रहे, इसलिए आक्रमणकारियों का मुकाबला कैसे करते? धर्मवीर के शब्दों में "मेरा कहना यह है कि कामसूत्र में निमग्न समाज विदेशी आक्रमण का सामना कर ही नहीं सकता था। ग्यारहवीं सदी की बात तुर्कों को लेकर कही जा रही है लेकिन गुलामी में यह देश तुर्कों से पहले भी रहता आया है, फर्क यह है कि तुर्क और मुगल एक धर्म-पुस्तक कुरान और पर्सनल कानून में तलाक की व्यवस्था वाली शरीयत लेकर आए थे, जबकि उनसे पहले आने वाले लोग ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रिय और बौद्धों द्वारा बौद्ध बना लिए जाते थे।...

खुद वात्स्यायन के कामसूत्र में यह ताकत होनी चाहिए थी कि वह विदेशी हमलावरों को सीमाओं से ही वापस कर देता। यह कामसूत्र की यौन अराजकता की ही कमजोरी है कि आक्रमणकारी देश की सीमाओं के भीतर आए। घर में जाजरकर्म नहीं रुका तो सीमाओं का बलात्कार किस बल पर रुक सकेगा?"

यह है भारतीय समाज के बारे में धर्मवीर की मौलिक समझ। हेनसांग, फाह्यान, अलबरूनी और बर्नीयर जैसे विदेशियों ने भारत आकर जो देखा और लिखा वह सब बेकार है। कार्ल मार्क्स ने भारत को ही सन्दर्भ बनाकर 'एशियाई उत्पादन प्रणाली' पर जो मगजपच्ची की, वह फिजूल है। डीपी चट्टोपाध्याय, डीडी कोसांबी, रोमिला थापर, इरफान हबीब से लेकर इतिहासकारों की एक पूरी शृंखला ने प्राचीन भारतीय समाज के ढांचे में निरंतर विकासमान श्रम के विभाजन की प्रक्रिया, भारत में ज्ञान-विज्ञान की विकसित शाखाओं के जो आख्यान लिखे हैं, वे सब के सब झूठे और निरर्थक हैं! जिस समाज के लोग घरों में सिर्फ जाजरकर्म में लिप्त हों, वहाँ ज्ञान-विज्ञान का क्या काम? जाजरकर्म की वजह से ही भारत में उत्पन्न बौद्ध धर्म बिना तलवार की मदद के सारी दुनिया में फैल गया!

धर्मवीर के तमाम कुतर्कों के बीच से भी एक बात साफ निकल कर आती है कि वे हिन्दू धर्म का लगभग वैसा ही, फतवों से चलने वाले पैगंबरी धर्म के रूप में कायाकल्प करना चाहते हैं, जैसा कि आरएसएस के लोग चाहते हैं। दलितत्व और इन दलित शास्त्रियों द्वारा आरएसएस की यह सेवा काफी तात्पर्यपूर्ण है। इस मामले में भी मायावती के अब तक के सारे खेलों से धर्मवीर की उलजलूल व्याख्यानों का सही मेल बैठता है।

फिर भी, धर्मवीर चाहते हैं कि लोग उनसे तर्क करें, 'शास्त्रार्थ' करें। बहरहाल, धर्मवीर की इन व्याख्याओं से उनके 'दलित-शास्त्र' का भोंडापन जरूर बेपर्दा हो जाता है।

पहले आत्मालोचन कर लें

सुनील कुमार 'सुमन'

हिन्दी में दलित विमर्श को शुरू हुए लगभग डेढ़ दशक हुए हैं। निश्चित रूप से इसने साहित्य, विमर्श और चिन्तन की दुनिया में एक जरूरी और क्रांतिकारी हस्तक्षेप किया है। इससे हिन्दी साहित्य और समाज का भला ही हुआ है, इसमें भी किसी को संदेह नहीं रहना चाहिए लेकिन इसके साथ-साथ इसके अंतर्विरोध और विसंगतियाँ भी बढ़ी हैं, जो दलित साहित्य विशेषकर दलित आन्दोलन के भविष्य के लिए हितकर नहीं है। हिन्दी दलित साहित्यकारों के बड़बोलापन और आपसी खींचातानी को देखकर तो अपना माथा स्वयं पीटने का मन करता है। कोई इस बात पर सोचने-समझने को तैयार नहीं है कि आत्मकथा, कहानी और कविता को छोड़ दें तो दलित विमर्श की झोली बहुत समृद्ध और उत्साहजनक नहीं कही जा सकती। उसमें भी वैविध्य और स्तरीयता का मुद्दा अलग से विचारणीय है। पर सवाल यह है कि क्या हमारे (दलित) लेखक भाई लोग इस ओर गंभीरतापूर्वक सोच रहे हैं? सड़कों पर उतरकर आन्दोलनों और जनता के बीच तो ये जाने से रहे! मराठी दलित साहित्य की अपेक्षा हिन्दी दलित साहित्य की यह हालत कहीं न कहीं इन कारणों से भी है।

आजकल दलित लेखकों को गुटबाजी करने और खुद को 'बड़ा' तथा 'महत्त्वपूर्ण' साबित करने में अपनी ऊर्जा खपाने से कतई गुरेज़ नहीं है। अब तो गद्य विधा में बाकायदा 'पोर्नोग्राफी' का भी आगमन हो चुका है। वह दिन दूर नहीं, जब भाई लोग इस 'पोर्नोग्राफी' में भी अम्बेडकरवाद ढूँढ निकालेंगे। बहरहाल, इन सारी विसंगतियों का जिक्र करने का आशय यही है कि अभी हिन्दी क्षेत्र में अम्बेडकरी मिशन की दिशा में काम करने की व्यापक संभावनाएँ हैं। खुद दलित साहित्य को भी अभी कई विधाओं में अपनी पहचान बनानी है, खासकर वैचारिकी और आलोचना का धरातल मजबूत करना अभी बाकी है।

हिन्दी क्षेत्र में राजनीतिक चेतना की लहरें तो चल पड़ी हैं, लेकिन सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर अलख की लौ को और तेज़ करना होगा। बात यदि शादी-ब्याह की करें तो खुद दलितों के बीच आज 'कास्ट नो बार' का कोई मतलब नहीं है।

जब आपस में ही अन्तर्जातीय विवाह नहीं हो रहे तो समुदाय के बाहर क्या होंगे! हां, दलितों में जो एलीट तबका पनपा है, वह जरूर सवर्ण जातियों में विवाहोत्सुक है, परन्तु इसके पीछे उनकी हीनभावना ज्यादा हावी है, न कि जाति तोड़ने का संकल्प। इसलिए मेरा स्पष्ट मानना है कि अन्तर्जातीय विवाहों और 'जाति तोड़ी' जैसे अभियानों को हर हाल में तेज करने की जरूरत है। पर इसके मूल में सामाजिक परिवर्तन की अम्बेडकरी भावना रहनी चाहिए, तभी इसकी कोई सार्थकता बन पाएगी। जो लोग जाति को बनाए रखना चाहते हैं, उन्हें हाल ही में घटी आगरा की घटना को एक सबक और चेतावनी के रूप में लेना चाहिए। बीते वर्ष किसी मामूली बात को लेकर आगरा के जाटवों और वाल्मीकियों के बीच खूनी संघर्ष की स्थिति पैदा हो गई थी। दिल्ली से सटे उत्तर प्रदेश के कुछ और इलाकों में ऐसी खाई धीरे-धीरे चौड़ी हो रही है। यहाँ तक कि अम्बेडकर जयन्ती पर इन समुदायों की ओर से अलग-अलग झांकियाँ निकाली जाती हैं। 'जाति जोड़ी' अभियान के रहनुमा होशियार रहें, जब इन अवसरों पर भी दलितों के बीच हिन्दू-मुसलमान की तरह तनाव और दंगे-फसाद होंगे।

दलित लेखकों के साथ दिलचस्प बात यह है कि वे लाख अम्बेडकरमय हो जाएँ, लेकिन सच्चाई यही है कि आज उनके बीच भी जाति की एक अघोषित लकीर तो खींच ही चुकी है। अब ये लोग दलित आन्दोलन क्या चलाएँगे, पहले आपस में तो निपट लें!

जहाँ तक 'जारसत्ता' की क्रांतिकारी खोज की बात है तो इस बारे में मेरी धारणा यह है कि इन सारे मुद्दों पर सही दिशा में स्वस्थ बहस होनी चाहिए। लेकिन इसकी आड़ में व्यक्तिगत 'ऐसी-तैसी' करने की इजाजत निश्चित रूप से दलित आन्दोलन को गुमराह करेगा। अभी तो दलित समाज स्वाभिमान की ही लड़ाई लड़ रहा है। अभी कई और मोर्चों पर कमर कसने की जरूरत है। सारी ऊर्जा जब व्यभिचार, सदाचार और नैतिकता के ही इर्द-गिर्द खप जाएगी, फिर ब्राह्मणवाद की मजबूत जड़ें क्योंकि उखड़ पाएँगी? बल्कि इससे तो ब्राह्मणवाद मजबूत ही होगा और अम्बेडकरवाद कमजोर।

बौद्ध धर्म स्वीकारने को डॉ. अम्बेडकर की 'भूल' मानना भी मेरी नज़र में हिन्दुत्व को मजबूती प्रदान करना है। बाबा साहब ने 'हंसते-खेलते' और 'मॉर्निंग वॉक' करते हुए यह निर्णय नहीं लिया था। बल्कि इतना बड़ा और दूरगामी फैसला करने में उन्होंने लगभग बीस वर्षों का समय लगाया था। उनके इस कदम को 'भूल' बताने वालों की समझदारी और मंशा को क्या कहा जाए! बुद्ध को क्षत्रिय मानकर बौद्ध धर्म को खारिज करने वालों से एक सवाल पूछा जाना चाहिए कि क्या एक दलित को आगे बढ़ने में ता-जिंदगी कोई सवर्ण मदद नहीं करता? पढ़ा-लिखा

और एक मुकाम हासिल कर चुका शायद ही कोई ऐसा दलित हो, जिसके आगे बढ़ने में किसी सवर्ण ने कभी मदद न की हो! यही बात सवर्णों के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है। इतिहास के पन्नों में ऐसे गैर दलित और सवर्ण किरदार भरे पड़े हैं, जिन्होंने सामाजिक न्याय की लड़ाई में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। फिर बुद्ध को क्षत्रिय मानने का क्या तुक? बौद्ध धर्म के बारे में प्रो. तुलसी राम का यह कहना एकदम सटीक है कि “यदि यह क्षत्रिय का धर्म होता तो आज भारत के सारे क्षत्रिय बौद्ध होते... यदि यह समुदाय विशेष (क्षत्रिय) का धर्म था तो भारत से बाहर इतने विशाल फलक पर किस कारण फैला?”

दलित समाज में आज दो तरह की विडम्बनाएँ एक साथ देखने को मिल रही हैं। एक तरफ तो दलितों में पैदा हुआ संपन्न तबका हिन्दुत्व की ओर तेजी से बढ़ रहा है। दूसरी ओर उड़ीसा के केन्द्रपाड़ा जिले में करेदगड़ा नामक गांव के दलित हैं, जो आज भी हिन्दू मंदिरों में जाने तक को लालायित हैं और उन्हें इसके लिए कितना विरोध और अपमान झेलना पड़ रहा है! यह सब तब-तक होता रहेगा, जब तक अम्बेडकरवाद का अंकुर हर दलित बस्ती में न फूट जाए और बुद्धइज्म को दलित अपने धर्म के रूप में न स्वीकार कर लें। हां, धार्मिक मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक मुक्ति का सवाल भी अहम है, इसे ‘इग्नोर’ करना दूसरी बड़ी गलती होगी।

दलित स्त्रियों को दलित पुरुषों के अधीन रखने की बात करने वालों को जरा पीछे मुड़कर सावित्री बाई फुले और डॉ. अम्बेडकर की ओर भी देख लेना चाहिए। भारत की पहली शिक्षिका सावित्री बाई फुले ने स्त्री शिक्षा की शुरुआत करके वास्तव में स्त्री-मुक्ति का बिगुल फूँका। स्त्रियों के दूसरे मुक्तिदाता डॉ. अम्बेडकर ठहरते हैं, जिन्होंने ‘हिन्दू कोड बिल’ जैसा नारी मुक्ति का दस्तावेज़ बनाया और उसे पास करवाने के लिए संघर्ष करते रहे। असफल रहने पर अपना मन्त्री पद भी त्याग दिया। जिस समाज में स्त्री की मुक्ति नहीं होगी, वह समाज कभी आगे नहीं बढ़ सकता। भारत में आज मुस्लिम समाज के घोर पिछड़ेपन की एक बड़ी वजह में उनके यहाँ स्त्रियों की दुर्दशा को मानता हूँ। दलित समाज को तो इस पर गर्व करना चाहिए कि उनकी स्त्रियाँ अपने पुरुषों के साथ घर से लेकर बाहर तक बराबर काम करती हैं। ये दलित स्त्रियाँ ही होती हैं, जो कई बार अपने शराबी-जुआरी पतियों की शारीरिक मरम्मत भी करती हैं। कई जगहों पर शराबखोरी के विरुद्ध लामबंद होकर आन्दोलन चलाने वाली महिलाएँ दलित-वंचित तबके की ही होती हैं। कोई सवर्ण महिलाओं से भी पूछे कि उन्हें अपने घरों में क्या इतनी आजादी हासिल है? दलित स्त्रियों को व्यभिचारी बताने वाले महानुभाव ज़रा ओमप्रकाश वाल्मीकि की ‘अम्मा’ कहानी को जरूर पढ़ लें। दलित स्त्री खेतों में काम करती

है, सड़कों पर पत्थर तोड़ती है, मिट्टी-ईंट ढोती है। यह सही है कि हर जगह उसके साथ तमाम तरह के खतरे मंडराते रहते हैं, लेकिन वह संघर्ष करती है, लड़ती-जूझती है और कई बार ऐसे गंदे इरादे रखने वालों का गला भी रेत डालती है। कभी इन पक्षों पर भी बहस-मुबाहिसा होनी चाहिए। ...और अंत में, ऐसे सवाल उठाने वालों से एक सवाल! इस मानसिकता के महानुभाव जरा खुद को देखें और सोचें, वे आज जहाँ खड़े हैं वहाँ तक पहुँचने में क्या किसी दलित स्त्री का कोई योगदान है, और है तो किस रूप में---

आप किधर हैं?

वेद प्रकाश

डॉ. धर्मवीर की पुस्तक 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' 'मातृसत्ता, पितृसत्ता और जारसत्ता' शृंखला की तीसरी पुस्तक है। पुस्तक का नाम देखकर ऐसा लगता है कि इसमें शायद प्रेमचंद के कथा साहित्य की एक नई दृष्टि से व्याख्या होगी। परन्तु ऐसा है नहीं। इस किताब का प्रेमचंद के साहित्य से कुछ खास लेना-देना नहीं है। वह तो यों ही बीच-बीच में छिटपुट आ जाता है। डॉ. धर्मवीर प्रेमचंद की कहानी 'कफन' का जिक्र करते हुए घीसू और माधव के अमानवीय व्यवहार को उनका विद्रोह बताते हुए कहते हैं 'सारी कहानी नए सिरे से स्पष्ट हो जाती यदि प्रेमचंद इस कहानी की आखरी लाइन में दलित जीवन का यह सच लिख देते कि बुधिया गांव के जमींदार के लोंडे से गर्भवती थी। उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था। तब, शब्द दीपक की तरह जल उठते और सब कुछ समझ में आ जाता। अपेक्षा ज्यादा की थी लेकिन घीसू और माधव इतना ही विद्रोह कर सके थे कि जमींदार के बच्चे को अपना बच्चा नहीं कहेंगे। यह असली पीड़ा है। दलित का असली शोषण यह है कि कई बार उसकी कथित औलाद उसकी असल औलाद नहीं है। इस शोषण के सामने आर्थिक शोषण कितना छोटा पड़ जाता है।' (पृ. 17) वे आगे कहते हैं 'क्या बेहतर है बुधिया और बुधिया के बच्चे को मरने देना या दूसरों की औलाद को अपनी कहकर पालना?' (पृ. 29)

जबकि प्रेमचंद अपनी कहानी 'कफन' में घीसू और माधव के अमानवीय चरित्र का कारण बताते हुए लिखते हैं 'जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।' (पृ. 19)

लेकिन इससे डॉ. धर्मवीर को क्या? प्रेमचंद का उनका मूल्यांकन प्रेमचंद की दूसरी पत्नी शिवरानी देवी के संस्मरण 'प्रेमचंद : घर में' में उद्धृत एक घटना पर आधारित है। जिसमें प्रेमचंद कहते हैं 'अच्छा एक और चोरी सुनो। मैंने अपनी पहली स्त्री के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ी थी। तुम्हारे आने पर भी उससे

मेरा संबंध था।' (पृ. 24) उनके अनुसार 'यह हुआ प्रेमचंद के पारिवारिक जीवन का हिसाब-किताब दो पत्नियाँ और एक रखैल और बाकी...? यह शरण कुमार लिंबाले जैसे दलित लेखकों की जन्मकुंडली है। वे ऐसे ही पैदा होते हैं।' (पृ. 29) और 'यदि इन दो ब्याहताओं के अलावा उस तीसरी औरत के पेट से प्रेमचंद का बच्चा जन्मा हो तो वह औरत अपने ससुर और पति के लिए घीसू और माधव की बुधिया बन कर रह जाती है।' (पृ. 26) डॉ. धर्मवीर आगे कहते हैं 'बताइये, हिंदी के इस महान कहे जाने वाले लेखक ने ताउम्र चोरी की! सेक्स का चोर साहित्य लिख रहा है।' (पृ. 27) और 'यदि वह तीसरी औरत उनकी रखैल थी तो उसका भरण-पोषण भी किया होगा। तब हो गया न डबल खर्चा। फिर हो गए न जर्मीदार सिद्ध। फिर किसी लेखक की गरीबी का रोना कैसा?' (पृ. 26-27) और मैं उन्हें साहित्यिक जर्मीदार कहना चाहता हूँ। साहित्यिक जर्मीदार ही रखैल रख सकते थे जो उन्होंने सच में रख रखी थी।' (पृ. 43-44)

लेकिन प्रेमचंद ही क्यों पूरा हिन्दू समाज और उसका कानून ही इस जारकर्म के लिए दोषी है। वे कहते हैं 'उनका (प्रेमचंद) हिन्दू कानून में हर पति जर्मीदार और सामंत होता है।' (पृ. 28) उनके अनुसार 'किसी भी हिन्दू पुरुष या हिन्दू स्त्री को विवाह या पुनर्विवाह के शब्दों का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है। इन्हें विवाह या पुनर्विवाह के कायदे-कानूनों का क्या पता जब उस दौरान इनके लिए जारकर्म कानूनी रूप में अनुमत रहता है। इसलिए हिन्दुओं के विवाह को विवाह न कह कर विवाह+जारकर्म कहा जाए तो सच्चाई के ज्यादा नजदीक जाया जा सकता है।' (पृ. 26)

इस पुस्तक में प्रेमचंद के मूल्यांकन का आधार उनका साहित्य न होकर उनका जाति है। वे कहते हैं 'भारत के जातीय वातावरण में किसी लेखक की जाति जानने से उसके साहित्य को समझने में काफी मदद मिलती है।' (पृ. 13) उन्हें बुधिया की पीड़ा से ज्यादा चिंता प्रेमचंद की तीसरी औरत को खोजने की है और इस यज्ञ में वे सभी को शामिल करवाना चाहते हैं 'प्रेमचंद के व्यक्तित्व और कृतित्व पर भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पीएचडी की उपाधि के लिए सैंकड़ों शोध कार्य हो चुके हैं क्या उनमें से किसी ने इस बाबत खोज की है?' (पृ. 30) यानी डॉ. धर्मवीर कह रहे हैं कि किसी व्यक्ति के साहित्य का मूल्यांकन उसके साहित्य के आधार पर न करके उसके व्यक्तिगत चरित्र और जाति के आधार पर किया जाए। इसका मतलब हुआ कि कोई किताब पढ़ने से पहले हमें लेखक की जाति और निजी जीवन की जांच करानी चाहिए। यदि जांच रिपोर्ट हमारे मन माफिक हो तभी उस किताब को पढ़ना चाहिए।

डॉ. धर्मवीर ने अपना पूरा तर्क इस एक बात पर खड़ा किया है और यहाँ से वे अपनी 'महान' खोज जारकर्म की ओर बढ़ते हैं। दलितों की स्थिति का बखान करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते हैं 'दलित की मुसीबतों का एक पूरा दलित शास्त्र

हुआ करता है। यह दलित शास्त्र क्या है और किस हद तक लागू होता है? मोटे रूप में यह शास्त्र दो चीजों से बना है... पहला, दलित पुरुषों के साथ अस्पृश्यता और दलित नारियों के साथ बलात्कार और जारकर्म ये इसके दो बड़े विभाजन हैं। ये किस हद तक लागू होते हैं? ये दोनों शत-प्रतिशत लागू होते हैं क्योंकि ये जातीय आधार पर हैं, व्यक्तिगत आधार पर नहीं।' (पृ. 19) दरअसल इस पुस्तक का विषय प्रेमचंद का साहित्य न हो कर जारसत्ता है। दिलचस्प बात यह है कि डॉ. धर्मवीर पूरी पुस्तक में जारसत्ता के उदाहरण तो पेश कर रहे हैं पर वे इसके मूल कारणों की पड़ताल नहीं कर रहे हैं। उनके उदाहरण तिलमिला देने वाली भाषा में अपने विरोधियों का मजाक उड़ाने वाले हैं।

डॉ. धर्मवीर सवर्णों के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं 'द्विज के सामने मोरल की बात कही जाएगी तो वह घर छोड़कर संन्यासी तो बन सकता है लेकिन पारिवारिक और वैवाहिक जीवन में सदाचारी नहीं बनेगा। उसके संस्कार की कुछ बुनावट ही ऐसी है कि वह गृहस्थ जीवन में रखैल, वेश्या और परस्त्री के साथ के जारकर्म से रुक नहीं रहा है। इसे कौन समझाए नहीं, इसको प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों को कौन समझाए।' (पृ. 30)

वैसे तो उन्हें स्त्री मात्र से चिढ़ है, जो इनके पुराने लेखन और इसी शृंखला की दूसरी पुस्तक 'तीन हिन्दू स्त्री लिंगों का चिन्तन' के नाम तक से जाहिर होती है, पर दलित लेखिकाओं से उन्हें खास आपत्ति है। वे कहते हैं 'मुझे और भी बुरा लगता है जब कोई दलित नारी गैर-दलित पुरुष का बचाव करती है, अब वह अनिता भारती हों या कोई और। अनिता भारती प्रेमचंद के रूप में एक जार पुरुष की प्रशंसा कर रही हैं।' (पृ. 51) और ये 'दलित महिला के यौन-शोषण को कितने हल्के ढंग से ले रही हैं। बस, इनकी तरफ से यही कहने की कमी रह गई है कि द्विज लोग दलित स्त्रियों का शोषण नहीं करते हैं बल्कि उन पर उपकार करके और उन्हें गर्भवती करके उन्हें सन्तान देते हैं। क्या अनिता भारती बुधिया बनना चाह रही हैं। मुझे नहीं लगता कि उस बेचारी का कोई दोष था लेकिन अनिता भारती की सोच में निश्चित रूप से भारी खोट है। जब स्त्री का यौन शोषण हो गया तो घर लुट गया। तब चमारी के गर्भ से जर्मीदार की औलाद पलेगी। फिर, क्या न्यूनतम मजदूरी का सवाल और किसके बच्चों के लिए शिक्षा? तब क्या नारी के अधिकार बनते हैं जब पुरुष के पास देने को ही कुछ नहीं बचा है? (पृ. 66) डॉ. धर्मवीर के मुताबिक दलित समस्या की जड़ गरीबी या असमानता नहीं बल्कि दलित औरत का यौनाचार है 'मामला गरीबी तक सीमित नहीं है मामला गरीबी का बिलकुल नहीं है बल्कि दलित औरतों के यौनाचार की गुलामी का है।' (पृ. 16)

पाठकगण, आप भी जानें कि अनिता भारती ने ऐसा क्या लिख दिया जिससे

डॉ. धर्मवीर को उनकी सोच में भारी खोट दिख रहा है 'सवाल उठता है कि दलित साहित्यकार स्त्री के यौन शोषण का बलात्कार से, सवर्णों के उन पर अधिपत्य से इतने आतंकित क्यों हैं? क्यों बार-बार लेखन का विषय दलित स्त्री का शोषण बनता है। जबकि दलित लेखिकाओं का कलेवर अत्यंत विस्तृत है। वह दलित स्त्री के अस्तित्व से लेकर, न्यूनतम मजदूरी, शिक्षा, उनके अपने समाज द्वारा हड़पे गए अधिकारों तक को उन्होंने अपने साहित्य का विषय बनाया है। दलित स्त्री की केवल और केवल समस्या यौन शोषण ही तो नहीं।' (पृ. 65-66)

सच कहें तो मामला दलित स्त्रियों या हिन्दुओं के जारकर्म का नहीं, भारत के प्रगतिशील विचारकों और चिंतकों को घेरने का, उनकी छवि धूमिल करने का है। नहीं तो लेना एक न देना दो, नेहरू जी को लपेटने का क्या बढ़िया तर्क दिया है 'पंडित जवाहर लाल नेहरू नाम के ब्राह्मण को मुफ्त में प्रगतिशील होने का खिताब दिलवा देते हैं जबकि नेहरू एक ब्राह्मण होने के नाते हिन्दू कोड बिल के मामले में पूरे पिछड़े हुए आदमी थे।' (पृ. 15) वे पहले भी हजारीप्रसाद द्विवेदी, मैनेजर पाण्डेय, पुरुषोत्तम अग्रवाल आदि प्रगतिशीलों की खबर ले चुके हैं।

वे अपनी कृपादृष्टि दलित स्त्रियों या सवर्ण प्रगतिशीलों पर ही नहीं भगवान बुद्ध पर भी डालते हैं 'प्राचीन भारत में बुद्ध शरण गच्छामि करने वाले उन बौद्ध भिक्षुओं की इतनी लंबी कतार क्या थी? अध्यात्म की खोज और प्राप्ति की बात होती तो दो-चार छोड़ कर भिक्षु, अर्हत या संन्यासी बन जाते। इतने सारे लोग अपने घरों को छोड़कर आध्यात्मिक क्यों बन गए हैं? ध्यान रहे, संन्यासियों ने घर-बार ही नहीं छोड़ा है, बल्कि समाज और राष्ट्र भी छोड़ा है। संन्यास का दूसरा नाम सामाजिक मृत्यु है। ऐसे कानून से व्यक्ति के लिए संन्यास से ही जिंदा रहने का एकमात्र रास्ता निकलता है। लेकिन उसमें राष्ट्र लुट जाता है तब वह विदेशियों के हाथों में चला जाता है।' (पृ. 48) यानी कि भारत की मुसलमानों के आगे हार में बौद्धों का प्रभाव था तो भइया ईसाईयों के समय हार में कौन-सा बौद्ध धर्म आड़े आया, जरा ये भी बता देते तो बहुत अच्छा होता। पाठको, सच्चाई तो ये है कि भारत की हार का मुख्य कारण इसका जातियों और छोटे-छोटे रजवाड़ों में बंटा होना था। लेकिन यहीं तक इति नहीं है डॉ. धर्मवीर की दृष्टि से डॉ. अम्बेडकर भी बच नहीं पाए हैं 'यदि बाबा साहेब के पास उस समय भारत के तमाम दलित सन्तों का साहित्य उपलब्ध होता तो वे बुद्ध की शरण में जाने के बजाय अपने सन्तों के ढिग बैठते।' जब डॉ. अम्बेडकर को नहीं बखशा तो बेचारे प्रेमचंद की क्या बिसात!

अरुण शौरी की इतिहासकारों पर एक किताब है 'एमिनेंट हिस्टोरियन्स : देअर टेक्नोलॉजी, देअर लाइन, देअर फ्राड'। इस किताब में उसने सभी महत्वपूर्ण साम्यवादी इतिहासकारों की कटु आलोचना की है। पाठकगण, उनकी इतिहास संबंधी

अवधारणाओं की तो नहीं हां, वे उनके टीए-डीए बिलों और अनुदानों के हेर-फेर की बात भले जान पाएँगे और ये बातें भी कितनी तथ्य आधारित हैं, यह तो पता नहीं क्योंकि वह तो विभाग की गोपनीय फाइलें ही बता पाएँगी। मोटामोटी यही पद्धति अरूण शौरी ने डॉ. अम्बेडकर पर लिखी अपनी किताब 'वर्शिपिंग फाल्स गॉड्स' में अपनाई है और ठीक वही पद्धति डॉ. धर्मवीर ने अपनी इस पुस्तक में प्रेमचंद पर अपनाई है।

आइए, इसके बरक्स जरा ये भी जानें कि डॉ. अम्बेडकर जारकर्म पर क्या कहते हैं। अपनी पुस्तक 'बुद्ध या कार्लमार्क्स' (सेवास्तंब एवं संजीवैय्या इंस्टीट्यूट ऑफ सोशियो इकनामिक स्टडीज, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, पृ. 35) में बुद्ध को उद्धृत करते हुए कहते हैं '(15) और बंधुओं, इसलिए, दीन-हीनों, दरिद्रों को वस्तुएँ व माल न दिए जाने से निर्धनता फैली, उसका विस्तार हुआ, चोरी, हिंसा, हत्या, झूठ, बुराई करना आदि जैसी बातें प्रचुर मात्रा में बढ़ गई। (16) झूठ बोलने से जारकर्म में वृद्धि हुई। (17) इस प्रकार दीन-हीनों, दरिद्रों को माल व वस्तुएँ न दिए जाने के कारण निर्धनता--- चोरी--- हिंसा--- झूठ---चुगलखोरी--- अनैतिकता फैली, उसका विस्तार हुआ। (18) बंधुओं उनके बीच तीन चीजों की वृद्धि हुई। ये थीं, कौटुंबिक व्यभिचार, अनियंत्रित लालच तथा विकृत लोभ।'

यानी कि भगवान बुद्ध और डॉ. अम्बेडकर के अनुसार व्यभिचार या जारकर्म का कारण आर्थिक असमानता और उससे उपजी निर्धनता है। यही बात कार्लमार्क्स ने 'अर्थशास्त्र और दर्शन संबंधी 1844 की पांडुलिपियां', (इंडिया पब्लिशर्स, लखनऊ, 1981, पृ. 38-39) में फ्रांसीसी दार्शनिक व समाजशास्त्री पेक्वेअर कांस्टेंतिन को उद्धृत करते हुए कहा है 'इस तरह की आर्थिक व्यवस्था मनुष्यों को ऐसे अधम पेशों में काम करने के लिए मजबूर करती हैं। ऐसी भयानक और कटुतापूर्ण अधोगति की जिंदगी जीने के लिए विवश करती है कि इसकी तुलना में, बर्बर मनुष्य का जीवन भी राजकीय ठाटबाट वाला प्रतीत होता है। संपत्ति-विहीन वर्ग के साथ सभी रूपों में व्यभिचार किया जाता है।'

संक्षेप में, जहाँ मार्क्स और अम्बेडकर व्यभिचार या जारकर्म के लिए निर्धनता और असमानता को दोषी ठहराते हैं वहीं डॉ. धर्मवीर उच्च जातियों की हिन्दू मानसिकता को इसका दोष देते हैं। दरअसल उनकी दिक्कत यह है कि उन्होंने अपने शत्रु तय कर लिए हैं। उनके वैचारिक संहार के लिए वे तर्कों के हथियार लेकर घूम रहे हैं, चारों ओर कल्लेआम मचाते हुए। यही कारण है कि दलित स्त्रियों की यौन शुचिता के अलावा दूसरे मुद्दों पर बात करना इन्हें नागवार गुजरता है।

जिस व्यक्तिगत नैतिकता पर डॉ. धर्मवीर और अन्य फासीवादी इतना जोर देते हैं, उस पर जर्मन कवि बर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक कविता याद आती है

मैंने सुना है, प्रधानमन्त्री पीता नहीं है / वह नहीं खाता मांस

और नहीं करता धूम्रपान / और वह रहता है एक छोटी सी कोठी में। / पर मैंने यह भी सुना है, गरीब/भूखों मर रहे और गल रहे कंगाली में। / क्या ही बेहतर होता राज्य वह, जहाँ यह कहा जाता / प्रधानमन्त्री धुत्त बैठता है कैबिनेट की बैठकों में, / अपने पाइपों से निकलते धुएँ को घूरते, कानून बदलते हैं / कुछेक अनपढ़ बैठे-बैठे

किसी भी सार्वजनिक व्यक्तित्व का सार्वजनिक आचरण और मूल्यबोध ही महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि वही समाज को प्रभावित करता है। अक्सर निजी जीवन में व्यक्तिगत नैतिकता को अतिरेक की हद तक महत्व देने वाले लोग सार्वजनिक जीवन में बेहद क्रूर होते हैं या क्रूर और अमानवीय नीतियों का मौन/मुखर समर्थन करते पाए जाते हैं। जैसे औरंगजेब और आडवाणी।

हालाँकि डॉ. धर्मवीर इसे भी अनैतिकता के समर्थन में मान सकते हैं। पर इसका किया ही क्या जा सकता है! उनकी दृष्टि से देखें तो कई सवालियों पर उनकी राय आना अभी बाकी है। जिन दलित स्त्रियों ने सवर्ण पुरुषों से विवाह किया वे तो उनके अनुसार बलात्कृता और रखैल हैं तो जिन दलित पुरुषों ने सवर्ण स्त्रियों से विवाह किया उन सवर्ण स्त्रियों को वे क्या मानते हैं और उन दलित पुरुषों के बारे में उनका क्या नज़रिया है और जिन दलित पुरुषों ने अपनी सामाजिक आर्थिक स्थिति मजबूत होने के चलते दलित या सवर्ण स्त्रियों से जारकर्म किया है, उन पर उनकी राय क्या है?

दरअसल डॉ. धर्मवीर की समझ सिर के बल खड़ी है। वे हिन्दू धर्म के ब्रह्म विवाह को कारण और जारकर्म को उसका परिणाम मान रहे हैं। इसीलिए वे हिन्दू कोड बिल के सख्ती से लागू किए जाने को सारी समस्याओं का हल मान रहे हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि दलितों का यौन शोषण उनकी आर्थिक-सामाजिक स्थितियों के कारण होता है, हिन्दू धर्म के मनुस्मृति सरीखे ग्रन्थ इसके कारण नहीं, केवल स्थिति को रेखांकित करने वाले हैं। इनका विरोध ढोर, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी जैसी इक्का-दुक्का टिप्पणियों के आधार पर न करके उनकी मूल असमानतावादी दृष्टि के आधार पर करना चाहिए। इसीलिए राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग के अध्यक्ष श्री सूरजभान की यह मांग कि हिन्दुओं को अपने धर्म ग्रन्थों से ऐसी टिप्पणियों को निकाल देना चाहिए, जो हिन्दुत्व की राजनीति करने वालों को रास आती है, दलितों को नहीं।

जातिवाद की समस्या का हल बताते हुए डॉ. अम्बेडकर कहते हैं 'समाज का लक्ष्य एक नवीन नींव डालने का होना चाहिए, जिसे फ्रांसीसी क्रांति द्वारा संक्षेप में तीन शब्दों में समानता, स्वतन्त्रता और भाईचारा कहा गया है।' (बुद्ध या कार्ल मार्क्स, पृ. 40) इतना ही नहीं, 'डॉ. अम्बेडकर जाति व्यवस्था का प्रतिपक्ष सामाजिक

जनतन्त्र सोशल डेमोक्रेसी को मानते थे। राजनैतिक जनतन्त्र और सामाजिक जनतन्त्र के बीच बिलकुल ठीक फर्क करते हुए वे राजनीतिक जनतन्त्र को सामाजिक जनतन्त्र को स्थापित करने का साधन मानते थे।' (पुरुषोत्तम अग्रवाल, अकबर नाम लेता है खुदा का..., तद्भव, अप्रैल 2003, पृ. 54) इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने इस देश में अपने संविधान द्वारा राजनैतिक जनतन्त्र स्थापित करवाया और सामाजिक जनतन्त्र का रास्ता खोला।

डॉ. अम्बेडकर अपने प्रसिद्ध भाषण जातिभेद का उच्छेद में जातिवाद को तोड़ने का सबसे ताकतवर हथियार अंतर्जातीय विवाह को मानते हैं और डॉ. धर्मवीर को दलित महिलाओं का अंतर्जातीय विवाह की बात करना दलित कौमों का मजाक उड़ाना लगता है 'तब अनिता भारती क्या कह रही हैं? दलित कौमों हारी हुई हैं और इसका सबसे खतरनाक अर्थ यह है कि उनकी औरतें उनकी नहीं हैं। इसलिए, जब कोई दलित नारी जात तोड़ने की बात कहती है तो लगता है मानो वह दलित कौमों की ज्यादा मजाक उड़ा रही है क्योंकि तब गैर दलितों द्वारा उड़ाई मजाक कम पड़ती है।' (पृ. 53) इतना ही नहीं वे सामाजिक शिष्टाचार का उल्लंघन करते हुए व्यक्तिगत टिप्पणी करते हैं 'अनिता भारती दलित पुरुषों से अलग से क्या चाहती हैं? दलित स्त्रियों को रखेल, वेश्या और देवदासी बना कर यौन मामलों में उनकी जात पूरी तरह तोड़ दी गई है। इसलिए, ऐसी सोच की स्त्री यदि अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहती है तो गैर-दलितों से लड़े। रखेल के रूप में अधिकार मांगे, वेश्या के रूप में दाम बढ़वाए और देवदासी के रूप में पुजारी की संपत्ति में हाथ मारे यहाँ दलित पुरुष के पास क्या रखा है? जब दलित की पत्नी जमींदार के साथ रह रही हो और जमींदार से अपने बच्चे पैदा कर रही हो तो दलित पति से मिलने वाले उसके कौन से अधिकार सृजित होते हैं? तब जो भी उसके अधिकार बनते हैं वे जमींदार की तरफ से बनते हैं। तो वहाँ लड़े, यहाँ क्या कर रही है?' (पृ. 67) डॉ. धर्मवीर दलित साहित्यकारों को रास्ता दिखा रहे हैं कि वे क्या लिखें 'दलित साहित्य उसे ही कहा जाएगा जिसमें पारिवारिक जीवन में तलाक की अनुमति हो, स्त्री के लिए भरण-पोषण पर रोक लगे तथा जारकर्मों को जारकर्म की जिम्मेदारी से नवाजा जाए।' (पृ. 53)

दलित लेखकों और चिंतकों के सामने डॉ. अम्बेडकर का अधूरा कार्य पड़ा है सामाजिक जनतन्त्र और आर्थिक समानता की स्थापना का। डॉ. अम्बेडकर एक पुस्तक लिख रहे थे क्रांति और प्रतिक्रांति की संकल्पना पर। आज प्रतिक्रांति की ताकतें प्रबल हैं यह फैसला दलित लेखकों और चिंतकों को करना है कि वे किस तरफ हैं।

कफन : हंगामा है क्यों बरपा?

रणेन्द्र

‘कफन’ प्रेमचंद के आखिरी दिनों की कहानी है, जो 1936 ई. के आसपास लिखी गई। यह कहानी अपने मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिए प्रसिद्ध है। इसमें दलित या भूमिहीन समुदायों की गरीबी के भयावह दृश्य हैं तो सामंती समाज के शोषण के प्रतिवाद-प्रतिकार के मौलिक और देशी अंदाज भी मौजूद हैं। कहानी के केंद्र में माधव की पत्नी बुधिया की प्रसव-वेदना, दवा-दारू और उसकी देखरेख के अभाव में अकाल मृत्यु है।

यह प्रसंग इतना कारुणिक एवं विडंबनापूर्ण है कि शरत्चंद्रिय भावुकता और गलदश्रु प्रवाह को भरपूर स्थान मिल सकता था, किन्तु प्रेमचंद को घीसू-माधव की कामचोरी, निठल्लेपन और शराबखोरी को हथियार बनाकर तन्त्र के पाखंड पर जोरदार प्रहार करना था। कहानी की शैली चुटीली है, जो व्यंग्य-वाण चलाते हुए आगे बढ़ती है। कहानी करुणा और भावुकता से घिर कर भी अपने उद्देश्य को पूरा करती है।

सामंती भारतीय समाज के जिस नब्ज को प्रेमचंद पकड़ना चाह रहे हैं संभवतः डॉ. धर्मवीर उसे महसूस नहीं कर पाए या वे जानबूझ कर इस पक्ष को गौण रखना चाह रहे हैं। अपनी नव प्रकाशित पुस्तक ‘प्रेमचंद: सामंत का मुंशी’ में उन्होंने ‘कफन’ पर कई गहरी आपत्तियाँ दर्ज की हैं, यथा : ‘--- सारी कहानी नये सिरे से स्पष्ट हो जाती यदि प्रेमचंद इस कहानी की आखिरी लाइन में दलित जीवन का यह सच लिख देते कि बुधिया गांव के जमींदार के लौंडे से गर्भवती थी। उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था। तब, शब्द दीपक की तरह जल उठते और सब कुछ समझ में आ जाता। अपेक्षा ज्यादा की थी लेकिन घीसू और माधव इतना ही विद्रोह कर सके थे कि जमींदार के बच्चे को अपना बच्चा नहीं कहेंगे।’ (‘प्रेमचंद : सामंत का मुंशी’) पृ. 17

‘...मुझे प्रेमचंद की कहानी ‘कफन’ पर कुछ भी नहीं कहना था यदि वे इसमें ‘चमार’ शब्द का प्रयोग नहीं करते। यहाँ यह भी बता दिया जाए कि ‘चमार’ से मेरा मतलब किसी भी जाति के प्रयोग से है।’ (वही, पृष्ठ 18)

‘...प्रेमचंद जमींदार के बारे में क्या लिखते हैं जमींदार साहब दयालु थे।

बताइये, जमींदार के बारे में ये शब्द उस लेखक की कलम से निकले हैं जिसे हिंदी में महानतम और प्रगतिशील माना गया है।' (वही, पृ. 27) आदि।

डॉ. धर्मवीर अपनी पुस्तक शृंखला 'मातृसत्ता, पितृसत्ता और जारसत्ता' में यौन शुचिता और यौन शुद्धता के जुनून में बह गये हैं। वे दलित चिन्तन के बारे में अभिजातीय दलित पुरुष का पितृसत्तात्मक सामंती विमर्श परोस रहे हैं, जिसमें उनके अतिरिक्त सारे स्त्री-पुरुष व्यभिचार और जारकर्म में लिप्त हैं। दलित लेखिका अनिता भारती भी उनके कीचड़ से नहीं बचतीं। अब रमणिका गुप्ता, राजेन्द्र यादव, नामवर सिंह जैसे सारे लोग उनके लपेटे में हैं।

अतः इस जुनून में बुधिया बलकृत होती दिख जाए तो आश्चर्य क्या? इतना ही नहीं, दिन-भर बुधिया की दवा-दारू के लिए निष्फल दौड़-धूप के बाद जाड़े की उस सूनी रात में हारे-थके घीसू-माधव विद्रोही दिख रहे हैं, जो जमींदार के बच्चे को अपना नहीं चाह रहे। इतने सूक्ष्म अन्वेषी समीक्षक को माधव और बुधिया का दाम्पत्य राग-अनुराग कहीं नहीं दिखा, जो कहानी में कई जगह कई रूपों में प्रकट हुआ है। अगर बुधिया कथित रूप में जमींदार के बेटे से गर्भवती हुई थी तो वे दिन-भर दौड़ भाग क्यों कर रहे थे और यह चिंता क्यों कर रहे थे कि 'मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हुआ, तो क्या होगा? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं है घर में!'

संभवतः डॉ. धर्मवीर को सोंठ, गुड़, तेल का प्रयोग समझ में नहीं आया हो। बड़े साहब ठहरे!

धर्मवीर को कहानी में जातिसूचक शब्द पर गहरी आपत्ति है। इसे मुद्दा बना कर वे प्रेमचंद पर लट्ट लेकर पिल पड़े हैं किन्तु 1936 ई. की बात जाने दीजिए, आज भी बिहार, उ.प्र. के गांवों में पहला प्रश्न जाति संबंधी ही होता है, उसके बाद ही आपसे बात-व्यवहार, आसन-पानी के मानक तय किए जाते हैं। शहरी मध्यवर्ग की भाषा जितनी भी शालीन हो किन्तु गांव में जातिसूचक शब्दों का संबोधन बेधड़क चालू हैं। यदि सामनेवाला कमजोर, भूमिहीन, मजदूर किस्म का है तो जातिवाचक संबोधन में थोड़ी ज्यादा ही 'मिठास' घुली रहती है। उत्तर प्रदेश में पैदा हुए धर्मवीर इस बात से अनजान तो नहीं हो सकते। अतएव 1936 ई. के गांव का यथार्थ वर्णन करता हुआ कथाकार यदि जातिवाचक संबोधन का प्रयोग करता है तो इससे उसकी नीयत और प्रगतिशीलता पर शक कैसे किया जा सकता है?

अब चर्चा जमींदार के दयालु कहने पर। क्या यह कहानी शब्दों में जो चित्रित कर रही है, भाव उससे भिन्न नहीं है? क्या व्यंग्य एवं चुटीली शैली की यह कथा डिकोडिंग की मांग नहीं करती? क्या घीसू-माधव सचमुच कामचोर, निठल्ले और शराबी मात्र हैं? तो वे कैसे इस बात को समझ रहे कि उनकी सरलता और निरीहता का दूसरे लोग फायदा नहीं उठाए और बिना लाभ के किसानों की तरह हाड़-तोड़

मेहनत नहीं करनी पड़े? जब श्रम की उत्पादकता का लाभ जमींदारों को हो तो वे मेहनत क्यों करें? यह घीसू-माधव के चरित्र का सार है जो शब्दों में नहीं, भावों में व्यक्त हुआ है। धर्मवीर सचमुच इस भाव को पकड़ने में असफल हैं या केवल हंगामा खड़ा करने के लिए विरोध का नाटक कर रहे हैं?

‘कफन’ को निर्मल वर्मा और नामवर सिंह ने किन अर्थों में समझा और उनकी अंतःदृष्टि ने इस कहानी को कितनी ऊंचाई दी, इसे जानना भी महत्वपूर्ण है।

कफन के पैसे से दारू पीकर नाचते घीसू-माधव निर्मल वर्मा को ‘मुक्त हिन्दुस्तानी’ लग रहे हैं जिसने अपने घर से सारी परंपरा, सारे पाखंड, सारे रीति-रिवाज को उतार फेंक दिया है। यह है एक नवीन ‘व्यक्ति’ का ‘जन्म’। उन्हीं के शब्दों में ‘जिस क्षण बाप-बेटे ने घर की औरत के कफन के पैसों से शराब का कुल्हड़ मुंह से लगाया था, उस क्षण पहली बार हिंदी साहित्य में व्यक्ति ने अपनी स्वतन्त्रता का स्वाद चखा था। यह वह क्षण था, जब प्रेमचंद के समाज में व्यक्ति का जन्म हुआ था। यह जन्म मृत्यु और श्मशान की छाया में हुआ था दो पियक्कड़ हिन्दुस्तानियों के मुक्ति का समारोह।’ (प्रेमचंद की उपस्थिति : शताब्दी के ढलते वर्षों में)।

‘कबीर के दुख से मेरा ‘परिचय’ हुआ प्रेमचंद की कहानी ‘कफन’ में। परिचय कराया घीसू और माधव ने। ---झोपड़ी में बहू मरी पड़ी है और बाप-बेटे दोनों कफन के पैसों से कलवरिया में दारू उड़ा रहे हैं। नशे में भी बहू की वह लाश दखल देती है। बेटा रोने लगता है तो बाप समझाता है ‘रोता क्यों है बेटा, खुश हो कि वह मायाजाल से मुक्त हो गयी। बड़ी भाग्यवान थी, जो इतनी जल्द मोहमाया के बंधन तोड़ दिए।’ दोनों खड़े होकर नाचने और गाने लगते हैं : ठगिनी क्यों नैना झमकावै, ठगिनी!

कबीर और कबीर के दुख से परिचय का क्षण वही है। मृत्यु, मुक्ति, माया और इन सबके ऊपर समाज के सबसे निचले तबके के दो प्राणियों का नृत्य! मृत्यु भी नाचती है, मुक्ति भी नाचती है और नाचती है माया। ...सती के शव को लेकर शिव ने ऐसा ही उन्मत्त नृत्य किया था क्या?’ (कबीर का दुख : नामवर सिंह : संचयिता, पृ. 375)।

अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते

डॉ. द्वारिका प्रसाद चारुमित्र

राजनीति की तरह साहित्य में भी दलित-चिन्तन प्रगतिशील जनवादी शक्तियों के लिए एक समस्या है। कारण यह है कि प्रगतिशील जनवादी लेखकों और शक्तियों पर आक्रमण करना दलित लेखन की एक रूढ़ि बन चली है। इससे किसका हित सिद्ध होता है, यह अब छुपा नहीं है। केवल 'चमार' शब्द के प्रयोग के कारण 'रंगभूमि' की प्रतियाँ जलाने वाले किसके हाथों में खेल रहे थे, यह भी नहीं छुपा। 'रंगभूमि-दहन' प्रकरण अभी ठंडा भी नहीं हुआ था कि एक वरिष्ठ दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर की नई किताब आ गई 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी।' इसमें प्रेमचंद को सामंती, दलित-विरोधी और प्रतिक्रियावादी सिद्ध करने की कोशिश की गई है।

किताब के केंद्र में है प्रेमचंद की 'कफन' कहानी। 'कफन' को लेकर दलित लेखकों की आपत्ति यह है कि प्रेमचंद ने दलित पात्रों घीसू-माधव को अकर्मण्य, असंवेदनशील और अमानवीय रूप में क्यों चित्रित किया है? क्या दलित ऐसे ही होते हैं? लेकिन डॉ. धर्मवीर का तर्क अलग है। वह अपने दलितशास्त्र के आधार पर कहानी का 'विखंडन' करते हुए एक नया पाठ गढ़ते हैं।

उनका कहना है कि 'कफन' में सच का 'एक बटा नौ भाग' ही कहा गया है। 'कफन' का 'आठ बटा नौ भाग' अनकहा रह गया है, जो प्रेमचंद के पेट में है। सारी कहानी नए सिरे से स्पष्ट हो जाती, यदि प्रेमचंद इस कहानी की आखिरी लाइन में दलित-जीवन का यह सच लिख देते कि बुधिया गांव के जमींदार के लौंडे से गर्भवती थी, उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था। तब शब्द दीपक की तरह जल उठते और सब कुछ समझ में आ जाता। अपेक्षा ज्यादा की थी, लेकिन घीसू और माधव इतना ही विद्रोह कर सके थे कि जमींदार के बच्चे को अपना बच्चा नहीं कहेंगे। यह असली दलित-पीड़ा है। (पृ. 17) और इसी दलित-पीड़ा के वशीभूत होकर घीसू-माधव बुधिया को उसके गर्भस्थ शिशु के साथ मर जाने देते हैं। 'घीसू-माधव का चमार होकर यह पहला ज्ञात विद्रोह है जो मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'कफन' में व्यक्त हुआ है।' (पृ. 18)

कहने की जरूरत नहीं कि यह 'कफन' जैसी सफल और कालजयी कहानी का पाठ नहीं, कुपाठ है, अतिरिक्त पाठ है। अगर बात ऐसी होती तो कहानी की

संरचना दूसरी होती। डॉ. धर्मवीर 'कहानी से बाहर जाने के प्रयत्न में कहानी और कहानी के मूल अर्थ को ही बाहर कर देते हैं। कहानी में जो नहीं है, वे उसे भी देख लेते हैं। उनकी मनमानी अथवा मनोवादी व्याख्या में बुधिया कभी जमींदार से गर्भवती होती है तो कभी जमींदार के लौंडे से, तो कभी खुद कहानीकार प्रेमचंद से। इस किताब में तो नहीं, लेकिन 'जनसत्ता' के लेख में उन्होंने लिखा है कि मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि बुधिया के पेट में जो बच्चा था, वह प्रेमचंद का था। प्रेमचंद आज इन बातों का जबाब देने के लिए नहीं हैं, इसलिए धर्मवीर कोई भी दावा करने के लिए स्वतन्त्र हैं। इस किताब में प्रेमचंद के प्रति उनकी चिढ़, क्षोभ और गुस्सा बहुत मुखर है!

निश्चय ही सदियों से दलित स्त्रियों के साथ जो होता आया है, उस पीड़ा को समझा जा सकता है, लेकिन इतिहास के अन्याय का बदला वर्तमान से लेना कहाँ तक उचित है? दलित चिंतक की कठिनाई यह है कि वे अतीत के अन्यायों को समझने और उनका समुचित हल ढूँढने के बजाय इतिहास से ही टकरा जाते हैं।

दरअसल 'कफन' कहानी सवर्ण हिन्दुओं के जारकर्म के प्रति विद्रोह की कहानी नहीं है। वह एलियनेटेड लेबर (परकीय श्रम) से उत्पन्न मनुष्य के अमानवीकरण की कहानी है। कार्ल मार्क्स ने अपनी रचनाओं में यह दिखलाया है कि जो मानवीय श्रम मनुष्य के आत्मविश्वास और आनंद का स्रोत है, शोषण पर आधारित वर्ग-समाज में वह श्रमिक अथवा खेतिहर मजदूर के लिए एक बोझ, एक बंधन बन जाता है। श्रम की प्रक्रिया में मजदूर अपने श्रम एवं श्रमोत्पाद से ही अलग नहीं होता वरन् मानवीय स्वत्व एवं संभावनाओं से भी वंचित हो जाता है। ऐसी स्थिति में अगर उसमें श्रम के प्रति उपेक्षा भाव विकसित होता है तो इसमें क्या आश्चर्य! 'पूस की रात' में हल्कू का श्रम और उसका श्रमोत्पादन (फसल) उसी के विरुद्ध एक अमानवीय ताकत के रूप में खड़े हैं। इसलिए वह अपनी फसल के नष्ट हो जाने पर दुखी होने के बजाय प्रसन्न होता है! अच्छा हुआ, रात की ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा!

'कफन' कहानी में भी घीसू-माधव अकर्मण्य हैं। वे जमींदारों के यहाँ काम करना नहीं चाहते। आप यह नहीं कह सकते कि ऐसे पात्र दलित समाज में नहीं होते, होते हैं अपवाद रूप में ही सही, मगर होते हैं और कहानी अपवादों से भी बनती है। प्रेमचंद ने 'आखिन देखी' के आधार पर इस सत्य से साक्षात्कार किया था, मार्क्स की 'एलियनेशन थियरी' पढ़कर नहीं। किसानों और दलितों की वास्तविक स्थिति का उद्घाटन 'कफन' कहानी में प्रेमचंद इन शब्दों में करते हैं 'जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते हैं, कहीं ज्यादा संपन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात

न थी।' यह वाक्य 'कफन' कहानी को समझने की कुंजी है। यहाँ शब्द सचमुच दीपक की तरह जल उठते हैं! पता चलता है कि घीसू-माधव की हालत, उनकी अकर्मण्यता और असंवेदनशीलता के लिए कोई वर्ग, जाति या व्यक्ति विशेष नहीं, अपितु अमानवीय अर्थतन्त्र जिम्मेदार है। निर्मम शोषण-चक्र ने उन्हें ऐसे अंधेरे में फेंक दिया है, जहाँ मानवीय मूल्यों एवं रिश्तों की पहचान धुंधली हो गई है। बहू प्रसव-पीड़ा से कराह रही है और बाप-बेटे भूख से संतस्त होकर आलू खाने में लगे हैं। कफन के लिए मांगे गए पैसों को भी वे कलाली में उड़ा देते हैं। सहज मानवीय संबंधों की यह रिक्तता, यह नैतिक पतन इतने कलात्मक ढंग से चित्रित हुआ है कि उसकी चोट व्यवस्था पर पड़ती है। यथार्थ का अधिक गहरा स्तर उघड़ता है। अमानवीय अर्थतन्त्र केवल शोषक वर्गों को ही अमानुषिक नहीं बनाता; वह मेहनतकश वर्ग को भी नैतिक पतन के गर्त में ढकेल देता है!

लेकिन व्यवस्था को बदलने की कोई चिंता डॉ. धर्मवीर जैसे दलित चिंतकों की नहीं है। वह तो 'जारसत्ता' से युद्ध करने निकले हैं! शोषण, गरीबी, भुखमरी, जातिवाद अथवा दलित-मुक्ति के प्रश्न से उन्हें कोई सरोकार नहीं। उनके अनुसार मामला गरीबी का बिल्कुल नहीं है, बल्कि दलित औरतों के यौनाचार की गुलामी का है। (पृ. 16) और सारे हिन्दू लेखक और हिन्दू कानून और हिन्दुत्व जार-दर्शन के हामी हैं।... व्यभिचार को मिटाने और सदाचार को प्रतिष्ठित करने की चिंता किसी को नहीं है। (पृ. 62, 79) यह चिंता अगर किसी को है तो केवल दलित लेखकों को! दलित-साहित्य जारकर्म विरोधी साहित्य है और प्रेमचंद की परंपरा का सारा हिन्दू अर्थात् गैर-दलित साहित्य जारकर्म का समर्थक! 'इसलिए दलितों का लिखा साहित्य प्रेमचंद के साहित्य की काट है, उस पर रोक है, उसका क्रमिक विकास नहीं।' (पृ. 18)

यह कोई 'समझ' है अथवा मनोग्रंथि? अनिता भारती जैसी कोई प्रबुद्ध लेखिका जब प्रेमचंद के समर्थन में लेख लिखती है तब डॉ. धर्मवीर को बहुत दुख होता है, वह लगभग बौखला जाते हैं। इसी बौखलाहट में उनके मुख से अनर्गल उद्गार फूटते हैं 'प्रेमचंद के रूप में एक जार पुरुष की प्रशंसा!' (पृ. 51) 'अनिता भारती बुधिया बनना चाह रही हैं, उनकी सोच में निश्चित रूप से भारी खोट है।' (पृ. 47) वे यहीं तक नहीं रुकते; 'किसी सुभाष गाताड़े को अपनी पत्रिका में' अनिता भारती के लेख छापने से आगाह भी करते हैं। (पृ. 64) अनिता भारती के प्रसंग में डॉ. धर्मवीर स्त्री-विरोधी ही नहीं, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के भी विरोधी सिद्ध होते हैं।

ओमप्रकाश वाल्मीकि को उद्धृत करते हुए डॉ. धर्मवीर बताते हैं कि 'रोटी की लड़ाई हमारी मौलिक लड़ाई नहीं रही। हमारी लड़ाई अस्मिता और स्वाभिमान की लड़ाई है।' (पृ. 71) जाहिर है, कुछ लोग दलितों में बहुत ऊपर उठ गए हैं;

शोषणकारी व्यवस्था के दांत और पेंच बन गए हैं, लेकिन जो असंख्य दलित अभी भी शोषण और गरीबी की मार झेल रहे हैं, वे क्या करें? क्या उनके लिए भी रोटी की लड़ाई मौलिक लड़ाई नहीं?

जातिवाद का प्रश्न भी दलित लेखकों के लिए निरर्थक है। डॉ. धर्मवीर के अनुसार 'भारतीय समाज के लिए जातिवाद से भी बड़ी समस्या जारकर्म है।' (पृ. 63) वह श्योराजसिंह बेचैन को उद्धृत करते हैं; 'मेरा मत है कि दलित लेखकों को जाति तोड़ने के प्रश्न पर अभी अधिक ऊर्जा नहीं खपानी चाहिए। बल्कि उन्हें स्वायत्त, निजी संस्थाओं में प्रतिनिधित्व के लिए संघर्ष करना चाहिए। जातिवार प्रतिनिधित्व की संख्या बढ़ने पर केवल ब्राह्मणों के लिए ही जाति लाभकारी व्यवस्था नहीं रहेगी।' (पृ. 75) इस प्रश्न पर डॉ. योगेंद्र ने बिल्कुल सही कहा है कि 'ऐसे चिंतकों को दलितों के लिए मात्र एक लाभकारी व्यवस्था चाहिए। यह इसलिए कि उन्हें भी जातिप्रथा का लाभ मिलने लगा है। दलितों के लिए अगर 'जातिप्रथा' लाभकारी हो जाए, तो वह सही है। यह एक ब्राह्मणवादी दृष्टि है। कह सकते हैं, यह दलितों का ब्राह्मणवाद है। जाहिर है प्रेमचंद ऐसी दृष्टि के पक्षधर नहीं थे।'

डॉ. धर्मवीर के 'दलितशास्त्र' में अब व्यवस्था-परिवर्तन अथवा दलित-मुक्ति का प्रश्न नहीं रहा। उनका दलित-शास्त्र केवल दो ही चीजों से बना है पहला भाग अस्पृश्यता का है और दूसरा भाग बलात्कार और जारकर्म का। (पृ. 19) उनके लिए दलितों के जीवन से संबंधित अन्य सारे प्रश्न गौण हैं। वह भारतीय समाज में सदाचार और नैतिकता की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। उनके लिए हिन्दू कानून और हिन्दुत्व ही 'जारसत्ता' है। इस जारसत्ता के विरुद्ध जेहाद में वह मातृसत्ता के बजाय पितृसत्ता को ही पुष्ट करते हैं। इसी सन्दर्भ में वह सन् 2005 में बच्चे की पैतृकता की जांच के लिए डी.एन.ए. आदि के वैज्ञानिक परीक्षणों पर लगी कानूनी रोक को हटवाना चाहते हैं। अगर बच्चा अपना हुआ तो ठीक, अन्यथा बच्चे समेत स्त्री को मरने के लिए छोड़ देना चाहिए। यही सच्चा विद्रोह है! 'कफन' के घीसू-माधव भी यही करते हैं! आखिर पितृसत्ता के मूल में यही भाव है न कि मेरे बीज से उत्पन्न सन्तान ही मेरी संपत्ति की उत्तराधिकारी होगी, क्योंकि उसके रूप में आगे मरणोपरांत मैं ही अपनी संपत्ति का उपभोग करता रहूँगा। डॉ. धर्मवीर के अनुसार 'पैतृकता की लड़ाई जड़ से शुरू होती है।' कहने की जरूरत नहीं कि जड़ से शुरू होने वाली ये लड़ाई पितृसत्ता और रक्त-संबंध को ही बल देने के कारण कितनी जड़ है!

प्रेमचंद सामंत के मुंशी क्यों हैं? डॉ. धर्मवीर को शिवरानी देवी की किताब 'प्रेमचंद घर में' से से पता चला कि प्रेमचंद का अपनी पत्नी के अलावे किसी अन्य स्त्री से भी संबंध था। फिर क्या था? हो गए प्रेमचंद सामंत! सामंत नहीं, सामंत के मुंशी। 'दोनों में केवल एक नुकते का फर्क है। सामंत खुल्लम-खुल्ला

रखैल रखता है, उसके मुंशी चोरी से रखैल रखते हैं।' और इस आधार पर उनकी सारी प्रगतिशीलता, उनकी दलित चेतना और मानव-मूल्य सब व्यर्थ! निंदा, कुतर्क और सनसनी फैलाना धर्मवीर जी के लेखन की विशेषता बन गई है। वह जानते हैं कि पुस्तक जितनी विवादास्पद होगी, उतनी ही बिकेगी। जो लोग 'चमार' शब्द के कारण 'रंगभूमि' की प्रतियाँ जला रहे थे, वे देखें कि इस पुस्तक में 'चमारी' शब्द का प्रयोग कितनी बार हुआ है। गिनना मुश्किल हो जाएगा।

डॉ. धर्मवीर आजकल महात्मा बुद्ध पर भी हमला कर रहे हैं। देखना यह है कि बुद्ध के अनुयायी बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर उनके निशाने पर कब आते हैं। 'थेरीगाथा की स्त्रियों' नामक पुस्तक में उन्होंने सिद्ध किया है कि 'घर से बेघर करके और विवाह से छीनकर स्त्रियों को संन्यासवाली सामाजिक मृत्यु की भिक्षुणियाँ बनाना उनका धार्मिक अपहरण करना कहा जाना चाहिए।' आखिर बुद्ध कितने भी महान हों, थे तो एक गैर-दलित ही एक सवर्ण हिन्दू। गनीमत है उन्होंने बुद्ध को 'जार' और थेरीगाथा की स्त्रियों को 'कुलटा' नहीं कहा। संभावना थी, क्योंकि उन्हें हर जगह 'जार' और 'कुलटा' ही दिखते हैं यत्र-तत्र-सर्वत्र! लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल! इसीलिए उन्होंने 'मातृसत्ता, पितृसत्ता और जारसत्ता' शृंखला में पांच-छह किताबें लिख मारी हैं।

निश्चय ही 'जारसत्ता' को समाप्त करने का जो बीड़ा डॉ. धर्मवीर ने उठाया है, वह सराहनीय है! किन्तु क्या वे 'जारसत्ता' को खत्म कर पाएँगे? कानून क्या करेगा? मियां-बीबी राजी तो क्या करेगा काजी? और सबको तो वे समझा नहीं सकते! दुनिया अपने रास्ते चलती है। जब तक विवाह नामक संस्था है, तब तक 'जार' और 'कुलटा' का भी अस्तित्व बना रहेगा। विवाह संस्कार के समाप्त होते ही जार और कुलटा भी नहीं रहेंगे। इसीलिए स्त्रीवाद की एक धारा विवाह और परिवार नामक संस्थाओं पर ही प्रहार कर रही है। फ्रेडरिक एंगेल्स ने 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में एक बड़ी दिलचस्प बात कही है। बताया है कि निजी संपत्ति के साथ परिवार नामक जिस संस्था का उदय हुआ, उससे स्त्री-पुरुष के स्वच्छंद यौन-प्रेम पर अंकुश लगा और इतिहास में पहली बार व्यक्तिगत एकनिष्ठ यौन-प्रेम का जन्म हुआ। एंगेल्स के इस एकनिष्ठ प्रेम के उदय के साथ एक बात और हुई। वह यह कि इतिहास के रंगमंच पर दो प्राणी और प्रकट हुए जिन्हें इससे पहले देखा नहीं गया था जार और कुलटा! डॉ. धर्मवीर ने एंगेल्स की इसी पुस्तक को कई बार उद्धृत किया है। किन्तु इस बात को वे नजरअंदाज कर जाते हैं। जार और कुलटा केवल अपवाद हैं। वृहत्तर समाज के लोग पारिवारिक-सामाजिक जीवन में मर्यादा, सदाचार और एकनिष्ठ प्रेम के आदर्शों का ही अनुकरण करते हैं। जार और कुलटा-वृत्ति वस्तुतः विवाह व परिवार-संस्थाओं के नकारात्मक पहलुओं से पैदा होने वाली प्रवृत्ति है। इसीलिए अपवाद-स्वरूप है। संपूर्ण समाज को अपवाद की इस लाठी से हांकना सामाजिक

संश्लिष्टताओं से नजरें चुराकर मनमाना इस्तेमाल कर लेना है। यह इस्तेमाल किया जाता है सनसनी फैलाने के लिए। हिन्दुत्व, हिन्दू कानून और सभी सवर्ण हिन्दू लेखकों को जार-दर्शन का अनुगामी बताना क्या सनसनी फैलाना नहीं है?

डॉ. धर्मवीर द्वारा जो 'दलितशास्त्र' रचा जा रहा है, क्या वह सचमुच दलितों के हित में है? क्या वह दलित-आंदोलन में फूट पैदा नहीं करता? क्या वह स्त्री-विरोधी नहीं? और सबसे महत्वपूर्ण बात, क्या उससे मौजूदा व्यवस्था को ही बल नहीं मिलता?

पाठ या कुपाठ

जय कौशल

मनुष्य को कुछ चीजें जन्मजात (विरासत में) मिलती हैं। घर की पारिवारिक सदस्यता, देश की नागरिकता, लिंग, धर्म और भारतीय सन्दर्भ में जाति स्वतः प्राप्त होते हैं, पर कई बार हम इनका दुरुपयोग करने लगते हैं। हमारे देश में लिंग, धर्म और जाति 'आइडेन्टिटी' (पहचान) का आधार रहे हैं और शोषण के हथियार भी। इनके बल पर कथित उच्च वर्ग (सवर्ण और पुरुष) द्वारा अन्यों (दलित एवं स्त्री) का न जाने कब से शोषण, दमन किया जाता रहा है। अब जाकर कहीं इनमें भी चेतना का संचार हुआ तो प्रतिकार का भाव पैदा हो रहा है। पर इन्हीं में एक ऐसा वर्ग भी पैदा हो रहा है, जो निजी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इस चेतना का दुरुपयोग करना चाहता है और चीजों को विकृत करके पेश करता है। डॉ. धर्मवीर ऐसे ही दलित चिंतक हैं जिनका सारा चिन्तन जाति की कोख में विकसित हुआ है। पूर्व में कबीर के गुरु को लेकर इनका निष्कर्ष था कि 'उनका गुरु कुत्ता, बिल्ली कुछ भी हो सकता है पर ब्राह्मण नहीं।' अब प्रेमचंद की शामत आई है। डॉ. धर्मवीर ने तो जारकर्म का एक नया दर्शन ही गढ़ डाला है, जिसके सांचे में प्रेमचंद को फिट करने के लिए इन्होंने जमकर कसरत की है।

'प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी' की शुरुआत ही प्रेमचंद की जाति बताकर की गई है। "भेरे लिए यही मुख्य बात है कि प्रेमचंद कायस्थ थे। भारत के जातीय वातावरण में किसी लेखक की जाति जानने से उसके साहित्य को समझने में काफी मदद मिलती है।" (देखिए प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी, पृ. 13) इस मतानुसार व्यक्ति अपनी जातिगत मानसिकता का अतिक्रमण कर ही नहीं सकता। वह जिस जाति में पैदा हुआ है, कहीं-न-कहीं उसका पैरोकार जरूर होगा। इस अर्थ में तो जाति-विरुद्ध उठाए गए सभी कदम और उसकी चेतना झूठी हो जाती है, यहाँ तक कि स्वयं दलित-साहित्य भी अप्रसांगिक हो जाएगा।

डॉ. धर्मवीर ने 'कफन' कहानी की जो शल्य-क्रिया की है, वह भी देखने लायक है। प्रेमचंद के निजी जीवन और रचना में घालमेल करके उनको मुंह भर-भर कर गालियाँ दी गई हैं। उन्हें सामंत का 'आत्म-नियुक्त मुंशी' बल्कि 'जार' तक कहा गया है। इस क्रम में प्रेमचंद के समर्थकों तक को नहीं छोड़ा गया है। लेखिका

अनिता भारती को महज इसलिए भला-बुरा कहा गया क्योंकि वह दलित होकर 'सामन्तों' और 'जारों' (!) का समर्थन कर रही हैं। क्या कट्टर जातिवादी और स्त्री-विरोधी नज़रिए से स्थापनाएँ देना सामंती दृष्टि नहीं है? किसी लेखिका की तुलना बुधिया से करना, प्रेमचंद को सामन्त का मुंशी तथा जार कह देना और कबीर का गुरु ब्राह्मण के अलावा कुत्ता, बिल्ली, पशु-पक्षी तक मान लेना स्वयं डॉ. धर्मवीर की सामंती एवं जार दृष्टि ही तो है।

'कफन' को लेकर इनकी स्थापना है कि "बुधिया गांव के जमींदार के लौंडे से गर्भवती थी, उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था।" (वही, पृ. 17) पता नहीं डॉ. धर्मवीर ने उसका डी.एन.ए. टेस्ट करा लिया था अथवा इनकी आत्मा ही किसी रूप में वहाँ मौजूद थी और यह सब देख रही थी। जितने विश्वास से यह तर्क दिया जा रहा है, उससे तो लगता है, प्रेमचंद नहीं, स्वयं डॉ. धर्मवीर 'पुनर्जन्म' को मानते हैं। 1936 के दौर में तो इनका जन्म भी नहीं हुआ होगा। अब धर्मवीर को उसी तर्क से जो इन्होंने प्रेमचंद के खिलाफ दिया है, यह कहा जा सकता है कि "पुनर्जन्म में विश्वास और दलित समस्या का समाधान दोनों एक साथ नहीं चल सकते।" (वही, पृ. 26)

इनके अनुसार दलितों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था रही है। दलित पुरुष तो अधिकांशतः आलसी, निकम्मे और नशेड़ी होते हैं। महिलाएँ ही मेहनत-मजदूरी करके लाती हैं और उनका 'दोजख' भरती हैं। इस तर्क से बुधिया भी यही करती होगी। वह जमींदार के खेत में गई होगी, जहाँ उसके लड़के ने उसके साथ बलात्कार किया होगा और अपनी आर्थिक, सामाजिक एवं निजी परिस्थितियाँ देख बुधिया ने भी मौन साध लिया होगा। जाहिर है, यह गर्भ भी उसी से होगा। यह बात घीसू और माधव जानते होंगे, इसीलिए प्रसव-पीड़ा के वक्त चुपचाप बैठे हैं। इस बात को पुष्ट करने के लिए डॉ. धर्मवीर जमींदार की दयालुता का विशेष अर्थ में जिक्र करते हैं कि उसने "जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकाल कर फेंक दिए।" उनकी टिप्पणी है कि "मरी हुई बुधिया के कफन के लिए दो रुपये नहीं फेंके जाने थे, बल्कि जिन्दी 'जाबाला' के नाम आधी जमींदारी लिखानी थी। जमींदारी व्यवस्था में जमींदार दयालु कैसे हो जाएगा।" (वही, पृ. 45)

ध्यान दें, कहानी की उक्त पंक्ति में डॉ. धर्मवीर आधी पंक्ति का ही ध्यान रखते हैं, क्योंकि वही उनके काम की है। वह "जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकालकर फेंक दिए" में 'दो रुपये निकालकर फेंक दिए' का ही नोटिस लेते हैं। इसका नहीं कि फेंकते (देते) वक्त जमींदार का जी भी कुढ़ रहा था, क्योंकि एक तो, जिन दलितों से हमेशा बेगार कराई, मजदूरी का पैसा भी नहीं दिया, उन्हें दो रुपये देने पड़ रहे थे। दूसरे, न दें तो बिना पैसे के उसका अंतिम संस्कार हिन्दू रीति-नीति से नहीं होगा।

दरअसल डॉ. धर्मवीर कहानी में प्रयुक्त एक शब्द विशेष 'चमार' और उसके

कुछ वाक्यों को लेकर ही इतना बावेल मचाए हुए हैं। अगर कहानी को समग्रता में पढ़ लेते तो अपना जार-दर्शन कैसे सिद्ध करते? इन्होंने खुद कहा है कि “मुझे इस कहानी पर कुछ नहीं कहना था यदि वे इसमें ‘चमार’ शब्द का प्रयोग न करते।” (वही, पृ. 18) जबकि उक्त शब्द गाली के अर्थ में नहीं बल्कि व्यवस्था के धिनौने एवं शोषणकारी रूप को यथार्थवादी ढंग से व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया गया है। उस वक्त दलितों में चेतना-शून्यता बनी हुई थी, उनका बेतरह शोषण हो रहा था, ऐसे में किसी गैर-दलित लेखक द्वारा दलितों को कथानायक बनाना ही बड़े बूते की बात थी। ‘चमार’ शब्द तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था में संबोधन-उद्बोधन को रेखांकित करता है। अब डॉ. धर्मवीर जैसा कोई अतिवादी चाहे तो ‘दलित’ शब्द को भी गाली की तरह ले सकता है और हंगामा खड़ा कर सकता है।

कहानी से बाहर जाकर डॉ. धर्मवीर बुधिया के पेट में ठाकुर का बच्चा मान लेते हैं, यह क्यों नहीं मानते कि वह माधव का ही था। माधव मेहनत-मजदूरी से जी चुराता होगा, बुधिया से अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से नहीं? या फिर इनके पास उसे भी नपुंसक सिद्ध करने का कोई जार-तर्क है?

असल में टुकड़ों में मूल्यांकन से कोई भी रचना, चाहे वह ‘कफन’ हो या कोई अन्य, घटिया सिद्ध की जा सकती है। अतः रचना की गुणवत्ता की कसौटी समग्र मूल्यांकन होना चाहिए। बहरहाल, छिछले तर्क और उल्टी-सीधी स्थापनाएँ देने के बजाय डॉ. धर्मवीर अपनी आलोचना-बुद्धि और साहित्यिक-विवेक का इस्तेमाल ‘हिन्दी की आत्मा’ जैसी कोई अन्य बेहतरीन पुस्तक अथवा ऐसा ही कुछ ‘क्रिएटिव’ लिखने में करें तो साहित्य का कुछ भला ही होगा!

दलित विमर्श के भंवर में पड़ी 'कफन' कहानी का व्यंग्य, विद्रूप और विडम्बना

डॉ. कृष्णचंद्र गुप्त

दलित विमर्श के भंवर में पड़कर बहुत कुछ उलट-फेर हुआ है। अनेक सिद्ध-प्रसिद्ध रचनाकारों को आक्षेप-आरोपों के कारण धूल-धूसरित करने का प्रयास हुआ, तो रातों-रात कुछ रचनाकार शीर्षस्थ बना दिये गये। आग्रह, पूर्वाग्रह, दुराग्रह का ऐसा प्रचंड अंधड़ उठाया गया कि सामान्य पाठक भौंचक्का हो गया। अजीबोगरीब आरोप आक्षेपों से ग्रस्त-त्रस्त होकर अनेक प्रतिष्ठित रचनाएँ और रचनाकारों को धराशायी करने की चेष्टा हो रही है। नये-नये पाठ-कुपाठ, व्याख्या-दुर्व्याख्या, पाखंड और विवाद के कारण 'समुझि परै नहिं पंथ'। और विडम्बना यह है, जिस प्रेमचंद पर ब्राह्मण-विद्वेष का आरोप तीसरे दशक में लगाया गया था, ब्राह्मणवाद के विरोध एवं दीन-दलितों की पक्षधरता के कारण, अब उसी प्रेमचंद पर 'सामंतवाद का मुंशी', 'कलम का सौदागर', दीन और दलितों के द्वारा ही उसे दीन-विरोधी ही नहीं, अपितु दलित-द्वेषी सिद्ध करने के लिए धरती-आकाश एक किये जा रहे हैं। वैचारिक मतभेद की भाषा और शैली गली-मौहल्लों के असभ्य, फूहड़, कुतर्क और गाली-गलौच में बदलती जा रही है। ऐसे माहौल में प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी सर्वाधिक कुपाठ, दुराग्रह और जातिगत विद्वेष के कीचड़ में लिथड़ी पड़ी है। अतः उसमें निहित सामाजिक पक्षधरता, मानवीय मूल्य, रूढ़ि-रीति विरोध और प्रगतिशीलता को देखा-परखा जाए।

कहानी के प्रारम्भ से ही घीसू-माधव की हरामखोरी, उठाईगिरी, बेशर्मी, कामचोरी, आलस्य और चोरपने पर व्यंग्य करने से प्रेमचंद चूके नहीं हैं। मान-सम्मान की परवाह घीसू-माधव को है ही नहीं। हो भी कैसे सकती थी ? जो काम नहीं करते, जब तक तीन दिन के फाके न हो जाएँ, तब तक काम करने के लिए निकलते ही नहीं थे। दो लोगों का काम एक से कराने की विवशता जो लोग झेल पाते थे, वे ही लोग उन्हें काम पर बुलाते थे। गालियाँ और मार खाने पर भी उन्हें कोई परेशानी नहीं होती थी। उनकी दीन-हीनता के कारण समाज के कुछ दया और करुणा से परिचालित लोग उन्हें कुछ न कुछ कर्ज दे ही देते थे, वापस मिलने

की कोई आशा न होने पर भी। रात में दूसरे के खेत से आलू, मटर और ऊख चुराकर और रात में ही उन्हें भून-भानकर खाने वाले इन निठल्ले कामचोरों के प्रति कोई सहानुभूति लेखक ने नहीं दिखायी है। साठ साल की उम्र बाप ने ऐसे ही पूरी की और बेटा भी ऐसा ही कर रहा है।

उनकी इस मानसिकता का कारण? समाज की वह व्यवस्था (?) जहाँ काम करने पर भी यथोचित मजदूरी नहीं मिलती। दबंगों के शोषण का शिकार होकर अगर भूखों ही मरना है, तो हाड़तोड़ मेहनत क्यों की जाए? यह मनोवृत्ति उचित तो नहीं है लेकिन इस तर्क की सहजता को नकारा भी नहीं जा सकता, यद्यपि कहीं भी इनकी इस मानसिकता का बचाव नहीं किया गया।

साल भर से माधव की बहू बुधिया के आने से ये दोनों बाप-बेटे और कामचोर हो गये क्योंकि पिसाई कर या घास छीलकर वह सेर भर आटे का इंतजाम कर लेती और इन दोनों 'बेगैरतों का दोजख' भरती रहती थी... जब से वह आयी, ये दोनों और भी आलसी और आरामतलब हो गये थे, बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। निर्लज्ज भाव से दुगनी मजदूरी मांगते, काम से बचने के लिए। यहाँ भी कोई पक्षपात नहीं है। घीसू, माधव पर व्यंग्य-विद्रूप के बाण प्रेमचंद ने बरसाये हैं लेकिन अगर ये व्यंग्य-विद्रूप ही बरसाए होते, तो ये चरित्र एकांगी हो जाते। ऐसे विषम सामाजिक, आर्थिक दुष्चक्र में पड़े हुए इन बाप-बेटों में कहीं दबा-कुचला उत्तरदायित्व बोध भी है, थोड़ी-बहुत लाज-शर्म भी है और कुछ दुनियादारी भी बची हुई है। हद दर्जे की अमानवीयता के बाद भी कहीं कुछ करुणा, कातरता भी इनमें दिखायी पड़ ही जाती है "रह-रहकर उसके (बुधिया के) मुँह से ऐसी दिल हिलाने वाली आवाज निकलती थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे।" माधव को चिढ़ भी है 'मरना ही है, तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देखकर क्या करूँ?' बेटे की इस अमानवीयता पर बाप का यह कथन कितनी बड़ी विडम्बना है 'तू बड़ा बेदर्द है बे! साल भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई!' यहाँ कोई भी आसानी से कह सकता है 'खुद मियाँ फजीहत, औरों को नसीहत।' लेकिन यह अति सरलीकरण है। एक ओर परले सिरे की हरामखोरी और दूसरी ओर यह मानवीयता और करुणा। दोनों विरोधी भाव। यह स्थिति यहाँ देखते ही बनती है। इस पर बेटे ने क्या कहा 'तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पांव पटकना देखा नहीं जाता।' बेटे के इस नहले पर बाप का दहला भी देखिए 'मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं और फिर मुझसे लजाएगी कि नहीं। जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ। उसे तन की सुध भी तो नहीं होगी, मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पांव भी न पटक सकेगी।' केवल अधिक आलू खाने की यह बेहयाईपूर्ण तरकीब ही नहीं है, इसके मूल में परम्परागत, पारिवारिक, सामाजिक

रीति-नीति भी है कि ससुर का बहू को नंगा-उघड़ा देखना अनुचित है। इतना सूक्ष्म अन्तर है प्रकट और प्रच्छन्न मानसिकता में। कहीं कोई सहानुभूति प्रेमचंद इन बाप-बेटों की इस विकृत मानसिकाता के प्रति नहीं दिखाते। उनकी बेशर्मी को भी उधेड़ते हैं। ऐसी अमानवीय परिस्थितियों में जीने और मरने वालों में बची-खुची मानवीयता को प्रेमचंद ने नकारा नहीं है और इस मनोवृत्ति का कारण भी वे स्पष्ट करते हैं 'जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात नहीं। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं अधिक विचारवान था और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मंडली में जा मिला था।' यहाँ 'विचारवान', 'विचारशून्य' में व्यंजित व्यंग्य की घातकता दर्शनीय है तथा 'कुत्सित' के द्वारा समाज की विद्रूपता को व्यंजित किया गया है।

यही विद्रूपता अपने तीखे रूप में व्यक्त हुई है बीस साल पहले ठाकुर की बारात में भरपेट बढ़िया खाने की विडम्बनापूर्ण स्मृति में। विडम्बना इसलिए कि बहू के प्रसव-पीड़ा से छटपटाते माहौल में कहीं बाप बेटे से अधिक आलू न खा ले 'वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़की वालों ने सबको भरपेट पूरियाँ खिलायीं, सबको। छोटे-बड़े सबने पूरियाँ खायीं। असली घी की। रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी। दही, चटनी, मिठाई। कोई रोकटोक नहीं। जो भी चाही, मांगो, जितना चाही, खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया कि पानी नहीं पिया... ऐसा दिल दरियाव था वह ठाकुर।' जिन्दगी भर शोषण करके गरीबों का खून चूसने वाले ठाकुर की दरियादिली की यह प्रशंसा! क्या विडम्बना है! यह है चरित्र के प्रति पूरा न्याय। जो जितना काला या सफेद है, उतना ही दिखाना। काले के आतंक से सफेद को गायब नहीं किया और न सफेद की महिमा की चकाचौंध में काले को अनदेखा किया गया। आखिर यही तो मानव स्वभाव की वास्तविकता है। न पूर्णतः सफेद और न एकदम काला। यह प्रेमचंद की चरित्र-सृष्टि की विशेषता है, जिसको दुराग्रह के कारण अनदेखा ही नहीं किया जा रहा है, अपितु उस पर कीचड़ भी उछाली जा रही है। उनका व्यक्तिगत जीवन भी इस कीचड़ से अछूता नहीं रह गया है। उनके साहित्य की तो होली जलायी ही जा रही है। आखिर कभी इस पर विचार तो होगा ही, द्वेष-दुराग्रह के अंधड़ में भी।

घीसू ठाकुर के भोज की स्मृति से गद्गद् है। माधव ने इन पदार्थों का मन ही मन मजा लेते हुए कहा 'अब हमें कोई भोज नहीं खिलाता।'

'अब कोई क्या खिलाएगा। वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत

सूझती है। शादी-विवाह में खर्च मत करो, क्रिया-कर्म में खर्च मत करो। पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे। बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफायत सूझती है।’

क्या इसे निठल्लों-बेशर्मों की बकवास कहकर टाला जा सकता है। शोषकों की असलियत को उधेड़कर रख दिया गया है। पक्षपात कहीं भी नहीं है। शोषक और शोषित दोनों की वास्तविकता दशा और उसके औचित्य को उजागर किया गया है।

खैर, बुधिया मर गयी। बच्चा पेट में ही मर गया। अब बाप-बेटे हाय-हाय कर छाती पीटने लगे। क्या इसे इनका दिखावा कहा जाए। नहीं, बिल्कुल नहीं। दुखातिरेक से इनके मन में छिपी पारिवारिक सम्बन्धों की करुणा और शोक सहज रूप से व्यक्त हुआ है लेकिन उनकी असहायता देर तक रोने का अवसर नहीं दे रही है। कफन का इंतजाम करने के लिए दोनों निकल पड़ते हैं। गांव के जमींदार को अपनी व्यथा-वेदना सुनाते हैं ‘हम दोनों उसके सिराहने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सब कुछ किया। मुदा वह हमें दगा दे गयी।’ जबकि वास्तविकता यह है, दोनों बाहर बैठे अधिक से अधिक आलू खाने की जुगत लगाते रहे। दवा-दारू के लिए फूटी कौड़ी भी नहीं थी। फिर भी एक सत्य तो उन्होंने प्रकट कर ही दिया ‘‘अब कोई रोटी देने वाला भी नहीं रहा मालिक। तबाह हो गये, घर उजड़ गया।’’ मानो पहले खुशहाल थे। विवशता में भी ये लोग चालाकी से बाज नहीं आए। अब जमींदार को देखें ‘‘जमींदार साहब दयालु थे, मगर घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रंग चढ़ाना था। जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकाल कर फेंक दिये। उसकी तरफ ताका तक नहीं। जैसे सिर का बोझ उतारा हो।’’ यहाँ जमींदार की निष्ठुरता को दबाकर लोकलाज उभर आयी है क्योंकि बदनामी के डर से ऐसा करना पड़ा।

तो यह है प्रेमचंद की न्याय बुद्धि चरित्रांकन में जैसी जाकी चाकरी, तैसा ताको देय। कफन के लिए औरों ने भी यथासामर्थ्य दिया।

अब अन्तिम दृश्य। पांच रुपये पाकर बाप-बेटे की नीयत बदलने लगती है ‘‘रात को कफन कौन देखता है? कैसा बुरा रिवाज़ है, जिसे जीते जी तन ढंकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए।’’ यह है सामाजिक रूढ़ि-रीतियों की विद्रूपता।

कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है, इसलिए क्या तुक है कफन डालने की? क्या तर्क है इन दोनों बेशर्मों का! कफन के लिए मिले पैसों को हड़पने की भूमिका बन रही है। तभी मधुशाला के सामने पहुँच जाते हैं। अब उनके सामने पूरी बोटल, पूरी-मिठाई, चिखौना मछलियाँ। ताबड़तोड़ पीना और यह तर्क ‘‘कफन लगाने से क्या होता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।’’

धीसू के कहने पर माधव बोला “दुनिया का दस्तूर है। नहीं तो लोग बामनों को हजारों रुपये क्यों देते हैं? कौन देखता है परलोक में मिलता है या नहीं?”

“बड़े आदमियों के पास धन है, हमारे पास फूंकने को क्या है?” गोदान में तो धनिया सवा रुपया निर्जीव होरी के पसरे हुए हाथ पर धर देती है और पण्डित जी बड़ी बेशर्मी से उसे उठाकर जेब में डाल लेते हैं। धनिया बड़े लोगों के गोदान कराने के संस्कारों से ग्रस्त है लेकिन धीसू इन संस्कारों की व्यर्थता से परिचित हो चुका है। वह कफन के लिए मिले पैसों को निर्द्वंद्व भाव से शराब और पूड़ी-मिठाई में उड़ा देता है लेकिन माधव में उत्तरदायित्वबोध कुलबुलाता है क्योंकि वह अपने बाप जैसा तार्किक नहीं हुआ है। इसीलिए उसके शंका करने पर धीसू उसे डांट देता है। जीवन में माधव को पहली बार ही तृप्ति का अनुभव हुआ और धीसू को दूसरी बार। अतः इस तृप्ति के लिए बुधिया के प्रति कृतज्ञता मरने के बाद भी ऐसी शानदार दावत उड़ाने को मिली और देखिये प्रेमचंद की टिप्पणी इन बेशर्मी पर “दोनों इस वक्त इस शान से बैठे हुए पूरियाँ खा रहे थे, जैसे जंगल में शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का खौफ, न बदनामी की फिक्र। इन भावनाओं को इन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था और इस समय धीसू की कृतज्ञता और दार्शनिकता दर्शनीय है “हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे सुख न होगा?”

माधव “उसे (बुधिया को) बैकुण्ठ ले जाना... आज जो भोजन मिला, वह कभी उम्र भर न मिला था।” इस तृप्ति के बाद माधव में फिर शंका का सर्प फन उठता है “जो वहाँ वह (बुधिया) हम लोगों से पूछे, तुमने हमें कफन क्यों नहीं दिया? तो क्या कहोगे?”

“तू कैसे जानता है कि उसे कफन नहीं मिलेगा। तू मुझे ऐसा गधा समझता है। साठ साल से क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ। उसको कफन मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा।”

माधव को फिर भी विश्वास नहीं आया, बोला “कौन देगा? रुपये तो तुमने चट कर डाले। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी मांग में सिन्दूर तो मैंने डाला था।”

माधव की चालाकी देखिए, क्या उसने शराब-पूरी खरीदते समय मना किया था? यह चरित्र की जटिलता है या बेशर्मी? उत्तरदायित्वबोध फिर भी बचा हुआ है इनमें। उचित-अनुचित का विवेक भी है। तभी ये लोग शोषकों पर व्यंग्य करते हैं। यह तो परिस्थितियों और व्यवस्था की अमानवीयता है कि घोर अन्याय और विषमता की चक्की में लगातार पिसते हुए भी इनमें कुछ मानवीयता, उत्तरदायित्वबोध बचा रह गया है, जिसे उभारकर प्रेमचंद ने इनके प्रति न्याय किया है। प्रेमचंद पक्षधर हैं दीन-दुखियों, दलितों, शोषितों के, पक्षपाती नहीं हैं। तभी तो इनकी हरामखोरी, कामचोरी, धूर्तता, दुष्टता को अनदेखा नहीं करते। क्षमा तो करते ही

नहीं हैं। गाहे-बगाहे उस पर व्यंग्य-विद्रूप करने में भी नहीं चूकते हैं।

किन मानसिकता से परिचालित होकर दोनों बाप-बेटे शराबखाने में पहुँचते हैं “वहाँ (मधुशाला) के वातावरण में सुरू था, हवा में नशा था। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज्यादा वहाँ की हवा उस पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए वे भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं या न जीते हैं न मरते हैं।

यह इन लोगों की दुर्दशा का महिमामंडन नहीं है, अपितु जिन परिस्थितियों में ये लोग जी रहे हैं, उनका वास्तविक अंकन है। ऐसे लोगों से कर्तव्यपरायणता, न्यायबुद्धि, स्वस्थ जीवनपद्धति की आशा करना आत्मप्रवचन है। जिन विषम, क्रूर परिस्थितियों में ये डाल दिये गये हैं, उनमें इनसे किसी अन्य व्यवहार की अपेक्षा करना मात्र नैतिक आग्रह है उनके जीवन की विडम्बनाओं को अनदेखा करके।

शुरू से अन्त तक पूरी कहानी पर घीसू-माधव के जीवन की परिस्थितियों की भयावहता हावी है, जिसके परिप्रेक्ष्य में इन बाप-बेटों की समीक्षा होनी चाहिए। बड़े सूक्ष्म नीर-क्षीर विवेक से इनके दोषों का निर्धारण किया जाना चाहिए। क्षणिक आवेश, दुराग्रह या मताग्रह, वर्ग-वर्णगत आग्रहों के कारण सरलीकरण करके फतवा देना ठीक नहीं होगा। समजाशास्त्रीय या साहित्यशास्त्रीय विवेचन में जाति, वर्ण, वर्णगत विद्वेष से ग्रस्त-त्रस्त होकर लेखक के प्रतिपाद्य को भी नहीं समझा जा सकता।

‘कफन’ को लेकर जो घमासान पिछले डेढ़-दो दशक से दलित विमर्श के नाम से जुड़ा है, उसकी जांच-पड़ताल इस कहानी की वस्तुगत समीक्षा के आधार पर ही होनी चाहिए, न कि व्यक्तिगत या वर्ण-वर्ण विद्वेष से दूषित दृष्टिकोण से।

प्रेमचंद फोबिया और कफन-मीनिया की व्याधि

ओमराज़

साहित्य जगत में प्रसिद्धि की फुनगी पर पहुँचने के लिए हमने भी अपने मन में पूर्वाग्रह प्रतिष्ठापित कर लिया कि 'लिटरेरी पाइरोटेक्नीक' द्वारा हमें प्रेमचंद के कथा-साहित्य में केवल कीड़े निकालने हैं। 'कफन' के हिन्दी और उर्दू दोनों संस्करणों में हमें ऐसा कोई कीड़ा नहीं मिला जो बिलबिला कर काट ले, यह और बात है कि कहानी में बहुत-सी कमजोरियाँ हैं!

भला हो भगवान का कि अपने अध्ययन के दौरान हमें सप्त-उपाधि-मंडल की ज्ञान-ज्योति से आलोकित माननीय डॉ. धर्मवीर की पुस्तक 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' हाथ लग गई! प्रथम पाठ में पुस्तक का भावार्थ हमारी संकीर्ण कुबुद्धि में प्रवेश नहीं कर सका! एक वाक्य पढ़कर दूसरे वाक्य से तालमेल बिठाने के अथक बौद्धिक प्रयास के मध्य ऐसा महसूस हुआ जैसे हमने अफीम खा ली है और सारी पुस्तक एस.टी. कोलरिज की कुब्जाख़ाँ हो गई है! दूसरा पाठ प्रारंभ करने से पहले शाम को देशी शराब की हट्टी (मधुशाला) पर पहुँचे कई कुजियाँ ताबड़तोड़ पीं, मछली खाई और 'ठगिनी क्यूं नैना चमकावै' गाते हुए घर लौटे! कबाड़ में से मिट्टी के तेल की लालटेन खोजी, तेल डाला और उसकी रोशनी में सामंत को ढूँढ़ने लगे, हंसते-हंसते लोट-पोट हो गए, उलटबांसी शैली का रहस्य फिर भी नहीं खुला!

अगले दिन अपने मुहल्ले के मोटेराम शास्त्री से पुस्तक का 'दुर्गासप्तशती' की तर्ज पर विधिवत् पाठ करने के लिए लगन-मुहूरत निकलवाने उनके घर पहुँचे! पंडित जी ने दिन, नक्षत्र, लग्न लिख कर हमें दी और एक किलो जलेबियाँ अपने पास रखीं! दौड़ते हुए घर आए लेकिन पुस्तक अपनी जगह नहीं थी! हम जैसे जारकर्मी की जारीना (धर्मपत्नी) ने उसमें न जाने ऐसा क्या पढ़ लिया कि पुस्तक को कूड़े की बाल्टी में डाल दिया। इससे पहले भी ऐसी ही कई किताबों को वह घूरे पर फिंकवा चुकी थी! खैर, पुस्तक को बाल्टी से निकाला, गंगाजल के छींटे मारे, धूप में सुखाया और पत्नी को इस 'सेक्रीलेजस एक्ट' के लिए यह सजा दी कि अपने लिए उबाले, व्रत में खाने के लिए, आलुओं को हमने नमक लगा कर चट कर लिया और उसे भूखा रखा! अगले दिन नहा-धोकर, आसन बिछाकर धूपबत्ती

जलाकर 'एक दिन, एक अध्याय' की विधि से जाप प्रारंभ किया!

सौलहवें दिन तीसरा नेत्र खुल गया! तीसरा नेत्र या तो प्रलय का विध्वंसकारी दृश्य उपस्थित कर सकता है या अत्यंत दुर्गंधयुक्त वातावरण। नैतिकता के समाजशास्त्र का यह सिद्धांत कि जमींदार हर दुर्बल और निर्बल आदमी का शोषण कर सकता है, घंटे के बारह के अंक पर अटक गया और घंटे, मिनट, सेकेण्ड की नुकीली सुइयों पर सिर्फ घीसू, माधो और बुधिया ही लटके नज़र आने लगे! प्रेमचंद सामन्त के मुंशी नजर आने लगे! कहानियों के पात्र घटित इतिहास के पात्र दिखाई पड़ने लगे और हर कहानी के पीछे एक सच्ची कहानी छुपी हुई नज़र आने लगी। सोते-जागते अजीब से सपने देखने लगे! जितनी गहरी तंद्रा, उतने ही रहस्यमय सपने! औरत के अंदर की औरत का कल्ल करके उसकी खाल ओढ़कर कागज रंगने लगे! हर 'चंद' 'प्रेमचंद' लगने लगा। शमशान जाती हर अर्थी पर लेटा शव नंगा नज़र आने लगा। अगले दिन प्रेमचंद की खाट खड़ी करने अंग्रेजी पीकर सोए लेकिन पलकें झपकी ही थीं कि 'बचाओ-बचाओ' का शोर मचा कर घर सर पर उठा लिया! धड़ाम से बेड से नीचे गिर गए! कमर में चोट आई और पत्नी पास बैठकर आयोडेक्स मलने लगी! बहुत देर बाद नींद आई लेकिन नींद में बड़े भयानक सपने देखे, जो याद हैं, उन्हें नीचे लिख रहा हूँ

1. प्रेमचंद बेड के पास खड़े हमारा मुंह चिढ़ाकर हमसे कह रहे हैं कि चिरकुट डॉ. धर्मवीर तो आई.ए.एस. हैं, लेकिन तुम तो रिटायर मास्टर हो। तुम्हारे सर पर तो ऐसे सवार होंगे कि कोई भगत भी हमारे प्रेत से तुम्हें निजात नहीं दिला सकता!

2. देख रहे हैं हम बाजार में हैं! दुकानों और ठेलों पर प्रेमचंद का साहित्य धड़ल्ले से बिक रहा है! अचानक पीछे से आवाज़ आती है "देखो बेटे, हमारे बारे में तुम जितना ऊल-जुलूल लिखोगे, हम उतना ही ज्यादा बिकेंगे! गुलेरी जी ने भी चंद्रकांता पर चोट की और किशोरी लाल वाजपेयी के उपन्यासों की बखिया उधेड़ी, लेकिन हमें वह भी छेक गए! काश, तुम हमारे समकालीन होते, तो किताबों की रायल्टी का मज़ा हम भी उठा लेते!" पीछे मुड़कर देखा तो कोई नहीं है!

3. एक औरत, जिसके बाल बिखरे हैं, रो-रोकर हमें कोस रही है "भरे, तेरा सत्यानाश हो, तेरे कीड़े पड़ें, तेरी मां, बहन, बेटियों का भी मेरा-सा हाल हो!" अचानक वह औरत पास वाली एक चिता में से जलती हुई लकड़ी उठाकर हमें मारने दौड़ती है! हम भाग रहे हैं, वह हमारे पीछे है! हम भागते-भागते दूर निकल जाते हैं, अचानक दो आदमी हमें पकड़ लेते हैं और चिल्ला-चिल्लाकर आवाज देते हैं "आ, बुधिया, आ! मार इसे! जो लांछन इसने तेरे ऊपर लगाया है, वह हम भी बरदाश्त नहीं कर सकते!" अचानक आंख खुल जाती है और हमारा सारा शरीर पसीने से तर-बतर है।

लगातार ऐसी ही अप्रिय वारदातों से घबरा कर हमें बरेली के पागलखाने के

डॉक्टर (अवकाश प्राप्त) गुप्ता को दिखाया गया! डॉ. गुप्ता पागल साहित्यकारों का इलाज करने में मशहूर हैं। हमारे एक दोस्त जीवन लाल शाह अपने आपको जार्ज बर्नाड शा का वंशज समझने लगे थे! एक और दोस्त अपने आप को मिर्जा ग़ालिब समझने लगे थे। हमारी मानसिक व्याधि के लक्षणों को उन्होंने प्रेमचंद फोबिया, कफन मीनिया, हैलूसिनेशन, पैरानोइया, सीज़ोफ्रेनिया के लक्षणों का मिश्रित रूप बताया है। रात को तो कई गोलियाँ निगलनी पड़ती हैं, अलबत्ता दिन में सेरापेक्स थर्टी और कामीज़ वन से काम चल जाता है, जिनके असर से हम देखते रहते हैं, लेकिन किसी को पकड़ नहीं पाते। वैसे लिखने में कोई परेशानी नहीं होती! व्याधि से मुक्ति के लिए आप भगवान से प्रार्थना करें!

‘आब्जेक्टिविटी’ और ‘सब्जेक्टिविटी’ को खोजने का खेल इतिहास के मैदान में तो अच्छा लगता है लेकिन कहानी या उपन्यास के स्टेडियम में उसका मैच हास्यास्पद-सा लगता है! मौलाना ज़ियाउद्दीन बरनी ने अपने ग्रन्थ सहीफ़ा-ए-नआते मुहम्मदी में लिख मारा कि सारे हिन्दुओं का क़त्ल कर दिया जाय क्योंकि वह ‘अलैह अस्सलाम’ यानी हज़रत मुहम्मद साहब के शत्रु थे! झूठ पकड़ा गया क्योंकि पैगम्बरे-इस्लाम के समय अरब में हिन्दू थे ही नहीं। लेकिन कहानी या उपन्यास में झूठ तलाशना बचकाना लगता है! स्वयं प्रेमचंद की ‘कहानी रेसपी’ के अनुसार “जरा सी घटना नज़र आई और कथानक हाथ आ गया! उसमें ज़रा-सा नमक-मिर्च मिलाया, नींबू निचोड़ा और कहानी तैयार हो गई।” अगर कहानी की इस चाट में चने, नमक, मिर्च और नींबू की जड़ें खोदी जाएँ तो अव्यवहारिक प्रतीत होगा! साहित्यिक समालोचना की शब्दावली में ‘हायर क्रिटिसिज़्म’ टर्म के अन्तर्गत ग्रीक और रोमन क्लासिक्स और धर्मग्रन्थों में घटना से पूर्व घटना, घटना के उद्गम तथा ऐतिहासिक परिवेश का अध्ययन न्यायसंगत है लेकिन कल्पना प्रधान साहित्य में इस फार्मूले को एप्लाइ करना न्यायसंगत नहीं! टी.एस. इलियट के अनुसार साहित्य में विशुद्ध वस्तु-निष्ठता की उपस्थिति संदेहास्पद है। कहानी में उस युग का सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश तो हो सकता है, लेकिन वह अपने समय के सच का प्रामाणिक दस्तावेज़ फिर भी नहीं होती! डॉ. धर्मवीर जी ने ‘कफन’ के अनकहे आठ बटा नौ सच को प्रेमचंद के पेट में तलाश कर लिया! आईसबर्ग समुद्र के ऊपर तैरता है, पानी की सतह के अंदर नहीं होता! प्रेमचंद सच पेट में छुपा कर ले गए, डॉ. साहब ने उसे निकाल कर हमारे सामने रख दिया! “बुधिया गांव के जर्मींदार के लौंडे से गर्भवती थी! उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था!” वैसे एक बात काबिले गौर है कि प्रेमचंद को सच उजागर करने में न कोई क़ैद थी, न रोक-टोक, न किसी जातीय विद्रोह की आशंका और न उनके अंदर का लेखक आत्मिक रूप से निर्बल या कायर था! प्रेमचंद जब एक विशिष्ट गांव की विशिष्ट जाति के कुनबे का नाम ले सकते थे तो वह बिना किसी झिझक के बुधिया के साथ जर्मींदार

के लौंडे से खेत में बलात्कार का भी वर्णन कर सकते थे और वह भी चटखारे लेकर। ऐसा करने पर वह केवल सामंत के मुंशी ही नहीं, जमींदार की कृपा-दृष्टि से उसके 'एस्टेट मैनेजर' बन जाते और आर्थिक विपन्नता में जीवन व्यतीत नहीं करते! जो आदमी अपनी पत्नी को रखैल रखने के बारे में बता सकता है, वह अपनी रखैल और उसकी जात-पात को भी बताने का नैतिक साहस रखता है!

कहानी के कथानक, चरित्रों और संवादों के उस पार कल्पना-लोक में जाकर कथानक में निहित रहस्य के सार्वजनिक उद्घाटन की नई आलोचना पद्धति के अनुसंधान के लिए डॉ. धर्मवीर भारती स्तुत्य हैं! अगर डॉ. धर्मवीर में अजय नावरिया जैसे कहानीकार के जरा से भी लक्षण होते तो वह प्रेमचंद की कहानी 'कफन' से भी अधिक प्रभावशाली 'कफन के नीचे', 'कफन का दावेदार', 'एक और बुधिया', 'बुधिया की वापसी', 'बुधिया का पर्दाफाश' जैसे शीर्षक लेकर नई कहानी लिखते।

डॉ. धर्मवीर की नई आलोचना पद्धति के कुछ तत्व यूनानी काव्य समीक्षकों द्वारा प्रतिपादित 'काव्य समीक्षा' के सिद्धांतों के लक्षणों से मेल खाते हैं। प्लेटो के अनुसार "दिव्य शक्ति से अनुप्राणित अपने दिमाग से पैदल होकर (आउट आफ हिज माइण्ड) तर्क-शून्य अवस्था में ही आदमी कविता करने के योग्य होता है।" प्लेटो से प्रभावित होकर अरस्तू ने अपनी 'पोएटिक्स' में लिखा है "कविता या तो प्रकृति द्वारा प्रदत्त सुंदर उपहार होती है अथवा पागलपन का प्रभाव (स्ट्रेन आफ मैडनेस)! यूरोप में पुनर्जागरण के युग में इन्हीं अवधारणाओं से प्रभावित होकर 'डी फ्यूरोर पोएटिका' (काव्यात्मक पागलपन) की धारणा ने जन्म लिया, जिसकी अभिव्यक्ति शेक्सपीयर के 'मिडनाइट समर्स ड्रीम' में इस प्रकार है

दी ल्यूनेटिक, दी लवर, एण्ड दी पोएट,
आर आफ इमेजिनेशन आल काम्पेट!
वन सीज़ मोर डेविल्स दैन वास्ट हैल
कैन होल्ड,
दैट इज़ दी मैडमैन!

.....

आठ अक्टूबर, 1936 को प्रेमचंद का निधन हो चुका है! प्रौढ़ावस्था के प्रेमचंद कायस्थ 1936 में 'कफन' कहानी लिख रहे हैं, तो 1940 में दलित युवा कवि डॉ. गया प्रसाद 'प्रशान्त' अपनी कविता 'धर्म की आड़ में' लिख रहे हैं! दोनों पूर्वी उत्तर प्रदेश के हैं! दोनों का विषय एक ही है चमार। प्रेमचंद प्रसव पर आकर रुके हैं तो डॉ. गया प्रसाद 'प्रशान्त' ने बलात्कार से शुरुआत की है! बलात्कार के बाद ही प्रसव पीड़ा उभरी है। 1936 के कायस्थ की कहानी की कील 1940 के युवा दलित कवि की कविता की चूल में ठोक कर, डॉ. धर्मवीर ने दोनों को एक दूसरे का पूरक सिद्ध किया है अथवा विरोधी, समझ में नहीं आता! बौद्धिक

प्रखरता की इस चरम सीमा के सन्दर्भ में न जाने क्यूँ नेपोलियन की आत्मस्वीकृति याद आ जाती है

“सर्वोच्चतम स्थिति से हास्यास्पद अधोगति की ओर प्रस्थान में मात्र एक पग की दूरी है!”

पटरी पर चलने वाले ज्ञानार्जनार्थी सीमित तर्कसम्मत सोच के दुर्ग के अंदर घोड़े दौड़ाते रहते हैं, लेकिन प्रज्ञा-जागृत चिंतक गधों पर सवार होकर दुर्ग के फाटक तोड़ कर कहीं भी जा सकते हैं! वहाँ तक भी जा सकते हैं जहाँ देखने वाला तो कोई नहीं होता लेकिन वह स्वयं अपनी स्थिति पर खुड़ली-मुस्कान को स्वयं-भू साहित्यिक ऋषि की अभ्यर्थना में एक प्रशस्ति-वंदना मानते हैं! डॉ. धर्मवीर घीसू-माधव के कंधों पर सवार एक बेताल हैं, जो बौद्धिक रूप से प्रखर हैं, गतिमान भी, लेकिन स्वयं अपने पैरों पर चलकर वह कहीं नहीं पहुँचते, वह कभी तो इन दोनों कातिमोहन को उत्तर देने के लिए कामसूत्र के पन्ने उलटवाने के लिए बाध्य करते हैं तो कभी बलात्कार से पीड़ित विवाहिता स्त्री और उसके पति को ‘चुप साधने’ की शिक्षा दिलाने के लिए हिन्दू स्वामी रामसुख दास की गोद में पटक देते हैं! प्रो. गार्डन गैलप की टीम के अनुसंधान के निष्कर्ष को पढ़कर छिनछिनी भी आती है और उबकाई भी। जो पंक्तियाँ डॉ. धर्मवीर द्वारा उद्धृत की गई हैं, उनकी पुनरावृत्ति भी शालीनता और लज्जा के विरुद्ध है। श्लील और अश्लील साहित्य नहीं, लेखन के बीच में भी हमें कंटीले तार की बाड़ बांधनी होगी! डॉ. गैलप के परिवार और उनकी टीम के सदस्यों के घर-परिवार और उनके समर्थकों की बेटियाँ, बहनें, बहुएँ भले ही उछलती दिखाई दें, लेकिन हे, घीसू-माधो! डॉक्टर साहब को माऊथपीस बनाकर ऐसा अन्याय मत करो कि हर देश, हर जाति, हर वर्ग, हर संप्रदाय, हर धर्म की शरीफ बहू-बेटियाँ, पत्नियाँ, बहनें शर्मशार होकर सामूहिक आत्मदाह कर लें!

1875 में आस्कर वाइल्ड पर चारित्रिक अपराध सिद्ध हो जाने पर उनको क्रिमनल ला अमेण्डमेण्ट एक्ट के अधीन दो साल के कठोर कारावास का दण्ड मिला था! लेकिन आस्कर वाइल्ड की कृतियों पर लांछन नहीं लगाए गए और आज भी यूरोपीय साहित्य जगत में वह ‘कला कला के लिए है’ साहित्यिक आंदोलन के प्रणेता माने जाते हैं। डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचंद के व्यक्तिगत जीवन के ‘रखैल एपिसोड’ को जारकर्म का मीमांसाशास्त्र ही बना दिया!

अनिता भारती और डॉ. धर्मवीर के बीच कफन-केंद्रित वैचारिक विरोध अध्याय ग्यारह में अपने पूर्ण कलेवर और फ्लेवर के साथ उपस्थित है। धर्मवीर जी की बुद्धि के तरकश के तीर अनिता भारती की प्रेमचंद की वैचारिक और तार्किक तरफ़दारी को ध्वस्त करने के लिए ‘अग्नि’ और ‘गौरी’ सिद्ध हो सकते थे, लेकिन धर्मवीर जी का वैचारिक शब्द-युद्ध अनिता भारती जी के सन्दर्भ में सभी साहित्यिक मर्यादाओं की सीमाएँ लांघ कर स्वर्गवासी पराजित योद्धा के लम्पट और हास्यास्पद चारण के

रूप में खड़ा दिखायी देता है! अनिता भारती के दुश्मन, प्रेमचंद के विरोधी और डॉ. धर्मवीर के साहित्यिक संप्रदाय में दीक्षित उनके अति-उत्साही अनुयायी को भी यह रुचिकर नहीं लगेगा कि क्या अनिता भारती बुधिया बनना चाह रही हैं?

अंत में, दलित लेखक बंधुओं, विशेषरूप से दलित कथाकारों और उपन्यासकारों से मेरी सविनय याचना है कि प्रेमचंद के कथाकार की समाधि पर अंतिम शोक-गीत पढ़कर, उनके द्वारा लिखी गई दलित-सन्दर्भ की कहानियों को गंगा में सिरा कर नहीं, किसी कठौती में रखकर स्वाहा करके, आप ही यह प्रण कीजिए कि दलित समस्या पर मात्र आप ही लिखेंगे क्योंकि विश्वस्तर का दलित साहित्य, दलित साहित्यकार ही दे सकता है, कोई कायस्थ या द्विज नहीं! दूसरी ओर यह संभावना भी समाप्त हो जाएगी कि कहीं द्विज में कोई और प्रेमचंद पैदा न हो जाए और दलित स्त्री के स्त्रीत्व की अस्मिता और गरिमा (मां, बहन, बेटी और 'ठाकुर का कुआँ' की पतिव्रता पत्नी गंगी) इस तरह लांछित और अपमानित न हो "पहली बार चूहड़ी यही सोचती है कि निहाल कर दूँ या न करूँ! दूसरे क्षण वह स्वयं पाप की गंगा में गोते लगाने लगती है!"

जमींदार के खेत में घास छीलने वाली बुधिया अपने पास तेज़ धार वाली हंसिया भी रखती है!

तेरा क्या होगा कालिया!

अरुण कुमार गौतम

पिछले एक वर्ष के दौरान मैं काफी व्यस्त रहा था और रह-रहकर भी 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' नामक तुकंताद्यत अजीबो-गरीब पुस्तक के लेखक डॉ. धर्मवीर के ऊल-जुलूज, उलट-फुलट साहित्यिक गन्वेषण, विश्लेषण तथा अंकक्षण पर कलम नहीं चला सका। हर पल यही सोचता कि बस कुछ समय मिल जाता तो तिल का ताड़ बनाने तथा बाल की खाल निकालने वाले तथाकथित लेखक की मानसिक स्नायुओं में एकत्रित कीटाणुओं की अपनी कलमीय जांच-परख करता और तुलसीराम और दुसाध जैसे बुद्धि विशेषज्ञों से उचित एवं आवश्यक परामर्श कराने का अनुरोध करता किन्तु समय की दौड़ती-भागती व्यस्तता के कारण ये असंभव कार्य संभव न हो सका। इसका मुझे तब भी अफसोस था, आज भी अफसोस है। मुझे तो समाज में रहना है, समाज में रहकर समाज से वादाखिलाफी! न बाबा न! मैं तो ऐसा कदापि सपने में भी नहीं सोच सकता। क्या डॉ. अम्बेडकर ने हमें इसलिए पैरों पर खड़ा होना सिखाया था कि इस तथाकथित लेखक की अपमानजनक, तिरस्कार करने वाली प्रतिक्रियाओं को सुनें और मौन रहें? कदापि नहीं!

ये प्रश्न तो दलित इतिहास के साथ-साथ समूची दलित स्त्री के स्वाभिमान, अस्तित्व एवं अस्मिता का जो ठहरा। इसमें बेचारे प्रेमचंद का क्या दोष? उन्होंने उन्हें भी नहीं बख्शा। दलित स्त्रियों पर अंगुली उठे तो, भला कैसे मौन रहा जा सकता है? सच मानो, इस एक वर्ष के दौरान मुझे अपने आप से काफी ग्लानि रही। आखिर इतनी व्यस्तता का भी क्या फायदा! प्रतिक्रियात्मक शब्दों को शृंखलाबद्ध करके मात्र एक लेख ही तो तैयार करना था। किन्तु मेरे लिए यह भी आसान नहीं था, क्योंकि मेरे मस्तिष्क में उनके लिए कुछ और ही घूम रहा था। इसी उधेड़बुन में कई बार सोचा क्यों न उसके मन-मस्तिष्क में आरी, पेचकस और पिलास लेकर जाऊँ और तुकंताद्यत साहित्यिक गन्वेषण की जड़ता को दुरुस्त करूँ किन्तु उनके मस्तिष्क पर तो हरीसन का ताला लगा हुआ था जिसकी चाबी शायद वो अर्सा पहले कहीं खो बैठे थे। कभी सोचा कोई घुड़ी पिलाकर उनका हृदय परिवर्तन करूँ ताकि समाज को कुछ राहत मिल जाए। किन्तु उनका हृदय तो अंबुजा सीमेंट के

आवरण से ढका था जिसे तोड़ना, डॉन की तरह पकड़ना मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन जैसा असंभव कार्य था। अब मेरे लिए ज्यादा मुश्किल हो गई एक तो समय नहीं और लिखने का सुनहरा अवसर भी बीता जा रहा है। आखिर दलित बहनों की राखी याद आ गई और मुझे फर्सत निकालनी ही पड़ी। वरना, मेरी असंख्य दलित बहनें अनायास ही आरोप लगातीं कि कहाँ गई तुम्हारी दलित स्त्रियों की लाज बचाने वाली कलम और तुम्हारी व्यंग्यात्मकता? सचमुच! हीनताबोध, मैंने जल्दी-जल्दी समय को समेटा और कुछेक संपादन कार्यों से अपने आप को उन्मुक्त किया।

अब एक और प्रश्न मन में, आखिर शुरुआत कहाँ से की जाए? शुरुआत करना कोई खाला का घर नहीं है। निबंध, लेख, कहानी, संस्मरण होता तो मेरे लिए कोई मुश्किल नहीं थी। उसकी एक बंधी हुई भाषा है, व्याकरण है। मुश्किल तो व्यंग्य की शुरुआत को लेकर उठक-पटक होती है। आखिर इतने बड़े खलनायक की प्रतिष्ठा का प्रश्न जो ठहरा। मैं डॉ. तेज सिंह और दुसाध जी के शब्दों में मात्र 'मानसिक विकृत व्यक्ति' कहकर सन्तुष्ट नहीं होना चाहता था। सच बताऊँ तो सपाट भाषा में अपनी बात कहकर, मैं क्लाइमेक्स का सारा मजा किरकिरा करना नहीं चाहता था। मैं ऐसे खौफनाक खलनायक की तलाश में था जिसे बिम्ब, प्रतिबिम्ब, प्रतीक बनाकर अपनी बात कहता। किन्तु ऐसे खलनायक को ढूँढने में ही इतना समय जाया हो गया।

भला हो टी.वी. महाशय का जिसने मेरी कल्पना शक्ति को प्रेरणा प्रदान की। लोग बेकार में ही इसे इडियट बॉक्स कहते हैं। सचमुच इडियट वो लोग हैं जो टी.वी. नहीं देखते हैं। टी.वी. देखते ही मुझमें लिखने का जोश पैदा हुआ और मैंने अपने घर के कम्प्यूटर के ऊपर से लगी धूल-मिट्टी हटाते हुए उससे अर्चना की, बस किसी तरह आज बिजली न जाए। कमबख्त! ऐसे वक्त पर हमेशा बिजली धोखा दे जाती है। इस विषय पर आप भी कभी गंभीरता से सोचना, फिर मुझे भी अवगत कराना। आखिर बिजली किसके इशारे पर आती-जाती है और उसकी क्या जाति है? हमारे एरिया में ही ज्यादा क्यों जाती है? सत्यानाश हो तेरा! तुझे तो अभी ही जाना था, कुछ देर ठहर नहीं सकती थी। तथाकथित लेखक का नाम लिया और बिजली ही चली गयी और चारों ओर घोर अंधकार छा गया। चलो, अब क्या किया जा सकता है। सोचा, क्यों न समय व्यतीत करने के लिए उस अनूठी पुस्तक से ही माथा-पच्ची कर लूँ? बिजली आने तक कुछ तो करना ही है। इसे पढ़ते-पढ़ते शाम हो गई और बुद्धि चकराकर गोते खाने लगी। भई, क्या आदमी है ये? मेरा तो सारा दिमाग ही चाट गया। यह शख्स तो आठवाँ नहीं जैसे नौवाँ अजूबा लगता है। मैंने मन को शांत करने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु शांत नहीं हुआ। आखिर मैंने ये किताब पढ़नी ही बंद कर दी। सही बताऊँ, आपको यकीन नहीं होगा। इस अनोखी पुस्तक को बंद करते ही घर प्रकाश से रौशन हो

गया। मुझे पता होता बिजली इसकी वजह से गई है, तो काफी पहले यह किताब फेंक दी होती। मुझे अंधेरे में रहने का कोई शौक थोड़े ही है। बिजली आने के बावजूद कम से कम कम्प्यूटर के पास जाने की मेरी बिलकुल भी हिम्मत नहीं हुई।

सच बताऊं तो मैं लेखक के इस व्यक्तिगत खोजी चिन्तन कार्य से कुछ ज्यादा चिंतित और भयभीत हो गया था। मैं यहीं चिन्तन-मनन करता रहा कि दलित स्त्रियों का यूँ ही तिरस्कार, अपमान होता रहा तो उनके स्वाभिमान एवं अस्मिता का तो समझो बंटोधार और आगे प्रेमचंद का क्या होगा, राम जाने या राजेन्द्र जाने। किन्तु हमारे लिए दलित स्त्री का प्रश्न प्रमुख है। मेरी तो चिंता निरंतर बढ़ी जा रही थी कि अब तो डॉ. अम्बेडकर भी नहीं रहे! यदि वो होते तो अकेले ही तथाकथित लेखक की खैर-खबर ले लेते। अब विडम्बना यह कि पहल कौन करे? कौन भैंस के आगे बीन बजाए? कौन अंधे के आगे रोए, अपने नैना खोए! मैं तो उसकी खोजी साहित्यिक चिन्तन पढ़कर इतना पक गया था कि बस अब तो टी.वी. चलाने का मन किया। सोचा अपनी खोपड़ी में कुछ मनोरंजन सामग्री डाल कर उसे कूल कर सकूँ। फिर बाद में देखा जाएगा कि उसका क्या करना है? घबराहट में एक के बाद एक चैनल बदलता रहा। मस्तिष्क को कूल करने का चित्रपट ढूँढता रहा। एक-एक चैनल घुमाते-घुमाते मेरी दृष्टि यकायक एक खौफनाक खलनायक पर पड़ी। मैं डर गया अरे! यह कैसा विचित्र प्राणी है। इसका तो आधा शरीर जानवर आधा मनुष्य है। उस खलनायक महाशय का पुस्तैनी काम था; महिलाओं की अस्मिता का खून करना। लाल जोड़े वाली स्त्रियों से तो उसे ज्यादा ही खुंदक थी। जैसे ही उसे देखता, उसके मन में हैवानियत जाग उठती और उस स्त्री को उठाकर ले जाता था और उसका वहीं काम तमाम कर दिया करता था। अब भगवान जाने, उस खलनायक को स्त्री जाति से किस बात की पुस्तैनी दुश्मनी थी? पता नहीं, स्त्री जाति ने उसकी कौन सी भैंस खोल दी थी? जो उसे स्त्री जाति के नाम से बदन में खुजली होने लगती थी। यह कथा सुनकर शायद आपको फिल्म का नाम याद आ गया होगा। हां, फिल्म का नाम था; 'जानी दुश्मन'। सच में एक बार तो मैं फिल्म देखकर डबल घबरा गया। इतना भयानक खलनायक किसी हिंदी फिल्म में नहीं देखा था। मैंने तुरंत चैनल चेंज किया और दूसरा चैनल लगाया उसमें शोले फिल्म आ रही थी। सीन ऐसा बिलकुल पहली वाली फिल्म का लंगोटिया यार। "तेरा क्या होगा कालिया?" यह संवाद सुनकर मुझे आगे फिल्म देखने की उत्सुकता हुई। इस सीन के बाद देखा कि गब्बर सिंह अपने तीनों साथियों को मारने के बाद बार-बार दोहराता है "होली कब है... कब है होली?" इस संवाद से ऐसा प्रतीत होता है कि गब्बर महाशय को होली बहुत पसंद थी। आखिर पसंद क्यों न हो, दूसरे की बहू-बेटियों पर रंग उड़ेलने का अवसर जो मिलता है। गब्बर का

तो यह पुराना शौक था। उसे गांव-देहात की सशक्त दलित स्त्री जाति का पवित्र दामन गंदा करने में बड़ा मजा आता था। स्त्री जाति की अस्मिता, अस्तित्व एवं भावनाओं से उसे सचमुच कोई लेना-देना नहीं था। लेना-देना तो तब होता, जब उसके घर भी मां-बहन, बहू-बेटी होती। किन्तु वो तो नागा बाबा का शिष्य जो ठहरा। तभी तो वह सहज अंदाजा लगा लेता था कि किसके पेट में किसका पाप है? एक विकृत मानसिक व्यक्ति का आखिर कोई क्या बिगाड़ सकता है? हमें ही उसकी बुरी नजर से अपनी बहू-बेटियों एवं मां-बहनों की अस्मत् बचाने की नितांत आवश्यकता है। लेकिन गब्बर महाशय यह भूल गए कि होली गुलाल या रंग से ही नहीं खेली जाती अपितु स्थिति-परिस्थिति देखकर जो हाथ लगे मल दो, बक दो, फेंक दो। वो चाहे कीचड़, हूटिंग, गाली या चप्पल या जूती ही क्यों न हो? गब्बर सिंह जी यदि बरसाने की होली याद न हो तो, भविष्य में याद रख लो। वहाँ स्त्रियाँ पुरुषों को लाठियाँ मार-मार कर होली का लुत्फ उठाती हैं। सुना है कि इस होली में अच्छे-अच्छे को अपनी नानी याद आ जाती है। इसलिए गब्बर सिंह जी, यदि आपको होली इतनी ही प्रिय है कि आप दलित स्त्री जाति पर अपना खोजी चिन्तन का रंग उड़ोले बिना नहीं रह सकते, तो आपको भी दलित महिलाओं से अपनी पूजा, आरती, अर्चना और गुलाल की आशा कदापि नहीं रखनी चाहिए। गब्बर सिंह जी, दलित स्त्री जाति पर ऐसा रंग उड़ेलोगे तो, बसन्ती के हाथ जो लगेगा वो लगाएगी, मलेगी, फेंकेगी। वो चाहे गंद, कीचड़, चप्पल या जूती ही क्यों न हो?

मेरा ऐसा मानना है कि कीचड़ फेंकने वाले को कीचड़ खाने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। होली का भाव-बिंदु भी यही है बुरा न मानो होली है। मुझे दुःख इस बात का भी हुआ कि गब्बर की दुर्गति होते देख उसका हुक्का भरने वाला साथी सांभा इस प्रतिक्रिया पर अपनी जेब से तर्क-कुतर्क का अपना अलग ही गुलाल उड़ेलता नजर आया। कोई सांभा जी से जाकर यह पूछे उसने जो किया, क्या वो सही था? यदि वो सही था, तो यह भी ठीक है और वो गलत था, तो यह भी गलत है। आखिर विचार-अभिव्यक्ति और भाषा की स्वतन्त्रता है। विशेषकर हमारे देश में कुछ लोगों को विचार-अभिव्यक्ति की भाषा में कही हुई बात समझ नहीं आती। इसलिए कुछ लोगों को मजबूरन जूतों की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। शायद उन्हें जूतों की भाषा में बात ज्यादा समझ आती है। रही बात सांभा जी की उनको मैं निःशुल्क परामर्श देना चाहूँगा कि जेब में रखी कलम लिखने के लिए होती है, पिचकारी के लिए नहीं होती है। होली की गरिमा की बार-बार बात हो रही है तो लगे हाथों तथाकथित लेखक महोदय को खुशी-खुशी अवगत कराना चाहता हूँ कि हमारी दिल्ली में होली के अवसर पर किसी एक व्यक्ति को महामूर्ख की उपाधि से नवाजा जाता है। महाशय, आप भी मुन्ना भाई की तरह

लगे रहो। इस वर्ष नहीं तो, अगले वर्ष जरूर आपको यह उपाधि मिल जाएगी, यदि दिल्ली से नहीं मिली तो कोई बात नहीं। हमारे देश में 28 राज्य हैं, किसी न किसी राज्य में तो अवश्य मिल जाएगी। आमीन! खुदा के घर देर है, किन्तु अंधेर नहीं।

होली के चक्कर में आपको शोले फिल्म के खलनायक का क्लाइमेक्स बताना भूल जाता। आखिरकार इस फिल्म के अंत में वही होता है जो प्रत्येक हिंदी फिल्म में खलनायक का होता है। मुझे ऐसा लगता है कि इस फिल्म के निर्देशक रमेश सिप्पी क्लाइमेक्स को लेकर काफी परेशान रहे होंगे। वो महत्वपूर्ण प्रश्न था कि गब्बर सिंह जैसे खलनायक को ठाकुर से कैसे मरवाया जाए? इस चिंता में डूबे निर्देशक को कोई आइडिया नहीं सूझ रहा होगा, उसे बार-बार ये बात कोंधे जा रही होगी कि ठाकुर के तो दोनों हाथ ही नहीं हैं। जब ठाकुर के दोनों हाथ ही नहीं हैं, तो ठाकुर से गब्बर को कैसे मरवाया जाए? निर्देशक के मस्तिष्क में यह प्रश्न रहा होगा। कभी आप भी इस विषय में गंभीरता से सोचना। निर्देशक की मनःस्थिति को मैंने समझा है। इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि निर्देशक ने घीसू-माधव से प्रेरित होकर ही जय-वीरू के रूप में पात्र गढ़े होंगे। जय-वीरू ने ही एक ऐसा जूता तैयार करने का आइडिया दिया होगा जिससे ठाकुर द्वारा गब्बर सिंह को मरवाया जा सका। यानी एक तीर से दो शिकार। गब्बर का भी खात्मा और ठाकुर को भी बुधिया के पेट में उसका बच्चा होने के कलंक से भी मुक्ति। वाह! जय-वीरू भाई आपने तो कमाल कर दिया। गब्बर की धोती का तुमने रूमाल कर दिया। घीसू-माधव कितने भी आलसी-कामचोर थे किन्तु प्रेमचंद ने उनमें गैरत बचा कर रखी हुई थी। ठाकुर के लिए जूता तैयार कर देने की प्रतिक्रिया में उनका गब्बर के प्रति आक्रोश भी शामिल था, इसमें उन्होंने कोई आलस्य नहीं दिखलाया न ही कोई कामचोरी की। दिन-रात की कड़ी मेहनत और बुद्धि के बल पर उन्होंने जहरीली कीलों भरा जूता तैयार किया। इस कार्य के प्रति उनकी मेहनत और लगन की हमें दाद देनी होगी। एक विकलांग ठाकुर के लिए जय-वीरू ने दो हाथ बनकर उसका साथ दिया। इस फिल्म का यही चरमबिंदु था और इसे फिल्म का सुखद क्लाइमेक्स भी कहा जा सकता है और फिल्म की सफलता का राज भी। कहा जाता है कि निर्देशक इस आइडिया से झूमे उठे थे। फिल्म के अंत में घीसू-माधव के बनाए हुए जूतों ने क्या करिश्मा किया? इस फिल्म की जबर्दस्त सफलता से अंदाजा लगाया जा सकता है। मुझे लगता है किसी खूंखार खलनायक का इतना बुरा अंत शायद ही किसी फिल्म में दिखाया गया होगा। आखिर ठाकुर के जूते में घीसू-माधव और बुधिया की आहों के साथ समस्त दलित स्त्री जाति का व्यापक आक्रोश जो समाहित था।

ऐसा ही कुछ नजारा राजेन्द्र भवन में आयोजित इस पुस्तक के लोकार्पण

कार्यक्रम में देखने को मिला। जहाँ तथाकथित लेखक पर अनिता भारती, विमल जी तथा रजनी बहन ने जो करिश्मा दिखाया उसे देखकर तथाकथित लेखक के साथीगण दांतों तले अंगुली दबाकर ऐसे बन गए जैसे उन्हें सांप सूँघ गया हो। इन बहनों ने दिखा दिया कि एक तरफ औरत ममता की मूर्ति है तो दूसरी तरफ काली का रूप भी है। इस चित्रपट में दलित स्त्री जाति के निरंतर अपमान, उपेक्षा तथा तिरस्कार की सहनशीलता की हद और आक्रोश दर्शन देखा-समझा और सराहा जा सकता है। इस घटना से सारे देश की दलित महिलाओं ने न केवल स्वाभिमान, अस्मिता और सशक्तिकरण का बिगुल बजाया अपितु स्त्री विमर्श की अनिवार्यता को हाशिए से उठाकर शिखर पर ला खड़ा किया। मुझे ऐसा लगता है कि इस चित्रपट से उन गैर-दलित लेखकों को भी अपने दायरे समझ में आ गए होंगे, जो मौका पाते ही दलित स्त्री जाति पर अपने धिनौनी अभिव्यक्ति करने से बाज नहीं आते। मुझे नहीं लगता है कि अब कोई गब्बर या उसका साथी लेखक भविष्य में ऐसी गुस्ताखी करने की जुरत करेगा। यदि फिर भी कोई ऐसी गुस्ताखी करता है, तो उसे दिल्ली विधानसभा की उस घटना का ताबीज बनाकर खतरे का संकेत के रूप में अपने गले में अवश्य डाल लेना चाहिए। क्योंकि यही वो घटना थी जिसमें समता सैनिक दल के कार्यकर्ताओं ने विधानसभा में घुसकर डॉ. अम्बेडकर पर अपमानजनक टिप्पणी करने वाले विधायक का न केवल सार्वजनिक मुंह काला किया अपितु उसे जूतों की माला पहनाकर उसकी खातिर-पानी की थी। यदि फिर भी कान पर जूं न रेंगे तो, कम से कम रामदास अठावले जैसे जुझारू नेताओं से बचने की अवश्य सलाह दूंगा जिन्होंने तथाकथित लेखक के समान्तर सृजनकर्ता अरुण शौरी को सबके सामने गिरेबाँ पकड़ कर पूछा “बता तेरी हिम्मत कैसे हुई बाबा साहब पर छींटाकसी करने की?”

आखिर उसे अपनी जान बचाकर भागना पड़ा। एक बार तो समता सैनिक से बच जाओगे हुजूर! किन्तु अठावले जैसे नेताओं से बचना मुश्किल ही नहीं अपितु नामुमकिन है। ऐसे मौके पर गालिब जान कह गए हैं कि ‘इफ्तदाए इश्क है रोता है क्या, आगे-आगे देखिए होता है क्या?’

तथाकथित लेखक जिस प्रकार से दलित स्त्री जाति को जारकर्म मापदंड के दायरे में घसीट कर उसकी अस्मिता, अस्तित्व को बेआबरू करने में तुला हुआ है यह किसी भी दलित स्त्री, दलित लेखक के लिए न केवल असहनीय अपितु अश्रवणीय भी है। उनका लेखक जिस कसौटी पर आधारित है, उसमें कहीं भी तर्क के लिए कोई जगह नहीं है। उसके तर्क को फिल्मी भाषा में आंकलित किया जाए तो मुझे लगता है कि मुंगेरी लाल का पात्र ही उनके समकक्ष आकर ठहरता है। मुंगेरी लाल जो सपनों की दुनिया में खोकर यही सोचता रहता था। यदि ऐसा होगा तो, ऐसा हो जाएगा और वैसा होगा तो, वैसा हो जाएगा। उसके मस्तिष्क में भी

फलाना-डिम्काना बातें ही पृथ्वी की तरह परिक्रमा लगाती रहती थी।

हमारे यह तथाकथित लेखक महाशय भी मुंगेरी लाल की तरह दिन-रात इसी उधेड़-बुन में कभी बुद्ध को सीधे नकारते हुए मक्खली गौशाल अथवा आजीवक धर्म को दलितों का धर्म बतलाते हैं। तो कभी डॉ. अम्बेडकर के समग्र सामाजिक एवं धार्मिक विचार-दर्शन पर ही प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। इस आधार पर कोई भी सुधीपाठक सहज अंदाजा लगा सकते हैं कि सचमुच उनकी मति मारी गई है और उन्होंने कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती का कुनबा जोड़ा है। दलित समाज को चाहिए कि वे तथाकथित लेखक का खोजी दर्शन पढ़ने की बजाय सन्ता-बंता के जोक्स पढ़ना उनके मस्तिष्क और स्वास्थ्य के लिए ज्यादा लाभदायक और सन्तोषदायक हैं। किन्तु यह महाशय तो दलित होते हुए जिस प्रकार उच्च-जाति के साथ रोटी-बेटी के संबंधों को सीधे नकारते हैं और बाबा साहब की विचारधारा को भी गलत ठहराने से बाज नहीं आते हैं तो, उनके व्यक्तित्व पर ढाक के तीन पात और कुत्ते की पूंछ को चौदह वर्ष तक नली में डाल कर रखने वाली युक्ति ज्यादा सटीक बैठती हैं। इससे यही जाहिर होता है कि उन्होंने अब तक जिस थाली में खाया उसी में छेद किया है। इसे छेद कहना कम होगा अपितु होल कहना बेहतर होगा। जिसकी भरपाई करने के लिए आज दलित लेखकों को काफी जद्दोजहद और बीच-बचाव करने की नितांत आवश्यकता है। नहीं तो, ऐसे खोजी चिंतक न जाने कल दलितों और उनकी वैध सन्तानों को ही किस श्रेणी में लाकर खड़ा कर दे, कुछ कहा नहीं जा सकता? आज हमें अपनी मां, बहनों, बच्चों को निठारी कांड के प्रमुख आरोपी मोनिन्द्र सिंह की तरह तथाकथित लेखक की नजर से भी बचाने की आवश्यकता है। क्या पता? वो अपनी प्रयोगशाला में कब किस दलित स्त्री का डीएनए टेस्ट करके उसके माथे पर कौन सा कलंक मढ़ दे, कुछ कहा नहीं जा सकता? उसके खोजी लेखन दर्शन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उन्होंने सारी उम्र केवल घास ही खोदी है और धूप में बैठकर अपने बाल सफेद किए हैं। तभी तो वो अपना ज्यादा समय केवल लकीर पिटने में गंवाते हैं। मोनिन्द्र सिंह की तरह उनकी भी साहित्यिक प्रयोगशाला में रात-दिन दलित स्त्री जाति को जारकर्म में धकेलने का अनुसंधान कार्य चलता रहता है। उनका यह अवैज्ञानिक चिन्तन किस तरह दलित समाज के नवजात शिशुओं और गर्भवती दलित स्त्रियों के लिए घातक है, इसके दूरगामी परिणाम भविष्य में देखने को मिल सकते हैं। उनके साहित्य के वर्ड फ्लू वायरस धीरे-धीरे समाज में पनपते जा रहे हैं। इस वर्ड फ्लू के उपचार और बचाव के लिए हमें समय रहते डॉ. तुलसी राम क्लीनिक में जाकर बचाव इंजेक्शन लगवाने चाहिए। तभी इस वर्ड फ्लू नामक बीमारी से बचा जा सकता है अन्यथा यह घातक बीमारी समाज को धीरे-धीरे दूषित और धूमिल कर देगी।

मुझे यह बात समझ नहीं आती कि तथाकथित लेखक की मानसिकता जिन खोजपरक तथ्यों एवं शास्त्रों में गोता लगा रही है। उन सभी शास्त्रों पर तो डॉ. अम्बेडकर ने शूद्रों की खोज लिखकर पहले से ही अशोक की मजबूत लाट की तरह अनेक प्रश्न चिह्न गढ़ दिए हैं। फिर शंका, आकांक्षा और विडम्बना का प्रश्न ही कहाँ उठता है? फिर भी उन्हें बात समझ नहीं आती तो, मेरा उन्हें परामर्श है कि वे बुद्ध द्वारा कोलियों को दी गई देशना का अध्ययन करें, चिन्तन-मनन करें। बुद्ध ऐसे अल्प बुद्धि वाले मनुष्यों को समझाते हुए कहते हैं “किसी भी ग्रंथ को प्रमाण मानकर उसे कसौटीका मापदंड बनाना नहीं चाहिए अपितु तर्क की कसौटी पर उसे जांचने, परखने और समझने के पश्चात ही किसी बात को स्वीकार करना चाहिए। यही वैज्ञानिक दर्शन हमें बुद्ध ने सिखाया, आईस्टाइन ने सिखाया और डॉ. अम्बेडकर ने सिखाया। किन्तु तथाकथित लेखक के साथ एक मुश्किल हो तो अर्ज की जाए। वो जनाब तो अनेक मुश्किलों में उलझे हुए बैठे हैं। वो तो सीधे बुद्ध को ही नकारते हैं, तो तर्क-अतर्क और वैज्ञानिक कसौटी का प्रश्न ही नहीं उठता। उनका तो अब राम ही मालिक है और उनके साहित्य के लिए राम नाम ही सत्य है और कुछ नहीं। अक्ल पर तो उनकी पहले से ही पर्दा पड़ा हुआ था आजकल लगता है कि उनकी अक्ल घास चरने के लिए प्रेमचंद के हरे-भरे खेत में घुस गई है। तथाकथित लेखक की बेवजह साहित्यिक अपमानजनक टिप्पणियों से दलित स्त्री जाति को क्या परिणाम भुगतने पड़ सकते हैं, इसका अंदाजा लगाना तो मुश्किल है? किन्तु उन्होंने जो शगूफा छोड़ा है, कई लोगों के लिए यह रोटी सेंकने का बेहतर मुद्दा हो सकता है। मैं पूछना चाहता हूँ कि हर बार दलित स्त्री ही बलि का बकरा क्यों बने? बकरा बनाने के लिए दुनिया पड़ी है, फिर दलित स्त्री ही क्यों? यह किसी एक दलित बुधिया का प्रश्न नहीं अपितु समस्त दलित स्त्रियों की अस्मिता, अस्तित्व का प्रश्न है, उनके इतिहास का प्रश्न है, उनके विमर्श और गरिमा का प्रश्न है। किन्तु उस घटना के बाद हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अब दलित स्त्री मूकनायिका नहीं।

गाली-गलौज करना असभ्यता की निशानी है

चमन लाल

दलित या गैर-दलित स्त्री या पुरुष दोनों समान रूप से स्वतन्त्र या नियंत्रित होने चाहिए। दलित या गैर-दलित, भारतीय या अभारतीय किसी पुरुष के पास स्त्री को नियंत्रित करने का कोई जैविक-प्राकृतिक या सामाजिक अधिकार नहीं है और न ही होना चाहिए। दलित या गैर-दलित सभी स्त्रियों के लिए यह अपमानजनक है।

डी.एन.ए. टेस्ट की बात सामान्य रूप से अकल्पनीय है यह केवल अति विशेष परिस्थितियों में ही सोची जाती है। जैसे अभी हाल में, एक विधवा हो गई स्त्री के ससुराल के लोगों द्वारा धोखे से उसकी बेटी को चुराकर उसे पति की संपत्ति के अधिकार से वंचित करने के मामले में बच्ची के डी.एन.ए. टेस्ट का सुप्रीम कोर्ट द्वारा आदेश दिया गया है। स्त्रियों दलित या गैर-दलित को जायकर्म द्वारा जारज सन्तानें पैदा करने की बात कहना उन्हें भद्दी गाली देने के समान है।

तलाक की व्यवस्था में आर्थिक रूप से विपन्न स्त्री या पुरुष को आर्थिक रूप से संपन्न स्त्री या पुरुष द्वारा भरण-पोषण का अधिकार भारतीय न्यायालयों व कानून में मान्य है। बच्चों का डी.एन.ए. टेस्ट केवल उपरोक्त वर्णित मामलों के अलावा कतई मान्य नहीं हो सकता, न होना चाहिए।

दलित आंदोलन के मुख्य मुद्दे आत्मसम्मान, स्वावलम्बन, सामाजिक न्याय, शिक्षा आदि से ही जुड़े हैं और जुड़े होने चाहिए। अन्तर्जातीय विवाह क्यों नहीं होने चाहिए? डॉ. अम्बेडकर व सभी विवेकशील चिंतकों के मत में अन्तर्जातीय विवाह हजारों-लाखों-करोड़ों की संख्या में होने चाहिए ताकि निरंतर ऐसे विवाहों की दो-तीन पीढ़ियों के बाद जाति-भेद करना ही असंभव हो जाए और जाति का नाम ही मानव व सामाजिक व्यवहार से हमेशा के लिए मिट जाए।

जाति तोड़नी ही नहीं, चकनाचूर कर देनी चाहिए। लेकिन संसदीय व्यवस्था की वोट आधारित राजनीति ने पिछले कई दशकों में जाति-आधारित राजनीति को ही दलगत रूप में सत्ता में बने रहने का मुख्य आधार बना लिया है। यहाँ तक कि गौतम बुद्ध व डॉ. अम्बेडकर के अनुयायी ही नहीं, कहीं-कहीं वामपंथी

पार्टियाँ भी जाति के साथ-साथ बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक के तर्क (कुतर्क) पर राजनीति कर रही हैं।

व्यभिचार-सदाचार का मुद्दा किन्हीं बड़े मुद्दों की ओर से ध्यान हटाने की साजिश के तहत भी उठाया जा रहा हो सकता है और अपनी किसी मानसिक विकृति या किसी व्यक्तिगत भीतरी चोट के कारण भी। डॉ. अम्बेडकर का बौद्ध धम्म स्वीकार करना उस समय की परिस्थितियों (आज की परिस्थितियों के सन्दर्भ में भी) में एक महान क्रांतिकारी कदम था। डॉ. अम्बेडकर यदि गैर-धार्मिक-तार्किक चिन्तन अपनाते तो शायद यह और भी आगे बढ़ा कदम होता, लेकिन हिन्दुत्ववाद की संकीर्ण जातिवादी दृष्टि व घृणित छुआछूत के विरुद्ध बौद्ध धम्म अपनाना भी एक बड़ा विद्रोही कदम था। अफसोस केवल इस बात का है कि समस्त भारत के कुल 25-30 प्रतिशत दलितों की बहुसंख्या ने 1956 के 5-10 वर्षों के भीतर या अभी तक भी डॉ. अम्बेडकर के उठाए इस कदम से बने नए रास्ते पर अपने कदम आगे नहीं बढ़ाए। 1956 से 1986 के तीन दशकों में यदि भारत की तमाम दलित जनता बौद्ध बन गई होती तो आज भारत में हिन्दुत्ववादी-फासिस्ट शक्तियाँ धर्म के स्तर पर अल्पसंख्यक होने की ओर बढ़ रही होतीं और 6 दिसंबर को बाबासाहेब के परिनिर्वाण के पवित्र दिवस पर 1992 में वे अयोध्या में बर्बर कांड करने की हिम्मत न कर सकतीं।

बुद्ध का दलित चिन्तन से संबंध अवश्य है, जिस पर बौद्ध धर्म के विद्वान अधिक प्रकाश डाल सकते हैं। पर बौद्ध धर्म की मेरी सीमित जानकारी के अनुसार बुद्ध जातिवाद और वर्णव्यवस्था के विरोधी तो माने जा सकते हैं, समर्थक हर्गिज नहीं।

यह प्रश्न या मुद्दा ठीक ढंग से प्रस्तुत नहीं हुआ है कि दलितों या बहुत सारे नास्तिकों का कोई धर्मगुरु (दलित या गैर-दलित) होना ही क्यों चाहिए? नैतिकता एक व्यापक दार्शनिक व सामाजिक अवधारणा है जो समय और समाज सापेक्ष है। सभ्यता के आरंभ में मानव-जाति के उदय के समय किसी भी प्रकार की यौन या देह-संबंधी नैतिकता या नियमावली नहीं थी। नैतिकता, जिसमें यौन या देह-संबंधी नैतिकता भी शामिल है, जो हमेशा समय और समाज सापेक्ष रही है और रहेगी। सर्वकाल, देश और समाज के व्यापक सन्दर्भ में एकमात्र वैश्विक नैतिकता यही हो सकती है कि दोनों पक्षों (स्त्री व पुरुष) के दैहिक या यौन-संबंधों में जोर-जबरदस्ती (जिसमें धन, पद और ताकत का दबाव भी शामिल है) पूर्णतया अनैतिक और कई मामलों में आपराधिक भी है। दोनों पक्षों में पूर्णतया स्वतन्त्र और परस्पर प्रेम पर आधारित किसी भी प्रकार के संबंध (जिनमें दैहिक या यौन-संबंध भी शामिल हैं) को अनैतिक नहीं माना जा सकता।

साहित्यिक ही क्यों, किसी भी मंच पर, यहाँ तक कि घर की चहार-दीवारी

के भीतर भी चरित्र हनन या गाली-गलौज की परंपरा या व्यवहार असभ्यता और अपसंस्कृति की निशानी है, इसे सही कैसे ठहराया जा सकता है? इसका जवाब तो सभ्य व सुसंस्कृत व्यवहार की परंपरा विकसित करना ही है, जो एक लंबी, दीर्घकालिक व कष्टदायक सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जिसमें प्रतिरोध और निर्माण दोनों ही शामिल हैं, जिसका स्वरूप परिस्थिति सापेक्ष ही होगा।

स्त्री की कोई जाति नहीं

कृष्ण कुमार 'आशु'

मुझे लगता है कि ये सवाल ही गलत हैं कि क्या 'दलित स्त्रियां' गैर-दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करती हैं? अथवा स्त्रियां, खासकर दलित स्त्रियाँ जारकर्म करके जारज सन्तानें पैदा करती हैं, अतः डीएनए टेस्ट कानूनन लागू होना चाहिए? मैं मानता हूँ कि स्त्री दलित अथवा सवर्ण नहीं होती। स्त्री सिर्फ स्त्री होती है। देह शोषण हो या अन्य कोई ज्यादाती, स्त्री की पीड़ा जातिगत आधार पर बदल नहीं जाती। यह नहीं हो सकता कि जैसा बोस छात्रावास प्रकरण की पीड़ित ब्राह्मण युवती और ससुर की गिद्ध-दृष्टि की शिकार इमराना का दर्द जुदा होगा। समाचार पत्रों में भी 'दलित महिला से बलात्कार' जैसे शीर्षक देने वाले लोग राजनीतिक मुद्दों को हवा देते प्रतीत होते हैं। क्या बलात्कार की शिकार युवती-महिला के सवर्ण अथवा हिन्दू-मुसलमान हो जाने से उसके अंतर की पीड़ा बदल जाएगी? दरअसल आज के प्रगतिवादी युग में (मैं भारत के अत्यंत पिछड़े कतिपय गांवों की बात नहीं करता) दलित-सवर्ण का मुद्दा ही बेमानी है। यह मात्र वोट बैंक के लिए राजनीतिज्ञों का हथियार मात्र रह गया है।

रही बात गैर (दलित) मर्दों के साथ व्यभिचार करने अथवा जारकर्म करके जारज सन्तानें पैदा करने की तो केवल स्त्रियों पर यह आरोप लगाना सर्वथा बेईमानी है। स्त्री दलित-सवर्ण की संकीर्ण मानसिकता से ऊपर उठी परमात्मा (प्रकृति) की वह अनुपम कृति है, जो प्यार करने के लिए बनी है। प्यार के रास्ते से भटककर जब वह व्यभिचार या जारकर्म की राह पर आती है तो निस्संदेह वह शौक के लिए नहीं आती। उसे उस कुमार्ग पर मजबूरी लाती है अथवा इसके पीछे भी कहीं-न-कहीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुरुष ही जिम्मेदार होता है। मजबूरी भी स्त्री की जाति-धर्म नहीं देखती। स्त्री की उस मजबूरी का फायदा उठाने, अगर कहें कि उसे मजबूर करने के लिए भी पुरुष ही पहल करता है या दबाव बनाता है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी! आर्थिक कारणों को छोड़ भी दें तो जो स्त्रियाँ पर-पुरुष की तरफ आकर्षित होती हैं, निस्संदेह उन्हें अपने पति से वह प्यार, स्नेह, अपनत्व और कुछ हद तक दैहिक सन्तुष्टि नहीं मिल पाती, जिसकी वे आकांक्षी होती हैं। इस दृष्टि से देखें, तब भी बड़ा दोष पुरुष का ही नजर आता है।

जहाँ तक 'प्रेमचंद : सामंत का मुंशी' के लेखक धर्मवीर की बात है, मुझे लगता है, यह शख्स दलितों के नाम पर राजनीति करने वालों का मोहरा है जो समय-असमय ऐसे मुद्दे उछालकर वातावरण को दूषित करने का प्रयास करता रहता है। जिन लोगों ने प्रेमचंद को पढ़ा है, वे जानते हैं कि प्रेमचंद ने अपने अधिकांश पात्रों के माध्यम से दलित वर्ग की पीड़ा को स्वर देने का ही प्रयास किया। यही कारण रहा कि उनके जीते-जी सामन्त वर्ग के लोग उनसे नाराज़ रहे कि प्रेमचंद ने उन्हें खलनायक की तरह प्रस्तुत किया। वस्तुतः प्रेमचंद ने न तो किसी को नायक बनाया और न ही खलनायक! उन्होंने तो जो देखा और महसूस किया, उसी का यथार्थ-चित्रण अपनी कहानियों-उपन्यासों में कर दिया। प्रेमचंद का विरोध करने वालों ने उन्हें गंभीरता से पढ़ा ही नहीं है। अगर वे 'सद्गति' के दुखी चमार, 'दूध का दाम' की भंगी और उसका बेटा मंगल, 'कफन' की बुधिया, 'ठाकुर का कुआँ' की गंगी, 'अलग्योझा' की मुलिया, पन्ना और रघू को पहचानते तो इस तरह की बात ही नहीं करते। राजनीति के लिए साहित्य से खिलवाड़ की जो परिपाटी धर्मवीर और उनके जैसे लोगों ने चलाई है, वह दलित और सवर्ण दोनों ही के लिए घातक साबित होगी।

‘जारसत्ता’ के महान खोजी डॉ. धर्मवीर?

सन्तोष खरे

मुझे लगता है कि साहित्य में ऐसे धर्मवीरों की कमी नहीं, जो किसी-न-किसी तरह चर्चा में बने रहना चाहते हैं और इसके लिए वे किसी भी महान लेखक या महापुरुष की निन्दा करने या बेसिर पैर के तर्क देकर उसके व्यक्तित्व को छोटा बताने का बचकाना प्रयास करते हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण यही है कि, डॉ. धर्मवीर को यह अनुभूति हुई कि उन्होंने ‘जारसत्ता’ की खोज कर ली है और अब वे मार्क्स, डार्विन और आईस्टीन जैसे विचारकों की पंक्ति में खड़े हो गये हैं और अपनी इसी खुशफहमी के शिकार होकर वे अम्बेडकर, बुद्ध और फुले की विचारधारा पर भी हमला करने का दुःसाहस करते हैं।

यह एक हास्यास्पद तर्क है कि ‘मातृसत्ता पितृसत्ता’ की तरह कोई ‘जारसत्ता’ भी है। जारकर्म में भी माता-पिता तो होते ही हैं फिर भले ही माता किसी पुरुष की रखैल ही क्यों न हो? यदि डॉ. धर्मवीर का जारकर्म से आशय अवैध संबंधों से है तो ऐसे संबंधों के लिए न तो कोई संहिता बनी है न कानून। इतना कानून अवश्य है कि यदि कोई पुरुष अपनी अवैध सन्तान का भरण-पोषण नहीं करता तो उसे प्राप्त करने के लिए न्यायालय की शरण ली जा सकती है। इन स्थितियों में ‘जारसत्ता’ कोई ‘अद्भुत खोज’ कैसे हो सकती है?

दलित स्त्री मेहनती और आत्मनिर्भर होती है। वह खेतों या दूसरों के घरों में काम कर अपने परिवार का भरण-पोषण करती है। यहाँ तक कि यदि वह अपने व्यभिचारी, शराबी और कामचोर पति से सन्तुष्ट न हो तो उसे छोड़ कर दूसरा विवाह कर लेती है। यह उल्लेखनीय है कि ऐसे विवाह को कानून भी मान्यता देता है। वे जिन परिस्थितियों में जीवन-यापन करती है, उनमें अधिकांशतः दलित पुरुष, उन्हें अपने नियंत्रण में रखने की स्थिति में नहीं है। (किसी दलित पुरुष द्वारा शराब के नशे में अपनी पत्नी के साथ मारपीट करना उसे नियंत्रण में रखना नहीं है)।

मैं इस बात से भी सहमत नहीं कि दलित स्त्रियाँ गैर-दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करती हैं। उन विशेष परिस्थितियों की बात और है कि कोई गैर-दलित मर्द अवसर पाकर दलित स्त्री के साथ बलात्कार करे या उसकी आर्थिक विपन्नता का लाभ उठा कर कभी शारीरिक सम्पर्क स्थापित करे पर ऐसा अपवाद स्वरूप ही

होता है। इन परिस्थितियों में दलित स्त्रियों के द्वारा कथित जारज सन्तान की पहचान के लिए डी.एन.ए. टेस्ट कानून लागू करने का कोई औचित्य नहीं। यदि कहीं कोई ऐसी जारज सन्तान है भी तो मानवीय दृष्टि से ऐसा टेस्ट करवा कर, उन्हें जीवन भर जारज होने के अहसास तले जीने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए। यह ऐसे बच्चों को भावनात्मक/ मानसिक रूप से हीन भावना से ग्रस्त करेगा, जो उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधक होगा।

देश में लागू विधियों में तलाक होने की दशा में स्थायी निर्वाह-राशि दिलाये जाने के प्रावधान हैं, अतः इस सम्बन्ध में यहाँ विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

निश्चय ही दलित आन्दोलन का मुद्दा जाति तोड़ो, अस्मिता, आत्मसम्मान, स्वावलंबन, सामाजिक न्याय, शिक्षा अंतर्जातीय विवाह, वैज्ञानिक सोच, समानता और भाईचारा की स्थापना है। दलित आंदोलन के सफल होने पर इन उद्देश्यों की पूर्ति स्वयं हो जाएगी। इसके अंतर्गत व्यभिचार और जारकर्म की खिलाफत अथवा डी.एन.ए. टेस्ट नहीं आता। ऐसा प्रतीत होता है कि दलित समाज में व्यभिचार और जारकर्म होने के बाद सोचने वाले मस्तिष्कों में केवल ये दोनों स्थाई रूप से अपना स्थान बना चुके हैं।

यह उपयुक्त समय है जब लोकतांत्रिक और प्रगतिशील मूल्यों में विश्वास करने वालों को, जाति तोड़ने तथा अन्तर्जातीय विवाह करने की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। किन्तु विडंबना यह है कि आज भी हमारा शिक्षित समाज जातिगत मानसिकता को मजबूत करने के प्रयासों में संलग्न है। जिसका गहरा प्रभाव अशिक्षित समाज पर भी देखा जा सकता है। यह समाज आज भी अन्तर्जातीय विवाह के सम्बन्ध में सोचने या उसे मान्यता देने के लिए तैयार नहीं है।

लगता तो यही है कि दलितों के सन्दर्भ में आज जो लोग व्यभिचार-सदाचार का मुद्दा उठाते हैं, उनका उद्देश्य दलित आंदोलन के मुख्य मुद्दों से ध्यान हटाकर उसकी तीव्रता को कम करने या उसे कमजोर करने के लिए है। अन्यथा आज अचानक ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ निर्मित हुई कि व्यभिचार या सदाचार का मुद्दा उठाने की आवश्यकता महसूस की गई। सच्चाई तो यह है कि पिछले समय की तुलना में आज दलित वर्ग अपेक्षाकृत अधिक जागरूक और चेतना संपन्न हुआ है। वह अपना भला-बुरा, अपनी नैतिकताएँ तथा सदाचार के संबंध में स्वयं सोच सकता है।

आज यदि कोई इस बात पर विचार करे कि डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर एक महान भूल की थी, तो यह निहायत हास्यास्पद बात होगी। डॉ. अम्बेडकर अपने समय के महान विचारक और संविधान निर्माताओं में से एक हैं। उनके संबंध में आज इस तरह के प्रश्न उठाना बेमानी है। नैतिकता सदैव समाज

विरोधी होती है और उसे केवल देह अथवा यौन के दायरे तक सीमित करके देखना एकांगी, मनुवादी तथा तालिबानी दृष्टिकोण है। साहित्यिक मंच पर व्यक्तिगत चारित्रिक आरोप लगाने और गाली-गलौज करने की परंपरा को सही नहीं कहा जा सकता। यदि कोई ऐसा करता है तो उसका कड़ा प्रतिरोध किया जाना चाहिए। इस बात की कतई चिंता नहीं की जानी चाहिए कि आरोप-प्रत्यारोप लगाने वाला कौन है। लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास करने वाला कोई भी बुद्धिजीवी, इस तरह की टुच्ची हरकत को पसंद नहीं करेगा। यदि कोई लेखक अपनी किसी बात को कहना चाहता है तो इसकी स्वस्थ परंपरा यह है कि वह तर्कपूर्ण ढंग से प्रमाण सहित अपनी बात रखे न कि चारित्रिक आरोप-प्रत्यारोप लेगा कर या गाली-गलौज द्वारा।

‘भारतीय लेखक’ के संस्मरण विशेषांक में प्रेमचंद के संबंध में अमृतराय ने आज के साहित्यकारों के संबंध में लिखा है “मगर आज तस्वीर कुछ और है। आज अपने साहित्यकारों की जमात में जिधर भी नजर दौड़ाता हूँ, उधर मुझको असली चेहरे कम, मुखौटे ज्यादा नजर आते हैं। कुछ ऐसा मालूम होता है जैसे हर आदमी अपनी दुकान जमाने में लगा हुआ है और फिक्र में है कि कैसे उसी की दुकान सबसे ज्यादा धड़ल्ले से चल निकले। लिहाजा फिर उसी तरह अपनी-अपनी इशतहारबाजी होती है और मान-मनौवल, चिरौरी-विनती करके अपने ऊपर लेख लिखवाए जाते हैं। खुद ही अपने ऊपर लेख लिख कर दूसरे के नाम से छपवा दिये जाते हैं या एक ही लेखक अपने एक नाम से अपने दूसरे नाम की प्रशस्ति गाता चलता है। उसी तरह फिर लेखकों की अपनी-अपनी टोलियाँ बनती हैं जिनमें एक आदमी महंत बन कर बैठ जाता है और अपने इर्द-गिर्द चार-छः, दस-बीस चले-चपाटियों को इकट्ठा कर लेता है और फिर लाजमी तौर पर एक टोली का दूसरी टोली से महायुद्ध होता है-..।” डॉ. धर्मवीर की हरकतें इसी तरह की लगती हैं जैसे कि वह अपनी दुकान जमाने में लगे हुए हैं। अन्यथा प्रेमचंद की 125वीं जयंती वर्ष में जबकि देश की सभी पत्रिकाएँ उनके ऊपर विशेषांक प्रकाशित कर और उन्हें साहित्य के केंद्र में लाकर बात कर रही हैं, कोई ऐसी बात नहीं कर सकता, जैसा कि डॉ. धर्मवीर ने किया। उदाहरण के लिए ‘वर्तमान साहित्य’ का जुलाई 2005 अंक देखा जा सकता है, जिसमें प्रेमचंद इस देश के एक मात्र ऐसे लेखक हैं जिनकी पुस्तकें इतनी बड़ी संख्या में बिकती हैं, जबकि वे अनूदित हैं। प्रेमचंद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त लेखक है। सम्भवतः डॉ. धर्मवीर ने इसी कारण प्रेमचंद के चरित्र तथा उनकी कहानी के पात्रों के संबंध में प्रश्न उठाना ठीक समझा ताकि इसी बहाने उनका नाम साहित्य के क्षितिज पर चमक सके। डॉ. धर्मवीर के जारकर्म के विचारों के संबंध में ‘हंस’ नवम्बर, 2005 में प्रकाशित

‘मेरी तेरी उसकी बात’ के अन्तर्गत राजेन्द्र यादव ने जो कुछ लिखा है वह पठनीय और सराहनीय है। डॉ. धर्मवीर की मान्यताओं को पढ़ कर सामान्य बुद्धि और विवेक रखने वाले व्यक्ति को हंसी तो आती ही है, साथ ही वे इस कारण दया के पात्र भी हो जाते हैं कि वे इस देश के नागरिकों को इतना मूर्ख समझते हैं, जो उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं पर विश्वास कर लेंगे।

रघुवीर : काठ की हांडी

निर्मल मिलिंद

‘प्रेमचंद : सामंत का मुंशी’ जैसी स्तरहीन पुस्तक के प्रकाशन के बाद किसी को भी लेखक धर्मवीर की भाषाई अशिष्टता और घटिया लेखन पर ज्यादा मगज खपाने की जरूरत नहीं है क्योंकि उनका साहित्य-ज्ञान, विशेषकर प्रेमचंद के संबंध में, अब सर्वविदित हो गया है।

मेरी दृष्टि में ‘युद्धरत आम आदमी’ ने उनके इलहाम, समझ और खोज की असलियत से पाठकों और बुद्धिजीवियों को रू-ब-रू कराने की जो पहल की है, इससे धर्मवीर को ही कई आलमारियों के शेल्फ तक पहुँचने में मदद मिलेगी। विदूषकों के करतब तो देखे जाते हैं मगर कोई गंभीर और वैचारिक व्यक्ति उनके पीछे-पीछे नहीं चलता। बौद्धिक व्यक्ति, वह भी अगर दलित हो, भगवान बुद्ध, महात्मा फुले और बोधिसत्व अम्बेडकर को इन्कार करता हो, तो उसकी समझ और नीयत पर संदेह करना स्वाभाविक ही है। सभी जानते हैं कि मानव मात्र के लिए इनके वचन और कार्य दिशा-दर्शक हैं। आजादी, भाईचारा और समानता के विरुद्ध तालीबानी या मनुवादी पाखंडपूर्ण नैतिकता, जो स्त्री-स्वातन्त्र्य का निषेध करती है, पर विकसित हो रहे राष्ट्र-समाज के लिए तो घातक है ही, चिन्तन के स्तर पर भी अस्वीकार्य है।

भारतीय समाज कुछ मूल्यों, आदर्शों और आपसी विश्वास पर टिका है, जिसमें ‘जारकर्म’ अथवा व्यभिचार को अस्वीकार किया गया है और इस आधार अथवा संदेह पर प्रश्न खड़े करके समाज को उस महत्वपूर्ण लक्ष्य के रास्ते से भटकाने की कौशिशें किसी प्रलापी, बददिमाग और पथभ्रान्त व्यक्ति की कुचेष्टा मानी जाएगी जो कट्टर जातिवादी और अन्यायी व्यवस्था का पक्षधर हो। वस्तुतः दलित आंदोलन के पीछे जो दृष्टि रही है उसमें जातिविहीन समाज की स्थापना, अस्मिता, आत्मसम्मान, स्वावलंबन, सामाजिक न्याय, शिक्षा, आरक्षण, वैचारिक वैज्ञानिकता, समानता, भाईचारा, अन्तर्जातीय विवाह आदि को ध्यान में रखा गया था। अन्तर्जातीय विवाह की बदौलत ही जातिप्रथा पर चोट की जा सकती है। ‘नैतिकता’ का परिप्रेक्ष्य बड़ा होता है, जबकि यौन या देह का दायरा संकुचित।

नैतिकता को बड़े दायरे में देखा-समझा जाना चाहिए।

तथागत बुद्धत्व प्राप्ति के बाद क्षत्रिय नहीं रह गए थे और उन्होंने ही अपनी करुणा के दायरे में सारे लोगों को समेटा था, जिसमें जाति और वर्णव्यवस्था निःशेष हो गयी थी। वे मानते थे कि जाति-व्यवस्था अन्याय और पक्षपात का समर्थन करती है, इसलिए इसका टूटना कल्याणकारी है।

साहित्यिक मंचों पर व्यक्तिगत आरोप लगाने और गाली-गलौच करने की गलत परंपरा शुरू किया जाना अनुचित है। ऐसी कुत्सित परंपरा भारतीय साहित्य मंच पर नहीं रही है। यह सच है कि बहुत पहले से शास्त्रार्थ और हास-परिहास-उपहास तथा चुटकी लेने की परंपरा है, पर कुछ लोग न तो देख-पढ़ कर सीख सकते हैं, न किसी के सिखाने से। डॉ. धर्मवीर स्वयं सीख जाएँ तो अच्छा, नहीं तो लोग उनको व्यवहार-बर्ताव सिखा देंगे। काठ की हांडी बार-बार नहीं चढ़ती।

कि मिटे आपस का भेद

खुदेजा खान

अन्तर्जातीय विवाह अवश्य होने चाहिए तभी तो जातिवाद की कठोर दीवारें ढहेंगी। अन्तर्जातीय विवाह तब होंगे, जब आपस में प्रेम होगा और प्रेम तो सर्वोपरि धर्म है। समस्त जीवों एवं प्राणियों से प्रेम आपसी वैमनस्य एवं कलुष को मिटा देता है।

जब दो विभिन्न सम्प्रदायों के लोग प्रेमपाश में बंधेंगे तो साम्प्रदायिकता कम होगी। हालांकि लोग अन्तर्जातीय विवाह को इतनी आसानी से स्वीकृति नहीं देते। बहुधा बिना लड़ाई-झगड़े और पंचायत के ऐसे विवाह को मान्यता नहीं मिलती।

यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखें तब भी दो भिन्न जाति सम्प्रदाय के गुणसूत्रों के मिलन से जो सन्तति उत्पन्न होती है, उसमें कुछ-न-कुछ विलक्षण गुण अवश्य होता है।

जातिवाद की कट्टरता तोड़ने एवं आपसी भाइचारे को बढ़ाने के लिए अन्तर्जातीय विवाह मील का पत्थर साबित हो सकते हैं क्योंकि वर्तमान परिदृश्य में धार्मिक उन्माद एवं अंधविश्वास निरन्तर बढ़ता जा रहा है। जितने दंगे-फसाद धर्म व जाति के नाम पर हो रहे हैं, वे चिन्तनीय हैं। आखिर विकराल होती इस समस्या का समाधान क्या है? निःसंदेह अन्तर्जातीय विवाह। यदि इसे सामाजिक मान्यता मिल जाए तो समाज से ढेर सारी कुरीतियाँ विलुप्त हो सकती हैं।

साहित्य के क्षेत्र में कुत्सित राजनीति का कुरूप चेहरा है आरोप-प्रत्यारोप, यह भी सार्वजनिक मंच पर घोर निंदनीय कार्य है। रचनाधर्मिता व सृजनात्मकता से दूर वे ही लोग निंदा में रस लेते हैं जो साहित्य को मनोरंजन का साधन समझते हैं और जिन्हें साहित्य के वास्तविक अर्थ एवं मर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। वे परजीवी की तरह सतह पर जिंदा रहते हैं और रचनाकारों को आहत करते हैं। बेशक ऐसे लोगों का डटकर विरोध होना चाहिए। कहा भी गया है कि अन्याय करने वाले से अधिक अन्याय सहने वाला आरोपी होता है। फिर सार्वजनिक रूप से घटियापन को चुपचाप ग्राह्य करना अनुचित है। इसका खुलेआम प्रतिरोध आवश्यक है।

अब चलते हैं एक अन्य प्रश्न की ओर क्या डॉ. अम्बेडकर का 'बौद्ध धर्म' स्वीकार करना एक महान भूल थी? इसके उत्तर की मीमांसा करने के पहले हमें इस बात पर गौर करना होगा कि ऐसे क्या कारण थे कि अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया? दलित होने का दंश उन्हें अन्दर-ही-अन्दर तोड़ता जा रहा था। अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ने के लिए निम्न वर्ग में रहते हुए उन्हें जिस सबलता एवं आत्मबल की आवश्यकता थी, वह उन्हें प्राप्त नहीं हो पा रही थी। ऐसे में बौद्ध धर्म में उन्हें आत्मशक्ति, आत्मविश्वास एवं समरसता का आभास हुआ। स्वप्रेरणा से बुद्ध के धार्मिक सिद्धांतों में उन्हें, संघर्ष का मार्ग प्रशस्त होता हुआ दिखाई देने लगा। पर इस धर्म-परिवर्तन से क्या अन्तर पड़ता है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व ने तो सदा दलितों के उत्थान, विकास एवं परमार्थ के लिए कार्य किया। जिसका सर्वाधिक लाभ दलित वर्ग को हुआ, जो सर्वविदित है।

धर्म-परिवर्तन सर्वथा निजी मामला है। जब मनुष्य की भावनाएँ आहत होती हैं, वह सार्वजनिक रूप से प्रताड़ना झेलता है, ऐसे में उसके अन्दर की छटपटाहट को कौन आत्मिक बल देता है? उसे स्वयं ही अपना रास्ता खोजना पड़ता है। अगर अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकारा तो इसमें अनुचित क्या है? क्या बौद्ध धर्म बुरा है? अगर नहीं, तो इसे अपनाना भी न भूल है न बुरी बात। धर्म कोई भी हो उसके सिद्धांत सदा लोक कल्याणकारी एवं अनुकरणीय होते हैं। अतः हमें केवल अच्छाई को दृष्टिगत रखना है धर्म-परिवर्तन को नहीं।

मनुवादी धर्मवीरिय अभियान

सूरज बड़त्या

किसी भी लेखन का एक वैचारिक आधार होता है या होना चाहिए। वैचारिक आधार लेखक की पक्षधरता को तय करता है या इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि लेखकीय पक्षधरता वैचारिक आधार को भी रेखांकित करती है। बिना वैचारिक आधार या पक्षधरता के कोई भी रचनात्मक या वैचारिक कार्य नहीं हो सकता। सामाजिक गतिविधियों से लेकर राजनीतिक, साहित्यिक, आर्थिक गतिविधियों में सामाजिक सरोकार, वर्गीय चरित्र या जाति चरित्र बहुत गहरे रूप में नाभिनालबद्ध होते हैं। इन बातों को किसी भी सूरत में हम चाहकर भी इंकार नहीं कर सकते। अवसरवादी लेखन में भी उपर्युक्त बातें लम्बे समय तक नहीं छिप सकतीं।

यहाँ बात लेखन और विचार के तालिबानीकरण या फासीवादीकरण पर हो रही है। तालिबानीकरण या फासीवाद को हमें केवल लेखन तक सीमित नहीं करना चाहिए बल्कि यह राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों, वैचारिकी और आचार-व्यवहार से भी जुड़ा है। इनका सम्बन्ध किसी विशेष देशकाल से नहीं है बल्कि तालिबानीकरण मूल्यों और वैचारिकी के रूप में अनादिकाल से चली आ रही है। जबसे इंसान की उत्पत्ति हुई, इंसानी समाज बना, स्त्री-पुरुष के लोकतांत्रिक उदार रिश्ते बने, तभी से कुछ विशेष (?) लोगों को इंसानी लोकतन्त्र रास नहीं आया। इसीलिए मातृसत्ता को पितृसत्ता ने अपदस्थ करके उसे अपना गुलाम बना लिया था। ब्राह्मणवादी वैचारिकी ने श्रमण वैचारिकी (दलित श्रमिक संस्कृति) को गुलाम बनाने में ही अपनी भलाई समझी थी। मनु को इसी मातृसत्ता को ताउम्र गुलाम बनाने के लिए ही संहिता रचनी पड़ी थी। 8वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने योजनाबद्ध तरीके से बौद्ध वैचारिकी को देशनिकाला करने हेतु षडयंत्र रचा था, जिसमें वे कामयाब भी हुए थे। मध्ययुग में कबीर के बरक्स तुलसी को खड़ा करना क्या तालिबानी वैचारिकी (ब्राह्मणवादी वैचारिकी) का ही प्रयोजित कार्यक्रम नहीं था? हिन्दी साहित्य के धुरन्धर ब्राह्मणवादी आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी 'त्रिवेणी' में तो कबीर को इतिहास और साहित्य निकाला ही दे डाला था क्योंकि वे उनकी वैचारिकी में कहीं नहीं अंटते थे। वहाँ तो तुलसी विराजमान थे, सूरदास डटे हुए थे और जायसी को वे चाहकर भी हटा नहीं सकते थे जायसी उनकी

मजबूरी थे। वैचारिक तालिबानीकरण का यह आतातायी सफर नया नहीं है। इसे सकारात्मक मूल्यहंताओं के सत्ताशाही सफर के रूप में ही देखे जाने की जरूरत है।

इधर हिन्दी में दलित साहित्य के उभार ने हिन्दी साहित्य में लोकतांत्रिक मूल्यों की आबोहवा को मजबूती दी। इस लोकतांत्रिक आबोहवा में कुछ मूल्यहंता भी उभर आये हैं। इसमें सिरमौर बनकर उभरे हैं दलित प्रशासनिक आलोचक अधिकारी डॉ. धर्मवीर। बुद्ध की वैचारिकी और आंदोलन को निगलता हुआ इनका अविचारी लेखन बाबा साहब अम्बेडकर को खंडित करके, अब दलित स्त्री को अपने कायदे कानूनों के बाड़े में बांधना चाहता है। यह चाहत अगर केवल चाहत होती तो कोई बात नहीं थी क्योंकि चाहतें अस्थायी होती हैं। लेकिन डॉ. धर्मवीर की इस चाहत का कहीं न कहीं मनु की चाहत के साथ मेलमिलाप दिखता है। शंकराचार्य जैसा षड्यंत्रकारी दिमाग झलकता है और अफगानिस्तानी तालिबानों जैसा व्यवहार कई दलित-सवर्ण विचारकों की मिलीभगत को दिखाता है।

इस लेख की विषय-वस्तु केवल डॉ. धर्मवीर तक सीमित न मानी जाए क्योंकि डॉ. धर्मवीर एक व्यक्ति नहीं है बल्कि वह ऐसी वैचारिकी का पालन-पोषण कर रहे हैं, जिसमें उनके कई सवर्ण-दलित अनुयायी पैदा होंगे और हो रहे हैं। उनके समर्थन में उठ खड़े होना, तालिबानी वैचारिकी और मूल्यहंताओं के समर्थन में खड़े होने जैसा ही मानना चाहिए। डॉ. धर्मवीर में एक प्रकार का वैचारिक विचलन और भ्रामक उद्वेलन साफ दिखायी देता है। पता नहीं क्यों मेरे कुछ दलित लेखक मित्रों और विद्वान कहानीकारों को वह नहीं दिखता? अवसरवादी लेखन की कोई कसौटी तय करनी पड़े तो क्या 'विचलन' और 'भ्रामक उद्बोधन' अवसरवाद की कसौटी नहीं है? आइये ज़रा तथ्यात्मक रूप से उन विचलनों को आपके सामने पेश करें। मुझे याद पड़ता है कि 'हंस' पत्रिका में उन्होंने दलित लेखिका कौशल्या बैसन्त्री को डायनासोर औरत कहा था। अपने अन्य लेख में उन्होंने कहा था 'दलित औरतें स्वतन्त्र होते ही उच्छृंखल हो जाती हैं।' आगे उन्होंने गौतम बुद्ध पर हमला किया और कहा 'इस देश को बुद्ध की जरूरत नहीं है। वे अपने घर ही नहीं लौटे तो देश में क्या लौटेंगे, दलितों में क्या लौटेंगे...।' फिर वे बाबा साहब के बौद्ध धर्म अपनाने के निर्णय को ही खारिज करके 'दलित धर्म' या 'चमर जुलाहा' धर्म की उद्घोषणा करते हैं। वे सीना ताने मुंहजोरी करते हुए 'प्रेमचंद : सामन्त का मुंशी' में प्रेमचंद के जारकर्म की खोजबीन और खुर्दबीन करते हैं और दलित स्त्री को मनु की भाषा में ही उपदेश देने लगते हैं। यहीं वे दलित स्त्रियों की पकड़ में आ जाते हैं। दलित स्त्रियाँ अब उन्हें छोड़ने वाली नहीं है। पुस्तक के विमोचन समारोह में शायद पहली बार दलित अश्वमेधी अफसर आलोचक की नाक में नकेल डाली गई। बहुत चिंघाड़ते थे वे, उनके बहुत से श्यौराज सेनापति और 'राम' 'दास' सैनिक बचाव में आते हैं...। पर यह बचाव अभियान परास्त हो औंधे मुंह जमीन पर धड़ाम से गिर पड़ता है।

डॉ. धर्मवीर के स्त्री नैतिकता और तालिबानी विचार के समर्थन में दलित पुरुषों और गैर दलित पुरुषों की बड़ी फौज जुट जाती है, जैसे यह राम-रावण युद्ध की तरह स्त्री-पुरुष युद्ध हो। क्या यह दलित-पुरुष और दलित स्त्री की बजाए स्त्री और पुरुष के बीच सत्ता-विमर्श की लड़ाई नहीं है? लोकतान्त्रिक मातृसत्ता को अपदस्थ करने वाली अनैतिक आलोकतांत्रिक पितृसत्ता समय-समय पर मातृसत्ता को अपमानित करने से नहीं चूकती। दलित और स्त्री को नियन्त्रित करने के लिए मनु ने एक संहिता लिखी थी जो ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक मूल्यों का संविधान था। डॉ. धर्मवीर क्या उसी को आगे बढ़ाते हुए नहीं दिखायी देते? उनकी तथाकथित भविष्यवेत्ता और ऐतिहासिक दृष्टि जारसत्ता (जारकर्म) की अवधारणा को सामने रखती है। यह जारसत्ता दलित स्त्रियों के विवाहेतर संबंध या गैर दलित पुरुष से विवाह तक सीमित कर देती है। इसमें कहीं भी दलित पुरुष के आचार-व्यवहार का विश्लेषण नहीं होता। प्रेमचंद के जारकर्म की तो लेखक महज ओट लेता है। यह ओट हमें समझनी चाहिए। प्रेमचंद के उनके विश्लेषण से सहमति असहमति हो सकती है। उस पर उनका विश्लेषण एक अलग बहस की मांग करता है लेकिन दलित वैचारिकी, आन्दोलन को खारिज करने वाले इस मनुवादी धर्मवीरीय अभियान पर अब नकेल कसनी चाहिए। बुद्ध के साथ अगर असहमति होती तो कोई बात नहीं थी। बाबा साहेब के कुछ विचारों से भी असहमति होना नजरअन्दाज किया जा सकता था लेकिन इनका अपमान और खंडन किसी साजिश को इंगित करता है। असहमति और अपमान में फर्क करना हमें आना चाहिए। फिर दलित स्त्री क्या पहनेगी, क्या खायेगी, किससे शादी करेगी यह सब बताने वाले डॉ. धर्मवीर कौन होते हैं? दलित साहित्य की बाइबिल 'जूठन' को पढ़ने-लिखने वाले देश में ही नहीं विदेश में भी सभी जानते हैं कि इसके लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि हैं। लेकिन डॉ. धर्मवीर सनसनाहट भरा लेखन करने की आदत के चलते किताब लिखते हैं 'जूठन का लेखक कौन?' क्या डॉ. धर्मवीर का लेखन एक असहज और भ्रामक उद्बोधन प्रचारित करने वाला लेखन नहीं है? कहीं न कहीं कोई ग्रंथि है जो इन्हें टेलेन्ट का दुरुपयोग करने के लिए प्रेरित कर रही है।

डॉ. धर्मवीर की उसी ग्रंथि की खोज की जानी चाहिए। वर्ना 'हिन्दी की आत्मा' जैसी बेहतरीन पुस्तक लिखने वाले डॉ. धर्मवीर क्यों ऐसा दिमागी असन्तुलन वाला लेखन कर रहे हैं। वह क्यों दलित महिलाओं को दलित पुरुषों के बाड़े में बन्द रखना चाहते हैं? बुद्ध से क्यों चिढ़ते हैं? बाबा साहेब की वैचारिकी को आगे बढ़ाने की बजाए उसी से टकराना चाहते हैं। वे भटक गये हैं, जिसका उन्हें आभास नहीं है। उन्हें बैठकर आत्मचिन्तन करना चाहिए।

